All rights reserved.

॥ ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२ म० १ ।

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

अष्टादशं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादिसहितं
संस्कृते व्याकरणनिरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमधीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदासत्रिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sudra and to Aryanman.

Griffith's Trans. Atharva 19: 62 : 1

अयं ग्रन्थः पण्डित काशीनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकारयन्त्रालये मुद्रितः ।

सर्वाधिकारः स्वाधीन एव रक्षितः ।

प्रथमावृत्तौ १००० पुस्तकानि | संवत् १९७६ वि० सन् १९१९ ई० | मूल्यम् २।=)

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad) ।

॥ ओ३म् ॥

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है" ॥

आनन्दसमाचार ।

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशी विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था। इस महात्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द उपदेश, २-सस्वर मूल मन्त्र, ३-सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, एक एक काण्ड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेदप्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत्पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, शिल्पविद्या, राजविद्यादि अनेक क्रियाओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और काग़ज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
मूल्य	१।)	१।-)	१॥-)	२)	१॥=)	३)	२।)	२)	२।)	२॥)	२।)

काण्ड	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	मन्त्र सूची	पद सूची	पृष्ठ ३,८५० लगभग
मूल्य	२=)	१।≡)	१।)	१-)	॥-)	।≡)	२।=)					३१॥)

काण्ड—१९ छप रहा है। कांड २० शीघ्र प्रकाशित होगा।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वर स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंग्रेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४ मूल्य)॥

वेदविद्यायें—वेदों में विमान, नौका अस्त्र शस्त्र निर्माण, व्यापार, गृहस्थ, अतिथि सभा, ब्रह्मचर्यादि का वर्णन मूल्य -)॥

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी
५२, लूकरगंज, प्रयाग। (Allahabad).

१५ जून १९१९।

Onkar Press Allahabad.

910/44
Library Acc. No. 362
Date of Receipt 3.2.3

१—सूक्तविवरण अथर्ववेद काण्ड १८ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पाद	देवता	उपदेश	छन्द
	सूक्तम् १ ॥			
मन्त्राः १-१६	ओ चित् सखायं सख्या	यमयमी	भाईबहिन के परस्पर विवाह का निषेध	त्रिष्टुप् आदि
„ १७-२६	त्रीणि च्छन्दांसि कवयो	अग्नि	विद्वानों के कर्तव्य	आर्षी त्रिष्टुप् आदि
„ २७-३६	अन्वग्निरुषसामग्र	अग्नि	परमात्मा के गुण	निचृत्त्रिष्टुप् आदि
„ ३७, ३८	सखाय आ शिषामहे	इन्द्र	राजा का चुनाव	निचृदुष्णिक् आदि
„ ३९	स्तेगो न क्षामत्येषि	मित्र	राजा का कर्तव्य	निचृदार्षी त्रिष्टुप्
„ ४०	स्तुहि श्रुतं गर्तसदं	रुद्र	राजा का कर्तव्य	निचृत् त्रिष्टुप्
„ ४१-४३	सरस्वतींदेवयन्तो हवन्ते	सरस्वती	सरस्वतीकाआवाहन	निचृत् त्रिष्टुप् आदि
„ ४४-४६	उदीरतामवर उत्परास	पितर	पितरों के सत्कार	निचृत् त्रिष्टुप् आदि
„ ४७	मातली कव्यैर्यमो	पितर	पितरों के कर्तव्य	त्रिष्टुप् छन्दः
„ ४८	स्वादुष्किलायं मधुमां	सोम	शूरवीर के लक्षण	त्रिष्टुप् छन्दः
„ ४९, ५०	परेयिवासं प्रवतो मही	यम	परमात्मा की शक्ति	भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
„ ५१, ५२	बर्हिषदः पितर ऊत्य	पितर	पितरों और सन्तानों के कर्तव्य	विराडार्षी आदि
„ ५३	त्वष्टा दुहित्रे वहतुं	त्वष्टा	अज्ञान का नाश	त्रिष्टुप्
„ ५४, ५५	प्रेहि प्रेहि पथिभिः	पितर	मनुष्य की उन्नति	निचृत् त्रिष्टुप्
„ ५६, ५७	उशन्तस्त्वेधीमह्यु	पितर	पितरों और सन्तानों के कर्तव्य	अनुष्टुप्
„ ५८-६१	अङ्गिरसो नः पितरो	पितर	तथा	निचृत् त्रिष्टुप् आदि
	सूक्तम् २ ॥			
मन्त्राः १-३	यमाय सोमः पवते	यम	ईश्वर की भक्ति	अनुष्टुप् आदि
„ ४-१०	मैनमग्ने विदहो माभि	अग्नि	आचार्य और ब्रह्मचारी के कर्तव्य	निचृज् जगती आदि
„ ११-१३	अति द्रव श्वानौ	श्वान	समय के सुप्रयोग	त्रिष्टुप् आदि
„ १४-१८	सोम एकेभ्य पवते	यम	विद्वानों का सत्संग	अनुष्टुप्
„ १९-२०	स्योनास्मै भव पृथिव्य	पृथिवी	पृथिवी की विद्या	गायत्री आदि
„ २१-३०	ह्वयामि ते मनसा मन	पितर	मनुष्यों का पितरों के साथ कर्तव्य	भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
„ ३१-३३	अश्वावतीं प्रतर या	प्रजापति	ईश्वर के गुण	निचृत् त्रिष्टुप् आदि
„ ३४,३५	ये निखाता ये परोप्ता ये	पितर	पितरों के सत्कार	अनुष्टुप् आदि
„ ३६	शं तप माति तपो अग्ने	अग्नि	बल बढ़ाना	आर्ष्यनुष्टुप्

सूक्त	सूक्त के प्रथम पाद	देवता	उपदेश	छन्द
” ३७	ददाम्यस्मा अवसान	यम	परमात्मा की आज्ञा पालना	विराड् जगती
” ३८-४५	इमां मात्रां मिमीमहे	प्रजापति	मोक्ष के लिये प्रयत्न	गायत्री आदि
” ४६-४९	प्राणो अपानो व्यान	पितर	पितरों के गुण	भुरिगनुष्टुप् आदि
” ५०-५२	इदमिद् वा उ नापरं	भूमि	परमात्मा की उपासना	अनुष्टुप् आदि
” ५३-५५	अग्नीषोमा पथिकृता	पूषा	सत्पुरुषोंकेमार्गपर चलना	भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
” ५६	इमौ युनज्मि ते वह्नी	परमात्मा	पुरुषार्थ करना	अनुष्टुप्
” ५७-६०	एतत् त्वा वासः प्रथमं	जीवात्मा	सुकर्म करना	भुरिक्त्रिष्टुप् आदि

सूक्तम् ३ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पाद	देवता	उपदेश	छन्द
मन्त्राः १-४	इयं नारी पतिलोकं	नारी	नियोग विधान	त्रिष्टुप् आदि
” ५-९	उपद्यामुप वेतस	अग्नि	उन्नति करना	निचृद्गायत्री आदि
” १०-२४	वर्चसा मां पितरः	पितर	पितरों के कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
” २५-२९	इन्द्रो मा मरुत्वान्	प्रजापति	सब दिशाओं में रक्षा	निचृदार्षी जगती आदि
” ३०-३७	प्राच्यां त्वा दिशि	ईश्वर	सर्वत्र परमेश्वर है	अतिजगती आदि
” ३८-४१	इतश्चमामुतश्चावतां	स्त्री पुरुष	मनुष्यों के कर्त्तव्य	विराट्त्रिष्टुप्आदि
” ४२-४८	त्वमग्न ईडितो जात	पितर	पितरों और सन्तानों के कर्त्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
” ४९-५२	उप सर्प मातरं	पृथिवी	पृथिवी के उपकार	भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
” ५३-६०	इममग्ने चमसं मा	अग्नि	घर की रक्षा	आर्षी त्रिष्टुप् आदि
५५	यत् ते कृष्णः शकुन	अग्नि	विष औषध अग्नि	त्रिष्टुप्
” ६१-६४	विवस्वान् नो अभयं	यम	अभय पाना	त्रिष्टुप् आदि
” ६५-६७	प्रकेतुनाबृहताभात्य	अग्नि, इन्द्र	राजा के कर्त्तव्य	अनुष्टुप् आदि
” ६८-७३	अपूपापिहितान्	प्रजापति	गृहाश्रम के कर्त्तव्य	त्रिष्टुप् आदि

सूक्तम् ४ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पाद	देवता	उपदेश	छन्द
मन्त्राः १-१५	आ रोहत जनित्रीं	प्रजापति	सत्यमार्गपर चलना	भुरिगार्षी त्रिष्टुप् आदि
” १६-२७	अपूपवान् क्षीरवांश्च	यज्ञ	यजमान के कर्तव्य	भुरिगार्षी बृहती आदि
” २८,२९	द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवी	ईश्वर	ब्रह्म की उपासना	त्रिष्टुप् आदि
” ३०-४०	कोशं दुहन्ति कलशं	धेनु	गोरक्षा	त्रिष्टुप् आदि
” ४१-४४	समिन्धते अमर्त्यं	पितर	पितरों की सेवा	अनुष्टुप् आदि

सूक्त	सूक्त के प्रथम पाद	देवता	उपदेश	छन्द
" ४५-४७	सरस्वतीं देवयन्तो	सरस्वती	सरस्वतीकाआवाहन	निचृत् त्रिष्टुप्
" ४८-५२	पृथिवीं त्वा पृथिव्या	पितर	पितरों और सन्तानों के कर्त्तव्य	भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
" ५३-५४	पर्णो राजापिधानं	परमेश्वर	परमात्मा की भक्ति के फल	आर्षी पङ्क्ति आदि
" ५५-५७	यथा यमाय हर्म्यं	जीव	मनुष्य को वृद्धि करना	अनुष्टुप् आदि
" ५८-६०	वृषा मतीनां पवते	परमेश्वर	ईश्वर की उपासना	जगती आदि
" ६१-६८	अक्षन्नमीमदन्त	पितर	पितरों के सत्कार	अनुष्टुप् आदि
" ६९-७०	उदुत्तमं वरुण	वरुण	ईश्वर के नियम	त्रिष्टुप्
" ७१-८७	अग्नये कव्यवाहनाय	पितर	पितरों के सन्मान	आसुर्यनुष्टुप् आदि
" ८८	आ त्वाग्न इधीमहि	अग्नि	परमात्मा की उपासना	स्वराडार्षी बृहती
" ८९	चन्द्रमा अप्स्व १न्तरा	विश्वेदेवा	सूर्यचन्द्र आदि विषय	निचृदार्षी पङ्क्तिः

२—अथर्ववेद काण्ड १८ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १८) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक उत्तरार्चिक इत्यादि
१—५	ओचित् सखायं सख्या	१ । १-५	१० । १० । १—५		
६	को अद्य युङ्क्ते धुरि	१ । ६	१ । ८४ । १६		
७—१२	को अस्य वेद प्रथमस्या	१ । ७-१२	१० । १०।६—११		
१३	न ते नाथं यम्यत्राह	१ । १३	१० । १० । १२		
१४	न वा उ ते तनूं	१ । १४	१० । १० । १२		
१५,१६	बतो बतासि यम	१ । १५,१६	१०।१०।१३,१४		
१७—२३	वृषा वृष्णे दुदुहे	१ । १८-२४	१० । ११ । १—७		
२४	श्रुधी नो अग्ने सदने	१ । २५	१० । ११ । ८		
२५	यदग्न एषा समिति	१ । २६	१० । ११ । ८		
२६	अन्वग्निरुषसा	१ । २७	४ । १३ । १		
२७,२८	द्यावा ह क्षामा	१ । २९,३०	१० । १२ । १,२		
२९	अर्चामि वां वर्धय	१ । ३१	१० । १२ । ४		
३०	स्वावृग् देवस्या	१ । ३२	१० । १२ । ३		
३१—३४	किंस्विन्नो राजा	१ । ३३-३६	१० । १२।५—८		
३५	सखाय आ शिषामहे	१ । ३७	८ । २४ । १		पू०४।१।१०

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १८) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक उत्तरार्चिक इत्यादि
३६	शवसा ह्यसि श्रुतो	१ । ३८	८ । २४ । २		
३७	स्तेगो न क्षामत्येषि	१ । ३९	१० । ३१ । ९		
३८	स्तुहि श्रुतं गर्तसदं	१ । ४०	२ । ३३ । ११		
३९-४१	सरस्वतीं देवयन्तो	१ । ४१-४३	१० । १७ । ७-९	१९ । ४६, ५६, ६८ }	
४२-४४	उदीरतामवर उत्परास	१ । ४४-४६	१० ।१५।१,३,२		
४५	मातली कव्यैर्यमो	१ । ४७	१० । १४ । ३		
४६	स्वादुष्किलायं	१ । ४८	६ । ४७ । १		
४७, ४८	परेयिवांसं प्रवतो	१ । ४९, ५०	१० । १४ । १,२		
४९, ५०	बर्हिषदः पितर	१ । ५१, ५२	१० । १५ । ४, ६	१९।५५,६२	
५१	त्वष्टा दुहित्रे वहतुं	१ । ५३	१० । १७ । १		
५२	प्रेहि प्रेहि पथिभिः	१ । ५४	१० । १४ । ७		
५३	अपेत वीत वि च	१ । ५५	१० । १४ । ९	१२ । ४५	
५४	उशन्तस्त्वेधी मह्य	१ । ५६	१० । १६ । १२	१९ । ७०	
५५	अङ्गिरसो नः पितरो	१ । ५८	१० । १४ । ६	१९ । ५०	
५६,५७	अङ्गिरोभिर्यज्ञियै	१ । ५९, ६०	१० । १४ । ५, ४		
५८	इत एत उदारुहन्	१ । ६१			पू०१।१०।२
५९-६१	यमाय सोमः पवते	२ । १-३	१०।१४।१३,१५,१४		
६२,६३	मैनमग्ने विदहो	२ । ४, ५	१० । १६ । १, २		
६४	त्रिकद्रुकेभिः पवते	२। ६	१० । १४ । १६		
६५,६६	सूर्यं चक्षुषा गच्छ	२ । ७, ८	१० । १६ । ३, ४		
६७	अव सृज पुनरग्ने	२ । १०	१० । १६ । ५		
६८-७०	अति द्रव श्वानौ	२ । ११-१३	१० । १४ । १०-१२		
७१-७५	सोम एकेभ्यः पवते	२ । १४-१८	१०।१५४।१,४,२,३,५		
७६	स्योनास्मै भवपृथि	२ । १९	१। २२ । १५	३५ । २१	
७७	ह्वयामि ते मनसा	२ । २१	१० । १४ । ८		
७८	ये दस्यवः पितृषु	२ । २८		२ । ३०	
७९	अपागूहन्नमृतां	२ । ३३	१० । १७ । २		
८०	ये अग्निदग्धा	२ । ३५	१० । १५ । १४,१३	१९ । ७,६७	
८१	इदमिद्वा उ नापरं	२ । ५०	१० । १८ । ११		
८२,८३	पूषा त्वेतश्च्यावयतु	२ । ५४, ५५	१० । १७ । ३, ४		
८४	अग्नेर्वर्म परिगोभि	२ । ५८	१० । १६ । ७		
८५,८६	दण्डं हस्तादाददानो	२ । ५९, ६०	१० । १८ । ९		
८७	उदीर्ष्व नार्यभि	३ । २	१० । १८ । ८		

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १८) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
८८	उपद्यामुप वेतस	३ । ५		१७ । ६	
८९	यं त्वमग्ने समदह	३ । ६	१० । १६ । १३		
९०	इदंत एकं पर उत	३ । ७	१० । ५६ । १		पू०।१।७।३
९१	अञ्जते व्यञ्जते	३ । १८	९ । ८६ । ४३	१९ । ९९	पू०।६।७।११ उ०।७।३।२१
९२–९४	अधा यथा नः पितरः	३ । २१–२३	४ । २ । १६—१८		
९५	अकर्म ते स्वपसो	३ । २४	४ । २ । १९, २ । २३ । १९	३४ । ५८	
९६	इतश्च मामुतश्चावतां	३ । ३८	१० । १३ । २		
९७	स्वासस्थेभवतमिन्द	३ । ३९	१० । १३ । १,२	११ । ५	
९८,९९	त्रीणि पदानिरुपो	३ । ४०,४१	१० । १३ । ३,४		
१००	त्वमग्न ईडितो जात	३ । ४२	१० । १५ । १२	१९ । ६६	
१०१	आसीनासो अरुणीना	३ । ४३	१० । १५ । ७	१९ । ६३	
१०२	अग्निष्वात्ताः पितर	३ । ४४	१० । १५ । ११	१९ । ५९	
१०३	उपहूता नः पितरः	३ । ४५	१० । १५ । ५	१९ । ५७	
१०४	ये नः पितुः पितरो ये	३ । ४६	१० । १५ । ८	१९ । ५१	
१०५,१०६	ये तातृषुर्देवत्रा	३ । ४७, ४८	१० । १५ । ९,१०		
१०७–११०	उप सर्प मातरं भूमि	३ । ४९–५२	१० । १८ । १०-१३		
१११	इममग्ने चमसं मा	३ । ५३	१० । १६ । ८		
११२	यत् ते कृष्णः शकुन	३ । ५५	१० । १६ । ६		
११३	पयस्वतीरोषधय	३ । ५६	१० । १७ । १४		
११४	इमा नारीरविधवाः	३ । ५७	१० । १८ । ७		
११५	सं गच्छस्व पितृभिः	३ । ५८	१० । १४ । ८		
११६	ये नः पितुः पितरो	३ । ५९	१० । १५ । १४	१९ । ६०	
११७	शं ते नीहारो भवतु	३ । ६०	१० । १६ । १४		
११८	आ रोहत दिवमुत्त	३ । ६४	...	२० । २१	
११९	प्र केतुना बृहता	३ । ६५	१० । ८ । १ ६ । ७३ । १	...	पू०।१।७।९
१२०	नाके सुपर्णमुप यत	३ । ६६	१० । १२३ । ५	...	पू०४ । ३।८ उ०९।२।१३
१२१	इन्द्र क्रतुं न आ भर	३ । ६७	७ । ३२ । २६	...	पू० ३।७ ।७ उ० ६।३ ।६
१२२	अयः सुपर्णा उपरस्य	४ । ४	१ । १६४ । २०		
१२३	अग्निर्होताध्वयुष्टे	४ । १५	१० । ७१ । ११		

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १८) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१२४	द्रप्सश्चस्कन्द	४ । २८	१० । १७ । ११	१३ । ५	
१२५	शतधारं वायुमर्कं	४ । २९	१० । १०७ । ४		
१२६	कोशं दुहन्ति कलशं	४ । ३०		१३ । ४९	
१२७	सहस्रधारं शतधार	४ । ३६		१३ । ४९	
१२८	वृषा मतीनां पवते	४ । ५८	९ । ८६ । १९	...	पू० ६।७।६ उ०२।१।१७
१२९	त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु	४ । ५९	६ । २ । ६		पू०१।९। ३
१३०	प्र वा एतीन्दुरिन्द्र	४ । ६०	९ । ८६ । १६	...	पू०६।७।४ उ०४।२।७
१३१	अक्षन्नमीमदन्त	४ । ६१	१ । ८२ । २	३ । ५१	पू०५।३। ७
१३२	अभूद् दूतः प्रहितो	४ । ६५	४ । ५४ । १	५ । २६	
१३३	शुम्भन्तां लोकाः	४ । ६७		२ । २९	
१३४,१३५	अग्नये कव्यवाह	४ । ७१, ७२		९ । २	
१३६-१३८	स्वधा पितृभ्य	४ । ७८-८०		२ । ३२	
१३९-१४३	नमो व पितर ऊर्जे	४ । ८१-८५			
१४४	आत्वाग्न इधीमहि	४ । ८८	५ । ६ । ४	...	पू०५।४।१ उ०३।२।२१
१४५	चन्द्रमा अप्स्वन्त	४ । ८९	१ । १०५ । १	३३ । ९०	पू०५।३।९

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

अष्टादशं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ [मन्त्राः १-६१] ॥

मन्त्राः १-१६ ॥

यमयम्यौ देवते ॥ १, ५, ६—११ त्रिष्टुप्; २ विराट् त्रिष्टुप्; ३, ४, ६, १७, १२, १३ निचृत् त्रिष्टुप्; ८ विराट् छन्दः; १४ भुरिक् त्रिष्टुप्; १५ आर्षी पङ्क्तिः; १६ विराडार्षी त्रिष्टुप् ॥

भ्रातृभगिनीपरस्परविवाहनिषेधोपदेशः—भाई बहिन के परस्पर विवाह के निषेध का उपदेश ॥

ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्। पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥ १ ॥

ओ इति। चित्। सखायम्। सख्या। ववृत्याम्। तिरः। पुरु। चित्। अर्णवम्। जगन्वान् ॥ पितुः। नपातम्। आ। दधीत। वेधाः। अधि। क्षमि। प्र-तरम्। दीध्यानः ॥ १

भावार्थ—(ओ) ओ ! [हे पुरुष !] (सखायम्) [तुझ] मित्र

१—(ओ) सम्बोधने (चित्) एव (सखायम्) सुहृदम् (सख्या)

को (चित्) ही (सख्या) मित्रता के साथ (ववृत्याम्) मैं [स्त्री] प्रवृत करूं-(पुरु चित्) बहुत ही प्रकार से (अर्णवम्) विज्ञान युक्त शास्त्र को (तिरः जगन्वान्) पार जा चुकने वाले, (प्रतरम्) बहुत अधिक (दीध्यानः) प्रकाशमान, (वेधाः) बुद्धिमान् आप (पितुः) [अपने] पिता के (नपातम्) नाती [पौत्र] को (क्षमि अधि) पृथिवी पर (आ दधीत) धारण करें ॥ १ ॥

भावार्थ—यह मन्त्र स्त्री का वचन है। हम दोनों बड़े प्रेमी हैं, तू वेद आदि शास्त्रों का जानने वाला बुद्धिमान् पुरुष है, ऐसा प्रयत्न किया जावे कि हम दोनों के सम्बन्ध से उत्तम सन्तान उत्पन्न हो ॥ १ ॥

इस सूक्त के मन्त्र १–१६ में यमीयम अर्थात् जोड़िया बहिन और भाई को संवाद वा प्रश्न उत्तर की रीति से यह बताया है कि वे दोनों बहिन भाई होकर परस्पर विवाह कभी न करें, किन्तु बहिन भाई से अन्य पुरुष के साथ और भाई बहिन से दूसरी स्त्री के साथ विवाह करे ॥

मन्त्र १—५। अभेद वा भेद से ऋग्वेद में हैं—१०। १०। १—५॥

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति। महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् २

न। ते। सखा। सख्यम्। वष्टि। एतत्। स-लक्ष्मा। यत्। विषु-रूपा। भवाति॥ महः। पुत्रासः। असुरस्य। वीराः। दिवः। धर्तारः। उर्विया। परि। ख्यन्॥ २॥

सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेराकारः। सख्येन। मित्रत्वेन (ववृत्याम्) वृतु वर्तने—लिङ्, शपः श्लुः। प्रवर्तयेयम् (तिरः) पारे (पुरु) बहुप्रकारेण (चित्) एव (अर्णवम्) अर्णवं विज्ञानम्–दयानन्दभाष्ये, यजु० १२। ४९। धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३। ६। ऋ गतिप्रापणयोः—नप्रत्ययः, ततो मत्वर्थीयो वः। विज्ञानयुक्तं शास्त्रम् (जगन्वान्) गमेर्लिटः क्वसुः। गतवान् (पितुः) स्वजनकस्य (नपातम्) नप्तारं पौत्रम् (आदधीत) आदध्यात्। समन्ताद् धारयतु (वेधाः) मेधाविनाम–निघ० ३। १५। मेधावी भवान् (क्षमि अधि) भूमेरुपरि (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (दीध्यानः) दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः—शानच्। दीप्यमानः ॥

भाषार्थ—(सखा) [यह] प्रेमी (ते) तेरी (एतत्) यह (सख्यम्) प्रीति (न) नहीं (वष्टि) चाहता है—(यत्) कि (सलक्ष्मा) समान [धार्मिक] लक्षण वाली [आप] (विषुरूपा) नाना स्वभाव वाली [चंचल अधार्मिक] (भवाति) हो जावें। (महः) महान् (असुरस्य) बुद्धिमान् पुरुष के (दिवः) व्यवहार के (धर्तारः) धारण करने वाले, (वीराः) वीर (पुत्रासः) पुत्र (उर्विया) भूमि पर (परि ख्यन्) विख्यात हुये हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—यह मन्त्र पुरुष का उत्तर है। हे स्त्री ! तू जो मुझ से पुत्र की कामना करती है सो उचित नहीं, हम दोनों धर्मात्मा होकर अधर्म न करें—क्योंकि बड़े कुल में उत्पन्न व्यवहारकुशल धर्मात्मा वीर ही संसार में कीर्तिमान् होते हैं ॥ २ ॥

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य ।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्वमा विविश्याः ॥३॥

उशन्ति । घ । ते । अमृतासः । एतत् । एकस्य । चित् । त्यजसम् । मर्त्यस्य ॥ नि । ते । मनः । मनसि । धायि । अस्मे इति । जन्युः । पतिः । तन्वम् । आ । विविश्याः ॥३॥

भाषार्थ—(ते) वे (अमृतासः) अमर [यशस्वी] लोग (घ) अवश्य (एतत्) इस प्रकार से (एकस्य) एक [अद्वितीय, अति श्रेष्ठ] (मर्त्यस्य)

२—(न) निषेधे (ते) तव (सखा) प्रियः (सख्यम्) प्रीतिम् (वष्टि) कामयते (एतत्) (सलक्ष्मा) समानलक्षणा । धर्मशीला (यत्) यतः (विषुरूपा) नानास्वभावा । चञ्चला । अधार्मिका (भवाति) भवेत् (महः) महतः (पुत्रासः) पुत्राः (असुरस्य) असुः प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ९, रो मत्वर्थीयः । प्रज्ञावतः पुरुषस्य (वीराः) विक्रान्ताः (दिवः) व्यवहारस्य (धर्तारः) धारकाः (उर्विया) इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् । वा० पा० ७ । १ । ३९ । उर्वी-डियाच् । उर्व्यां भूमौ (परि ख्यन्) ख्या प्रकथने, प्रसिद्धौ—लुङ्, अडभावः । विख्याता अभूवन् ॥

३—(उशन्ति) कामयन्ते (घ) प्रसिद्धौ (ते) प्रसिद्धाः (अमृतासः) अमराः । यशस्विनः (एतत्) अनेन प्रकारेण (एकस्य) अद्वितीयस्य । अतिश्रेष्ठस्य (चित्)

मनुष्य के (चित्) ही (त्यजलम्) सन्तान की (उशन्ति) कामना करते हैं। (ते मनः) तेरा मन (अस्मे) हमारे (मनसि) मन में (नि धायि) जमाया जावे, और (जन्युः) उत्पन्न करने वाला (पतिः) पति [होकर] (तन्वम्) [मेरे] शरीर में (आ विविश्याः) प्रवेश कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—स्त्री का वचन है। महात्मा लोग मानते है कि अद्वितीय वीर पुरुष का सन्तान अद्वितीय वीर होता है, इस लिये तू श्रेष्ठ होकर मेरे साथ विवाह करके श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न कर ॥ ३ ॥

न यत् पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥ ४

न। यत्। पुरा। चकृम। कत्। ह। नूनम्। ऋतम्। वदन्तः। अनृतम्। रपेम ॥ गन्धर्वः। अप्-सु। अप्या। च। योषा। सा। नौ। नाभिः। परमम्। जामि। तत्। नौ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो [कर्म] (पुरा) पहिले (न चकृम) हम ने नहीं किया, (कत्) कैसे (ह) निश्चय करके (नूनम्) अब (ऋतम्) सत्य (वदन्तः) बोलते हुये हम (अनृतम्) असत्य (रपेम) बोलें। [जैसे] (अप्सु) सत्कर्मों में (गन्धर्वः) दृष्टि रखने वाला पुरुष (च) और (अप्या) सत्कर्मों में प्रसिद्ध (योषा) सेवा करने वाली स्त्री [होवे], (सा) वही (नौ)

एव (त्यजसम्) त्यज हानौ दाने च—असुन्। सन्तानम् (मर्त्यस्य) मनुष्यस्य (नि) निश्चयेन। नियमेन (ते) तव (मनः) चित्तम् (मनसि) चित्ते (धायि) धीयताम् (अस्मे) अस्माकम् (जन्युः) भुजिमृङ्भ्यां युक्त्यकौ। उ० ३। २१। जन जनने-युक्। जनयिता (पतिः) त्वं पतिः सन् (तन्वम्) मम तनूं शरीरम् (आ विविश्याः) विश प्रवेशने—लिङ्, शपःश्लुः। प्रविश ॥

४—(न) निषेधे (यत्) यस्मात् कारणात् (पुरा) पूर्वकाले (चकृम) वयं कृतवन्तः (कत्) कथम् (ह) निश्चयेन (नूनम्) इदानीम् (ऋतम्) सत्यम् (वदन्तः) कथयन्तः (अनृतम्) असत्यम् (रपेम) कथयेम (गन्धर्वः) गां दृष्टिं धरतीति यः सः (अप्सु) सत्कर्मसु (अप्या) अप्यः, अप्सु सत्कर्मसु भवः-दयानन्दभाष्ये, ऋग्० ६। ६७। ९। सत्कर्मसु प्रसिद्धा (च) (योषा)

हम दोनों की (नाभिः) बन्धुता, और (तत्) वह (नौ) हम दोनों का (परमम्) सब से बड़ा (जामि) सम्बन्ध [होवे] ॥ ४ ॥

भावार्थ—पुरुष का वचन है। तू कहती है-श्रेष्ठ पुरुष का सन्तान श्रेष्ठ होता है, परन्तु मैं मर्यादा तोड़कर असत्य कभी नहीं बोलूंगा। स्त्री पुरुष सदा सत्कर्म करें, यही दोनों में परस्पर बड़े स्नेह का कारण है ॥ ४ ॥

गर्भे नु नौ जनिता दंपती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः। नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ५

गर्भे। नु। नौ। जनिता। दंपती इति दम्-पती। कः। देवः। त्वष्टा। सविता। विश्व-रूपः॥ नकिः। अस्य। प्र। मिनन्ति। व्रतानि। वेद। नौ। अस्य। पृथिवी। उत। द्यौः५

भाषार्थ—(जनिता) उत्पन्न करने वाले, (देवः) प्रकाशमान, (त्वष्टा) बनाने वाले, (सविता) प्रेरक, (विश्वरूपः) सब के रूप देने वाले परमेश्वर ने (गर्भे) गर्भ में (नु) ही (नौ) हम दोनों को (दम्पती) पति पत्नी (कः) बनाया है। (अस्य) इस [परमेश्वर] के (व्रतानि) नियमों को (नकिः प्र मिनन्ति) कोई भी नहीं तोड़ सकते, (नौ) हम दोनों के लिये (अस्य) इस [बात] को (पृथिवी) पृथिवी (उत) और भी (द्यौः) सूर्य (वेद) जानता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—स्त्री का वचन। परमात्मा ने अपने अटल नियम से माता के गर्भ में ही हम दोनों को एक साथ जोड़िया उत्पन्न करके पति पत्नी बनाया है,

---

युष भजने-अच्, टाप्। सेवाशीला स्त्री (सा) (नौ) आवयोः (नाभिः) बन्धुता (परमम्) निरतिशयम् (जामि) वसिवपियजि०। उ० ४। १२५। जमु अदने—इञ्। सम्बन्धः (तत्) (नौ) आवयोः ॥

५—(गर्भे) गर्भाशये (नु) निश्चयेन (नौ) आवाम् (जनिता) उत्पादकः (दम्पती) जायापती। पतिपत्न्यौ (कः) करोतेर्लुङ्। अकः। कृतवान् (देवः) प्रकाशमानः (सविता) प्रेरकः (विश्वरूपः) सर्वस्य रूपकर्ता (नकिः) न कोऽपि (अस्य) परमेश्वरस्य (प्र) (मिनन्ति) मीञ् हिंसायाम्। ह्रस्वः प्वादित्वात्। हिंसन्ति। अतिक्रामन्ति (व्रतानि) कर्माणि (वेद) जानाति (नौ) आवाभ्याम् (अस्य) इदं वचनम् (पृथिवी) (उत) अपि च (द्यौः) सूर्यः ॥

जैसे यह प्रत्यक्ष है कि सृष्टि की आदि से सूर्य और पृथिवी में पतिपत्नी भाव है क्योंकि सूर्य वृष्टि करता है पृथिवी उसे ग्रहण करके अन्न आदि उत्पन्न करती है ॥ ५ ॥

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून् । आसन्निषून् हृत्स्वसो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात् ॥ ६ ॥

कः । अद्य । युङ्क्ते । धुरि । गाः । ऋतस्य । शिमी-वतः । भामिनः । दुः-हृणायून् ॥ आसन्-इषून् । हृत्सु-असः । मयः-भून् । यः । एषाम् । भृत्याम् । ऋणधत् । सः । जीवात् ॥६॥

भाषार्थ—(कः) कर्ता [प्रजापति] परमेश्वर (अद्य) आज (ऋतस्य) सत्य के (गाः) गाने वाले, (शिमीवतः) उत्तम कर्म वाले, (भामिनः) तेजस्वी (दुर्हृणायून्) [शत्रुओं पर] भारी क्रोध वाले, (आसन्निषून्) ठीक स्थान पर वाण पहुंचाने वाले, (हृत्स्वसः) [शत्रुओं के] हृदयों में शस्त्र मारने वाले और (मयोभून्) [धर्मात्माओं को] सुख देने वाले वीरों को (धुरि) धुरी [भारी बोझ] में (युङ्क्ते) जोड़ता है, (यः) जो पुरुष (एषाम्) इन [वीरों] की (भृत्याम्) पोषण रीति को (ऋणधत्) बढ़ावेगा, (सः) वह (जीवात्) जीवेगा ॥ ६ ॥

६—(कः) करोतेर्डप्रत्ययः । कर्ता । प्रजापतिः परमेश्वरः (अद्य) अस्मिन् दिने (युङ्क्ते) योजयति (धुरि) भारे (गाः) गौः स्तोतृनाम—निघ० ३ । १६ । गायकान् (शिमीवतः) शिमी कर्मनाम—निघ० २ । १ । उत्तमकर्मयुक्तान् (भामिनः) भाम—इनि । तेजस्विनः (दुर्हृणायून्) हृणीयतेः क्रुध्यतिकर्मा—निघ० २ । १२ । हृणीङ् रोषणे लज्जायां च-उण्, कण्ड्वादित्वाद् यक्, अतो लोपे सति ईकारस्य आकारः । शत्रुषु महाक्रोधयुक्तान् (आसन्निषून्) पद्दन्नो-मास्० । पा०६।१।६३ । आसनशब्दस्य आसन् आदेशः । आसने लक्ष्ये प्राप्तवाणान् (हृत्स्वसः) अस्यतेः—क्विप् । शत्रुहृदयेषु प्रक्षिप्तशस्त्रान् (मयोभून्) सुखं भावुकान् वीरान् (यः) पुरुषः (एषाम्) वीराणाम् (भृत्याम्) पोषणरीतिम् (ऋणधत्) ऋधु वृद्धौ—लेटि अडागमः । वर्धयेत् (सः) (जीवात्) लेटि आडागमः । चिरं जीवेत् । यशस्वी भवेत् ॥

भावार्थ—पुरुष का वचन है। परमात्मा धुरन्धर धर्मात्मा वीरों पर संसार की रक्षा का भार रखता है, और वे उस नियम का यथावत् पालन करते हैं। जो मनुष्य ऐसे मर्यादा पुरुषों की नीति पर चलता है, वह संसार में यशस्वी होकर अमर होता है ॥ ६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है, १। ८४। ६। महर्षि दयानन्द ने सेनापति के योग्य कर्म में इसकी व्याख्या की है ॥

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत् ।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन् ॥७॥

कः । अस्य । वेद । प्रथमस्य । अह्नः । कः । ईम् । ददर्श । कः । इह । प्र । वोचत् ॥ बृहत् । मित्रस्य । वरुणस्य । धाम । कत् । ऊं इति । ब्रवः । आहनः । वीच्या । नॄन् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(कः) कौन [पुरुष] (अस्य) इस [जगत्] के (प्रथमस्य) पहिले (अह्नः) दिन को (वेद) जानता है (कः) किस ने (ईम्) इस [दिन] को (ददर्श) देखा है, (कः) कौन (इह) इस [विषय] में (प्र वोचत्) बोले। (मित्रस्य) सर्व प्रेरक (वरुणस्य) श्रेष्ठ परमेश्वर का (बृहत्) बड़ा (धाम) धाम [धारण सामर्थ्य वा नियम] है, (आहनः) हे चोट लगाने वाली ! (कत् उ) कैसे (वीच्या) छल के साथ (नॄन्) नरों [नेताओं] से (ब्रवः) तू बोल सके ॥ ७ ॥

भावार्थ—यह भी पुरुष का वचन है। तू कहती है कि सूर्य और

७—(कः) प्रश्ने। कः पुरुषः (अस्य) जगतः (वेद) जानाति (प्रथमस्य) प्रथमम् (अह्नः) अहः। दिनम् (कः) (ईम्) इदं दिनम् (ददर्श) दृष्टवान् (कः) (इह) अस्मिन् विषये (प्र वोचत्) प्रकथयेत् (बृहत्) महत् (मित्रस्य) डु मिञ् प्रक्षेपणे—क्त्र। सर्वप्रेरकस्य (वरुणस्य) श्रेष्ठस्य परमेश्वरस्य (धाम) धारणसामर्थ्यम्। प्रभावः (कत्) कथम् (उ) पादपूरणः (ब्रवः) ब्रूयाः। ब्रवीषि (आहनः) आङ्+हन हिंसागत्योः—असुन्। हे आहननशीले। क्लेशकारिणि (वीच्या) व्यच व्याजीकरणे—क्विप्रत्ययः। छान्दसो दीर्घः। छलेन (नॄन्) नयतेर्डिच्च। उ० २। १००। णीञ् प्रापणे—ऋ, स च डित्। नेतॄन् पुरुषान् ॥

पृथिवी प्राकृतिक पदार्थों में भी पति पत्नी भाव है, यह ठीक नहीं। परमेश्वर के नियम मनुष्य नहीं समझ सकता, जैसे सूर्य और पृथिवी में आकर्षण धारण आदि गुण हैं जिनके कारण उनके बीच बारंबार आपस में वृष्टि देने और लेने का सामर्थ्य है। तू हमें मत ठग ॥ ७ ॥

मन्त्र ७-१२ कुछ अभेद वा भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १० । ६-११ ॥

यमस्य मा यम्यं१ काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय ।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ॥८॥

यमस्य । मा । यम्यम् । कामः । आ । अगन् । समाने । योनौ । सह-शेय्याय ॥ जाया-इव । पत्ये । तन्वम् । रिरिच्याम् । वि । चित् । वृहेव । रथ्या-इव । चक्रा ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यमस्य) यम [जोड़िया भाई] की (कामः) कामना (मा) मुझ (यम्यम्) यमी [जोड़िया बहिन] को, (समाने योनौ) एक घर में (सहशेय्याय) साथ साथ सोने के लिये, (आ अगन्) आकर प्राप्त हुयी है। (जाया इव) पत्नी के समान (पत्ये) पति के लिये (तन्वम्) [अपना] शरीर (रिरिच्याम्) मैं फैलाऊं, (चित्) और (रथ्या) रथ ले चलने वाले (चक्रा इव) दो पहियों के समान (वि विरहेव) हम दोनों मिलें ॥ ८ ॥

भावार्थ—स्त्री का वचन है। तू और मैं दोनों एक माता से एक साथ

८—(यमस्य) यम परिवेषणे—अच्। एकगर्भजायमानस्य यमजस्य भ्रातुः (मा) माम् (यम्यम्) यम ङीष् गौरादित्वात्, यणादेशः। यमीम्। एक-गर्भजायमानां यमजां भगिनीम् (कामः) कामना (आ अगन्) आगमत् (समाने) एकस्मिन्नेव (योनौ) गृहे (सहशेय्याय) अचो यत्। पा० ३। १। ६७। शीङ् शयने—यत्। शेयं शयनं स्वार्थेयत्। सहशयनाय (जाया) पत्नी (इव) यथा (पत्ये) स्वभर्त्रे (तन्वम्) तनूम्। स्वशरीरम् (रिरिच्याम्) रिचिर् विरेचने। विस्तारयेयम् (चित्) अपि च (वि वृहेव) परस्परसंश्लेषो विवर्हो। आवां संश्लेषं करवाव (रथ्या) तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्। पा० ४। ४। ७६। इति यत्। विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः। रथ्ये। रथवाहके (इव) यथा (चक्रा) चक्रद्वे ॥

जोड़िया उत्पन्न हुये हैं सो हम दोनों में अति प्रीति है। हम दोनों ही आपस में विवाह करके पति पत्नी बनें और मिलकर गृहस्थ आश्रम चलावें, जैसे रथ के दो पहिये धुरा के साथ आपस में मिलकर रथ चलाते हैं ॥ ८ ॥

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति ।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा ॥ ९ ॥

न । तिष्ठन्ति । न । नि । मिषन्ति । एते । देवानाम् । स्पशः । इह । ये । चरन्ति ॥ अन्येन । मत् । आहनः । याहि । तूयम् । तेन । वि । वृह । रथ्या-इव । चक्रा ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(देवानाम्) विद्वानों के (एते) यह (स्पशः) नियम (न) न (तिष्ठन्ति) ठहरते हैं और (न) न (नि मिषन्ति) मुंदते हैं, (ये) जो (इह) यहां पर (चरन्ति) चलते हैं। (आहनः) हे चोट लगाने वाली ! तू (मत्) मुझ से (अन्येन) दूसरे के साथ (तूयम्) शीघ्र (याहि) जा और (तेन) उसके साथ (रथ्या) रथ ले चलने वाले (चक्रा इव) दो पहियों के समान (वि वृह) संयोग कर ॥ ९ ॥

भावार्थ—पुरुष का वचन है। बड़े लोगों की अटल मर्यादायें सब को मानने योग्य हैं, मैं बहिन के साथ विवाह नहीं कर सकता, तू दूसरे से विवाह करके गृहस्थिनी हो ॥ ९ ॥

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात् ।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य विवृहादजामि॥१०(१)

९—(न) निषेधे (तिष्ठन्ति) गत्या निवर्तन्ते (न) (नि मिषन्ति) निमेषं चक्षुर्मुद्रणं कुर्वन्ति (एते) (देवानाम्) विदुषाम् (स्पशः) स्पश ग्रन्थे बाधने च—क्विप्। प्रबन्धाः। नियमाः (इह) संसारे (ये) (चरन्ति) प्रवर्तन्ते (अन्येन) इतरेण सह (मत्) मत्तः (आहनः) म० ७। हे आहनन-शीले (याहि) गच्छ (तूयम्) क्षिप्रनाम—निघ० २। १५। शीघ्रम् (तेन) पुरुषेण सह (वि वृह) संश्लेषं कुरु (रथ्या) म० ८। रथवाहके (इव) (चक्रा) चक्रद्वे ॥

रात्रीभिः । अस्मै । अह॑-भिः । दुशस्येत् । सूर्य॑स्य । चक्षुः । मुहुः । उत् । मिमीयात् ॥ दिवा । पृथिव्या । मिथुना । सबन्धू इति स-बन्धू । यमीः । यमस्य॑ । विवृहात् । अजामि ॥ १० ॥ (१)

भाषार्थ—(रात्रीभिः) रात्रियों के साथ और (अहभिः) दिनों के साथ (अस्मै) इस [भाई] को (सूर्यस्य) सूर्य की (चक्षुः) ज्योति (दशस्येत्) [सुमति] देवे और (मुहुः) बारम्बार (उत् मिमीयात्) फैली रहे। (दिवा) सूर्य के साथ और (पृथिव्या) पृथिवी के साथ (मिथुना) जोड़ा जोड़ा (सम्बन्धू) भाई के साथ वाले हैं,[फिर] (यमीः) जोड़िया बहिन (यमस्य) जोड़िया भाई के (अजामि) बिना सम्बन्ध से (विवृहात्) उद्यम करे ॥ १० ॥

भावार्थ—स्त्री का वचन है। हे भाई ! सूर्य के प्रकाश में आंख खोल कर देख कि राति और दिन बहिन भाई होकर पति पत्नी भाव से रहते हैं और सूर्य और पृथिवी के बीच सब पदार्थों में भी यही सम्बन्ध है, फिर मैं भी बहिन होकर अपने भाई से ही विवाह करूं ॥ १० ॥

आ घा ता ग॑च्छानुत्त॑रा युगानि यत्र॑ जामय॑ः कृणवन्नजामि ।
उप॑ बर्बृहि वृषभाय॑ बाहुमन्यमि॑च्छस्व सुभगे पति मत् ॥११॥

आ । घु । ता । गुच्छान् । उत्-त॑रा । युगानि॑ । यत्र॑ । जामय॑ः । कृणव॑न् । अजा॑मि ॥ उप॑ । बर्बृहि । वृषभाय॑ ।

१०—(रात्रीभिः) (अस्मै) यमाय (अहभिः) अहोभिः । दिनैः (दशस्येत्) दद्यात् सुमतिम् (सूर्यस्य) (चक्षुः) प्रकाशकं तेजः (मुहुः) बारम्बारम् (उन्मिमीयात्) माङ् माने, परस्मैपदं छान्दसम् । ऊर्ध्वं मानं गमनं कुर्यात् (दिवा) सूर्येण सह(पृथिव्या) भूम्या सह (मिथुना) स्त्रीपुरुषयोर्युग्मे । द्वन्द्वे (सबन्धू) बन्धुना भ्रात्रा सहिते (यमीः) विसर्गश्छान्दसः —म० ८ । यमी । एकगर्भजायमाना यमजा भगिनी (यमस्य) म० ८ । एकगर्भजायमानस्य यमजस्य । भ्रातुः (वि वृहात्) वृह उद्यमने । विविधं यत्नं कुर्यात् (अजामि) अजामित्वेन । सम्बन्धराहित्येन ॥

बाहुम् । अन्यम् । इच्छस्व । सु-भगे । पतिम् । मत् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(ता) वे (उत्तरा) अगले (युगानि) युग [समय] (घ) निःसन्देह (आ गच्छान्) आवें, (यत्र) जिन में (जामयः) कुल स्त्रियां [वा बहिनें] (अजामि) कुल स्त्रियों [वा बहिनों] के अयोग्य काम को (कृणवन्) करने लगें। (वृषभाय) श्रेष्ठ वर के लिये (बाहुम्) [अपनी] भुजा (उप बर्बृहि) आगे बढ़ा, (सुभगे) हे सुभगे ! [बड़े ऐश्वर्य वाली (मत्) मुझ से (अन्यम्) दूसरे (पतिम्) पति को (इच्छस्व) ढूंढ़ ॥ ११ ॥

भावार्थ—पुरुष का बचन है । चाहे कुल स्त्रियां धर्म छोड़ कर अधर्म करने लगें, मैं अधर्म न करूंगा, तू अपने लिये दूसरा पति वरके गृहस्थ आश्रम कर ॥ ११ ॥

किं भ्रातासद् यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्नि-गच्छात् । कामसूता बह्वे३तद् रपामि तन्वा मे तन्व१ सं पिपृग्धि ॥ १२ ॥

किम् । भ्राता । असत् । यत् । अनाथम् । भवाति । किम् । ऊं इति । स्वसा । यत् । निः-ऋतिः । नि-गच्छात् ॥ काम-सूता । बहु । एतत् । रपामि । तन्वा । मे । तन्वम् । सम् । पिपृग्धि ॥ १२ ॥

११—(आ गच्छान्) आगच्छेयुः (घ) निश्चयेन (ता) तानि (उत्तरा) आगामीनि (युगानि) समयविशेषाः (यत्र) येषु युगेषु (जामयः) कुल-स्त्रियः । भगिन्यः (कृणवन्) कृवि हिंसाकरणयोः । कुर्युः (अजामि) कुलस्त्रीणां भगिनीनां वा अयोग्यं कर्म (उप) समीपे (बर्बृहि) बृह वृद्धौ यङ्लुकि लोट् । भृशं वर्धय (वृषभाय) श्रेष्ठाय वराय (बाहुम्) स्वभुजम् (अन्यम्) भिन्नपुरुषम् (इच्छस्व) कामयस्व (सुभगे) हे बह्वैश्वर्यवति (पतिम्) भर्तारम् (मत्)मत्तः ॥

भाषार्थ—(भ्राता) भाई (किम्) क्या (असत्) होवे, (यत्) जब [बहिन को] (अनाथम्) बिन सहारा (भवाति) होवे, (उ) और (स्वसा) बहिन (किम्) क्या है (यत्) जब [भाई पर] (निर्ऋतिः) महाविपत्ति (निगच्छात्) आपड़े। (काममूता) काम से बंधी हुई मैं (बहु) बहुत कुछ (एतत्) यह (रपामि) कहती हूं, (तन्वा) [अपने] शरीर से (मे) मेरे (तन्वम्) शरीर को (सं पिपृग्धि) मिलकर छू ॥ १२ ॥

भावार्थ—स्त्री का वचन है। वह भाई नहीं है जो बहिन की विपत्ति में सहाय न करे और न वह बहिन है जो भाई के कष्ट को न मिटावे। मैं काम से पीड़ित होकर तेरे साथ विवाह के लिये कहती हूं ॥ १२ ॥

न ते नाथं यम्यत्राहमस्मि न ते तनूं तन्वा३ सं पपृच्याम्। अन्येन मत् प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥१३॥

न। ते। नाथम्। यमि। अत्र। अहम्। अस्मि। न। ते। तनूम्। तन्वा। सम्। पपृच्याम् ॥ अन्येन। मत्। प्र-मुदः। कल्पयस्व। न। ते। भ्राता। सु-भगे। वष्टि। एतत् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यमि) हे यमी ! [जोड़िया बहिन] (अहम्) मैं (अत्र) इस [विषय] में (ते) तेरा (नाथम्) आश्रय (न) नहीं (अस्मि) हूं, (ते) तेरे (तनूम्) शरीर को (तन्वा) [अपने] शरीर से (न) नहीं (सम्)

१२—(किम्) किमर्थम्। निष्फलम् (भ्राता) सहोदरः (असत्) भवेत् (यत्) यदि (अनाथम्) अनाथत्वम्। अनाश्रयत्वम् (भवाति) भवेत्, भगिन्याम् (किम्) निष्फलम् (उ) समुच्चये (स्वसा) भगिनी (यत्) यदि (निर्ऋतिः) कृच्छ्रापत्तिः (निगच्छात्) निपतेत् भ्रातरि (काममूता) मूङ् बन्धने—क्त। कामेन बद्धा पीडिता (बहु) नानाप्रकारेण (एतत्) इदं वचनम् (रपामि) कथयामि (तन्वा) स्वशरीरेण (मे) मम (सम्) संगत्य (पिपृग्धि) पृची सम्पर्के। छान्दसः श्लुः, अभ्यासस्य इत्वं। संपर्चय ॥

१३—(न) निषेधे (ते) तव (नाथम्) आश्रयः (यमि) म० ८। हे यमजे भगिनि (अत्र) अस्मिन् विषये (अहम्) भ्राता (अस्मि) भवामि (न)

मिलकर (पपृच्याम्) छूऊंगा। (मत्) मुझ से (अन्येन) दूसरे [वर] के साथ (प्रमदः) आनन्दों को (कलपयस्व) मना, (सुभगे) हे सुभगे! [बड़े ऐश्वर्य वाली] (ते भ्राता) तेरा भाई (एतत्) यह (न) नहीं (वष्टि) चाहता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—पुरुष का वचन है। यह ठीक है कि हम दोनों भाई बहिन होकर विपत्ति में परस्पर सहाय करें, परन्तु धर्म छोड़कर बहिन से विवाह न करूंगा। मैं तुझ से कहता हूं कि तू दूसरे योग्य वर से विवाह कर ले ॥ १३ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध ऋग्वेद में है—१०। १०। १२ ॥

न वा उं ते तनूं तन्वा३ सं पंपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्। असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीय ॥ १४ ॥

न। वै। ऊं इति। ते। तनूम्। तन्वा। सम्। पपृच्याम्। पापम्। आहुः। यः। स्वसारम्। नि-गच्छात् ॥ असम्-यत्। एतत्। मनसः। हृदः। मे। भ्राता। स्वसुः। शयने। यत्। शयीय ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(वै उ) कभी भी (ते तनूम्) तेरे शरीर को (तन्वा) [अपने] शरीर से (न) नहीं (सम्) मिलकर (पपृच्याम्) छूऊंगा, [उस मनुष्य को] (पापम्) पापी (आहुः) वे [शिष्ट लोग] कहते हैं, (यः) जो (स्वसारम्) बहिन को (निगच्छात्) नीचपन से प्राप्त करे। (एतत्) यह

नहि (ते) तव (तनूम्) शरीरम् (तन्वा) स्वशरीरेण (सम्) संगत्य (पपृच्याम्) संपर्चयाम् (अन्येन) भिन्नेन वरेण (मत्) मत्तः (प्रमुदः) प्रहर्षान् (कलपयस्व) समर्थय। साधय (न) निषेधे (ते) तव (भ्राता) सहोदरः (सुभगे) हे बह्वैश्वर्यवति (वष्टि) इच्छति (एतत्) इदं कर्म ॥

१४—(न) निषेधे (वै उ) कदापि (ते) तव (तनूम्) शरीरम् (तन्वा) स्वशरीरेण (सम्) संगत्य (पपृच्याम्) संपर्चयाम् (पापम्) पापिनं तं पुरुषम् (आहुः) कथयन्ति शिष्टाः (यः) भ्राता (स्वसारम्) भगिनीम् (निगच्छात्) नीचं प्राप्नुयात् (असंयत्) यमु उपरमे—क्विप। असंगतम्

[बात] (मे) मेरे (मनसः) मन [संकल्प] के और (हृदः) हृदय [निश्चय] के (असंयत्) असंगत है—(यत्) कि (भ्राता) मैं भाई (स्वसुः) बहिन की (शयने) सेज पर (शयीय) सोऊं ॥ १४ ॥

भावार्थ—यह भी पुरुष का वचन है। मैं कभी भी तेरे साथ विवाह न करूंगा। बड़े लोग भाई के साथ बहिन का विवाह पाप मानते हैं और मैं भी अन्तः करण से इसे पाप समझता हूं॥ १४ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध ऋग्वेद में है—१० । १० । १२ ॥

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम। अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम् ॥ १५ ॥

बतः । बत । असि । यम । न । एव । ते । मनः । हृदयम् । च । अविदाम ॥ अन्या । किल । त्वाम् । कक्ष्या-इव । युक्तम् । परि । स्वजातै । लिबुजा-इव । वृक्षम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(बत) हा ! (यम) हे यम ! [जोड़िया भाई] तू (बतः) बड़ा निर्बल (असि) है, (ते) तेरे (मनः) मन [संकल्प] को (च) और (हृदयम्) हृदय [निश्चय] को (एव) निःसन्देह (न अविदाम) हम ने नहीं पाया। (अन्या) दूसरी स्त्री (किल) अवश्य (त्वाम्) तुझ से (परि ष्वजातै) आलिङ्गन करेगी, (कक्ष्या इव) जैसे घोड़े की पेटी (युक्तम्) कसे

(एतत्) इदं कर्म (मनसः) चित्तस्य । संकल्पस्य (हृदः) हृदयस्य । निश्चयस्य (मे) मम (भ्राता) (स्वसुः) भगिन्याः (शयने) शय्यायाम् (यत्) अर्थबोधने (शयीय) अहं शयनं कुर्याम् ॥

१५—(बतः) वन उपकारे उपतापे च—क्त । बतो बलादतीतो भवति दुर्बलः—निरु० ६ । २८ । अतिनिर्बलः (बत) शोके । हा (असि) (यम) म० ८ । हे यमजभ्रातः (न) निषेधे (एव) निश्चयेन (ते) तव (मनः) चित्तम् संकल्पम् (हृदयम्) अन्तःकरणम् । निश्चयम् (च) (अविदाम) विद्लृ लाभे—लुङ् । वयं प्राप्तवत्यः (अन्या) मद्भिन्ना स्त्री (किल) प्रसिद्धौ (त्वाम्) (कक्ष्या) अश्वस्य कक्षप्रदेशस्था रज्जुः (इव) यथा (युक्तम्) गमनाय योजि-

हुये [घोड़े] से और (लिबुजा इव) जैसे बेल [लता] (वृक्षम्) वृक्ष से [लिपट जाती है] ॥ १५ ॥

भावार्थ—स्त्री का वचन है। भाई ! मैं ने तुझे इतना समझाया पर तू ने मेरी बात न मानी, अवश्य मुझ से दूसरी स्त्री तेरे साथ विवाह कर के सुख भोगेगी ॥ १५ ॥

मन्त्र १५ और १६ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१०। १०। १३, १४ ॥

अन्यमू षु यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम्। तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥ १६ ॥

अन्यम्। ऊं इति। सु। यमि। अन्यः। ऊं इति। त्वाम्। परि। स्वजातै। लिबुजा-इव। वृक्षम् ॥ तस्य। वा। त्वम्। मनः। इच्छ। सः। वा। तव। अध। कृणुष्व सम्-विदम्। सु-भद्राम् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(यमि) हे यमी ! [जोड़िया बहिन] तू (अन्यम्) दूसरे पुरुष से (सु उ) अच्छे प्रकार [मिल], (उ) और (अन्यः) दूसरा पुरुष (त्वाम्) तुझ से (परि ष्वजातै) मिले, (लिबुजा इव) जैसे बेल [लता] (वृक्षम्) वृक्ष से। (वा) और (त्वम्) तू (तस्य) उसके (मनः) मन को (इच्छ) चाह, (वा) और (सः) वह (तव) तेरे [मन को चाहे], (अध) फिर तू (सुभद्राम्) बड़े मङ्गल युक्त (संविदम्) संगति (कृणुष्व) कर ॥ १६ ॥

भावार्थ—पुरुष का अन्तिम वचन है। हे बहिन ! तू प्रसन्न होकर दूसरे योग्य वर से विवाह कर ले। तुम दोनों परस्पर प्रीति बढ़ाकर आनन्द भोगो १६

तमश्वम् (परिष्वजातै) आलिङ्गेत् (लिबुजा) अ० ६। ८। १। लता (वृक्षम्) तरुम् ॥

१६—(अन्यम्) भिन्नपुरुषम्—परिष्वजेति शेषः (उ) एव (सु) सुष्ठु (यमि) म० ८। हे यमजे भगिनि (अन्यः) इतरः पुरुषः (उ) (त्वाम्) (परिष्वजातै) आलिङ्गेत् (लिबुजा) अ० ६। ८। १। लता (इव) यथा (वृक्षम्) (तस्य) वरस्य (वा) समुच्चये। च (त्वम्) (मनः) चित्तम् (इच्छ) कामयस्व (सः) वरः (वा) च (तव) (अध) अथ। अनन्तरम् (कृणुष्व) कुरु (संविदम्) संगतिम् (सुभद्राम्) अत्यन्तमङ्गलप्रदाम् ॥

मन्त्राः १७—२६ ॥

अग्निर्देवता [ऋग्वेदे १० । ११ । १-६ यथा] ॥ १७ आर्षी त्रिष्टुप् ; १८-२०, २२ निचृज्जगती ; २१, २३ जगती ; २४—२६ त्रिष्टुप् ॥

विद्वत्कर्मोपदेशः—विद्वानों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

त्रीणि च्छन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम् । आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि ॥ १७ ॥

त्रीणि । छन्दांसि । कवयः । वि । येतिरे । पुरु-रूपम् । दर्शतम् । विश्व-चक्षणम् ॥ आपः । वाताः । ओषधयः । तानि । एकस्मिन् । भुवने । आर्पितानि ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(कवयः) बुद्धिमानों ने (पुरुरूपम्) अनेक प्रकार निरूपण करने योग्य, (दर्शतम्) अद्भुत गुण वाले (विश्वचक्षणम्) सब के देखने योग्य, (त्रीणि) तीन (छन्दांसि) आनन्द देने वाले पदार्थों को (वि) विविध प्रकार (येतिरे) यत्न में किया है । वे (आपः) जल, (वाताः) पवनें और (ओषधयः) ओषधें [सोमलता, जौ, चावल आदि] हैं, (तानि) वे सब (एकस्मिन्) एक (भुवने) भुवन [सब के आधार परमात्मा] में (आर्पितानि) ठहरे हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग अनेक प्रकार उपकारी जल, वायु और ओषधियों आदि के गुणों को विद्वानों में उपदेश करके लाभ उठावें और उनके कर्ता परमात्मा की महिमा जानकर उन्नति करें ॥ १७ ॥

१७—(त्रीणि) त्रिसंख्याकानि (छन्दांसि) अ० ४ । ३४ । १ । चन्देरादेश्च छः । उ० ४ । २१६ । चदि आह्लादने—असुन्, चस्य छः । आनन्दप्रद-पदार्थान् (कवयः) मेधाविनः (वि) विविधम् (येतिरे) यती प्रयत्ने—लिट् । यत्नं कृतवन्तः (पुरुरूपम्) बहुविधनिरूपणीयम् (दर्शतम्) दृशिर्—अतच् । दर्शनीयम् । अद्भुतगुणयुक्तम् (विश्वचक्षणम्) सर्वैर्दर्शनीयम् (आपः) जलानि (वाताः) वायवः (ओषधयः) सोमलताव्रीहियवादयः (तानि) वस्तूनि (एकस्मिन्) (भुवने) सर्वाधारे परमेश्वरे (आर्पितानि) समन्ताद् निवेशितानि ॥

वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेरदाभ्यः । विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया स यज्ञियो यजति यज्ञियाँ ऋतून् ॥ १८ ॥

वृषा । वृष्णे । दुदुहे । दोहसा । दिवः । पयांसि । यह्वः । अदितेः । अदाभ्यः ॥ विश्वम् । सः । वेद । वरुणः । यथा । धिया । सः । यज्ञियः । यजति । यज्ञियान् । ऋतून् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(यह्वः) महान्, (अदाभ्यः) न दबने वाले (वृषा) बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा ने (वृष्णे) पराक्रमी मनुष्य के लिये (दिवः) आनन्द देने वाली (अदितेः) अखण्ड वेदवाणी की (दोहसा) पूरणता से (पयांसि) अनेक रसों को (दुदुहे) भरपूर किया है। (वरुणः यथा) श्रेष्ठ पुरुष के समान (सः) वह [मनुष्य] (विश्वम्) संसार को (धिया) [अपनी] बुद्धि से (वेद) जानता है और (सः) वह (यज्ञियः) पूजनीय होकर (यज्ञियान्) पूजनीय (ऋतून्) ऋतुओं [उचित कालों] को (यजति) पूजता है ॥ १८ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने वेदद्वारा पुरुषार्थी के लिये संसार में अनेक ऐश्वर्य का उपदेश किया है। वही ज्ञानी पुरुष श्रेष्ठों के समान आचरण करके उचित समय को न खोकर संसार का उपकार करता है ॥ १८ ॥

मन्त्र १८—२४ कुछ भेद वा अभेद से ऋग्वेद में हैं—१० । ११ । १-७ ॥

रपद् गन्धर्वीरप्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु नो मनः ।

१८—(वृषा) वृषु प्रजनने, परमशक्तौ पराक्रमे च—कनिन् । परमशक्तिमान् परमेश्वरः । इन्द्रः (वृष्णे) पराक्रमिणे पुरुषाय (दुदुहे) प्रपूरितवान् (दोहसा) दुह प्रपूरणे—असुन् । प्रपूर्त्या (दिवः) दिवु मोदे—डिवि । आनन्दप्रदायाः (पयांसि) रसान् (यह्वः) महान्—निघ० ३ । ३ । (अदितेः) अदितिर्वाङ्-नाम—निघ० १ । ११ । अखण्डितायाः वेदवाण्याः (अदाभ्यः) अहिंस्यः (विश्वम्) संसारम् (सः) पराक्रमी (वेद) वेत्ति (वरुणः) श्रेष्ठपुरुषः (यथा) सादृश्ये (धिया) प्रज्ञया (सः) (यज्ञियः) पूजार्हः (यजति) पूजयति (यज्ञियान्) पूजनीयान् (ऋतून्) अर्त्तेश्चतुः । उ० १ । ७२ ।ऋ गतौ—तु, कित् । गमनशीलान् योग्यकालान् ॥

इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि वोचति ॥ १८ ॥

रपत् । गन्धर्वीः । अप्या । च । योषणा । नदस्य । नादे । परि । पातु । नः । मनः ॥ इष्टस्य । मध्ये । अदितिः । नि । धातु । नः । भ्राता । नः । ज्येष्ठः । प्रथमः । वि । वोचति१८

भाषार्थ—(गन्धर्वीः) विद्वानों को धारण करने वाली, (अप्या) सत्कर्मों में प्रसिद्ध (च) और (योषणा) सेवने योग्य [वेद वाणी] (रपत्) स्पष्ट कहती है—कि वह [वेदवाणी] (नदस्य) स्तोता [गुणज्ञ] पुरुष के (नादे) सत्कार में (नः) हमारे (मनः) मन [वा विज्ञान] की (परि) सब ओर से (पातु) रक्षा करे। (अदितिः) अखण्ड वेदवाणी (इष्टस्य) अभीष्ट सुख के (मध्ये) बीच में (नः) हमें (नि) नित्य (धातु) रक्खे, (भ्राता) भाई [के समान हितकारी] (ज्येष्ठः) अतिश्रेष्ठ, (प्रथमः) मुख्य पुरुष (नः) हम को (वि) अनेक प्रकार (वोचति) उपदेश करे ॥ १६ ॥

भावार्थ—वेदवाणी हमें उपदेश करती है कि मनुष्य गुणों के जानने से अपनी रक्षा करता और अभीष्ट सुख पाता है, श्रेष्ठ विद्वान् परस्पर यही उपदेश करे ॥ १६ ॥

सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्वर्वती । यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतुमग्निं होतारं विदथाय जीजं-

---

१६—(रपत्) रपति । उपदिशति (गन्धर्वीः) गौः स्तोतृनाम—निघ० ३।१६। स्तोतॄणां धारयित्री (अप्या) म० ४। सत्कर्मसु भवा (च) (योषणा) युष भजने—ल्यु, टाप्। सेवनीया (नदस्य) नदः स्तोतृनाम—निघ० ३।१६। स्तोतुः। गुणज्ञस्य (नादे) नदतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३।१४। अर्चने। सत्कारे (परि) सर्वतः (पातु) रक्षतु (नः) अस्माकम् (मनः) विज्ञानम्। अन्तः-करणम् (इष्टस्य) अभीष्टसुखस्य (मध्ये) (अदितिः) अखण्डिता वेद-वाणी (नि) नित्यम् (धातु) दधातु (नः) अस्मान् (भ्राता) भ्रातेव हित-कारी (नः) अस्माकम् (ज्येष्ठः) प्रशस्यतमः (प्रथमः) मुख्यः पुरुषः (वि) विविधम् (वोचति) वक्तु। उपदिशतु ॥

नन् ॥ २० ॥ (२)

सो इति । चित् । नु । भद्रा । क्षु-मती । यशस्वती । उषाः । उवास । मनवे । स्वः-वती ॥ यत् । ईम् । उशन्तम् । उशताम् । अनु । क्रतुम् । अग्निम् । होतारम् । विदथाय । जीजनन् ॥ २० ॥ (२ ॥

भाषार्थ—(सो) वही (चित्) निश्चय करके (नु) अब (भद्रा) कल्याणी, (क्षुमती) अन्न वाली, (यशस्वती) यश वाली, (स्वर्वती) बड़े सुख वाली [वेदवाणी], (उषाः) उषा [प्रभात वेला के समान], (मनवे) मनुष्य के लिये (उवास) प्रकाशमान हुयी है। (यत्) क्योंकि (ईम्) इस [वेदवाणी] को (उशन्तम्) चाहने वाले, (होतारम्) दानी (अग्निम्) विद्वान् पुरुष को (उशताम्) अभिलाषी पुरुषों की (क्रतुम् अनु) बुद्धि के साथ (विदथाय) ज्ञान समाज के लिये (जीजनन्) उन्होंने [विद्वानों ने] उत्पन्न किया है ॥२० ॥

भावार्थ—परमात्मा ने मनुष्य के कल्याण के लिये वेदवाणी को सूर्य के प्रकाश के समान संसार में प्रकट किया है। जो मनुष्य वेदज्ञाता महाविद्वान् होवे, विद्वान् लोग उसको मुखिया बनाकर समाज का सुख बढ़ावें ॥ २० ॥

अध त्यं द्रप्सं विभ्वं विचक्षणं विराभरदिषिरः श्येनो अध्वरे। यदी विशो वृणते दस्ममार्या अग्निं होतारमध धीरजायत २१

अध । त्यम् । द्रप्सम् । वि-भ्वम् । वि-चक्षणम् । विः । आ ।

२०—(सो) सा-उ । सैव वेदवाणी (चित्) एव (नु) सम्प्रति (भद्रा) कल्याणी (क्षुमती) अन्नवती—निघ० २ । ७ (यशस्वती) कान्तिमती (उषाः) प्रभातवेलारूपा वेदवाणी (उवास) वस—लिट् । प्रकाशं कृतवती (मनवे) (मनुष्याय (स्वर्वती) सुखवती (यत्) यतः (ईम्) इमां वेदाणीम् (उशन्तम्) कामयमानम् (उशताम्) कामयमानानाम् । अभिलाषिणाम् (अनु) अनुसृत्य (क्रतुम्) प्रज्ञाम्—निघ० ३ । ९ (अग्निम्) विद्वांसम् (होतारम्) दातारम् (विदथाय) ज्ञानसमाजाय (जीजनन्) अजीजनन् । उदपादयन् ते विद्वांसः ॥

अभरत् । इषिरः । श्येनः । अध्वरे ॥ यदि । विशः । वृणते । दस्मम् । आर्याः । अग्निम् । होतारम् । अध । धीः । अजायत ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(अध) और (त्यम्) उस (द्रप्सम्) हर्ष देने वाले, (विभ्वम्) बली (विचक्षणम्) चतुर [विद्वान्] पुरुष को (श्येनः) श्येन [बाज] (विः) पक्षी [के समान] (इषिरः) फुरतीला [आचार्य आदि] (अध्वरे) यज्ञ में (आ अभरत्) लाया है। (यदि) यदि (आर्याः) आर्य [श्रेष्ठ] (विशः) मनुष्य (दस्मम्) दर्शनीय, (होतारम्) दानी (अग्निम्) विद्वान् पुरुष को (वृणते) चुने, (अध) तब (धीः) वह कर्म (अजायत) हो जावे ॥ २१ ॥

भावार्थ—जिस विद्वान् दूरदर्शी जन को उत्तम गुणों के कारण विद्वान् आचार्य आदि प्रसिद्ध करें उसको श्रेष्ठ लोग प्रधान बनाकर कार्य सिद्ध करें२१॥

सदासि रण्वो यवसेव पुष्यते होत्राभिरग्ने मनुषः स्वध्वरः । विप्रस्य वा यच्छशमान उक्थ्यो३ वाजं ससवाँ उपयासि भूरिभिः ॥ २२ ॥

सदा । असि । रण्वः । यवसा-इव । पुष्यते । होत्राभिः । अग्ने । मनुषः । सु-अध्वरः ॥ विप्रस्य । वा । यत् । शश-

२१—(अध) अथ (त्यम्) तम् (द्रप्सम्) वृतृवदिवचि० । उ० ३ । ६२ । दृप हर्षमोहनयोः—सप्रत्ययः । हर्षकारिणम् (विभ्वम्) विभुम् । प्रभुम् । (विचक्षणम्) दूरदर्शिनम् । चतुरम् (विः) वातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । वा गतिगन्धनयोः–इण, डित् । पक्षी (आ अभरत्) हृस्य भः । आहरत् । आहृतवान्(इषिरः) इषिमदिमुदि० । उ० १ । ५१ । इष गतौ–किरच् । शीघ्रगामी (श्येनः) श्येन इव (अध्वरे) यज्ञे (यदि) (विशः) मनुष्याः–निघ० २ । ३ (वृणते) वरणं कुर्वन्ति । पुरस्कुर्वन्ति (दस्मम्) दर्शनीयम् (आर्याः) ऋ गतिप्रापणयोः–ण्यत् । श्रेष्ठाः (अग्निम्) विद्वांसम् (होतारम्) दातारम् (अध) अनन्तरम् (धीः) कर्म–निघ० २ । १ (अजायत) जायते ॥

(पुस्तकालय)

...नः । उक्थ्यः । वाजम् । सस-वान् । उप-यासि । भूरि-भिः २२

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (स्वध्वरः) सुन्दर यज्ञ वाला होकर (मनुषः) ज्ञान की (होत्राभिः) वाणियों से (पुष्यते) पुष्ट करने वाले [मनुष्य] के लिये (यवसा इव) जैसे घास [गौ आदि के लिये] (सदा) सदा तू (रणवः) रमणीय [सुखदायक] (असि) होता है । (वा) और (यत्) क्योंकि (विप्रस्य) विद्वान् [आचार्य आदि] के (वाजम्) विज्ञान को (ससवान्) सेवन कर चुका हुआ, (शशमानः) फुरतीला, (भूरिभिः) बहुत [उत्तम पुरुषों] से (उकूथ्यः) स्तुतियोग्य तू (उपयासि) आता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—विद्वान् को योग्य है कि ज्ञानदाता आचार्य आदि को अपने सत्कर्मों से सदा प्रसन्न रक्खे, क्योंकि उन्हीं महात्माओं की कृपा से वह विज्ञान प्राप्त करके संसार में विख्यात हुआ है ॥ २२ ॥

उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति ।
विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मखस्तविष्यते असुरो वेपते मती २३

उत् । ईरय । पितरा । जारः । आ । भगम् । इयक्षति । हर्यतः । हृत्तः । इष्यति ॥ विवक्ति । वह्निः । सु-अपस्यते । मखः । तविष्यते । असुरः । वेपते । मती ॥ २३ ॥

२२—(सदा) सर्वदा (असि) भवसि (रणवः) कृगृशृदृभ्यो वः । उ १ । १५५ । रमु क्रीडायाम्—व, मस्य णः । रमणीयः । सुखप्रदः यद्वा, रण शब्दे गतौ च-वप्रत्ययः । स्तुत्यः । प्राप्तव्यः (यवसा) विभक्तेराकारः । यवसम् । घासः । तृणम् (इव) यथा (पुष्यते) पुष पुष्टौ-शतृ । पोषणं कुर्वते पुरुषाय (होत्राभिः) वाग्भिः—निघ० १ । ११ (अग्ने) हे विद्वन् (मनुषः) जनेरुसिः उ० २ । ११५ । मन ज्ञाने—उसि । ज्ञानस्य (स्वध्वरः) शोभनयागः (विप्रस्य) मेधाविनः (वा) च (यत्) यतः (शशमानः) अ० २ । ३४ । २ । शश प्लुतगतौ—चानश् । उत्प्लुत्य गमनशीलः ॥ शीघ्रगामी (उकूथ्यः) स्तुत्यः (वाजम्) विज्ञानम् (ससवान्) षण संभक्तौ—क्वसु । संभजमानः । सेवमानः (उपयासि) आगच्छसि (भूरिभिः) बहुपुरुषैः ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान्!] (जारः आ) स्तोता [गुणज्ञ पुरुष] के समान (पितरा) माता पिता को (भगम्) ऐश्वर्य की ओर (उत् ईरय) ऊंचा पहुंचा, [क्योंकि] (हर्यतः) [शुभगुणों का] चाहने वाला (हृत्तः) हृदय से (इयक्षति) [उन्हें] पूजना चाहता है और (इष्यति) चलता है। (वह्निः) भार उठाने वाला (विवक्ति) बोलता है, (मखः) उद्योगी (स्वपस्यते) सत्कर्म करना चाहता है और (असुरः) प्राणवान् [बलवान्] (तविष्यते) महान् होना चाहता है, और (मती) बुद्धि के साथ (वेपते) चेष्टा करता है ॥ २३॥

भावार्थ—विद्वान् कृतज्ञ पुरुष धन आदि से माता पिता की सेवा करे, क्योंकि वृद्धों की सेवा से मनुष्य पुरुषार्थी होकर जगत् में बड़ा होता है ॥ २३ ॥

यस्ते॑ अग्ने सुम॒तिं मर्तो॒ अख्य॒त् सह॑सः सूनो अ॒ति स प्र शृ॑ण्वे।
इषं॒ दधा॑नो॒ वह॑मानो॒ अश्वै॒रा स द्यु॒माँ अम॑वान् भूषति॒ द्यून्॥२४

यः। ते॒। अ॒ग्ने॒। सु॒ऽम॒तिम्। मर्तः॑। अख्य॑त्। सह॑सः। सूनो॒ इति॑। अति॑। सः। प्र। शृ॒ण्वे॒॥ इष॑म्। दधा॑नः। वह॑मानः। अश्वैः॑। आ। सः। द्यु॒ऽमान्। अम॑ऽवान्। भूष॒ति॒। द्यून्॥२४॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान्! (यः मर्तः) जो मनुष्य (ते) तेरी

२३—(उदीरय) द्विकर्मकः। उद्गमय। उच्चैः प्रापय (पितरा) मातापितरौ (जारः) जरतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३। १४। जरिता स्तोतृनाम—निघ० ३। १६। जॄ स्तुतौ—घञ्। स्तोता। गुणज्ञः (आ) सादृश्ये। इव (भगम्) ऐश्वर्यं प्रति (इयक्षति) यजेः सन्, अभ्यासस्य संप्रसारणं छान्दसम्। यष्टुं पूजयितुमिच्छति (हर्यतः) कमनीयः पुरुषः (हृत्तः) हृदयात् (इष्यति) इष गतौ। गच्छति (विवक्ति) कथयति (वह्निः) भारस्य वोढा (स्वपस्यते) अपः कर्मनाम—निघ० २। १। सुप आत्मनः क्यच्। पा० ३। १।८। सु+अपस्—क्यच्। सत्कर्म कर्त्तुमिच्छति (मखः) मख सर्पणे, गतौ—घप्रत्ययः। उद्योगी पुरुषः (तविष्यते) तविषो महन्नाम—निघ० ३। ३। तविष—क्यच्। अकारलोपश्छान्दसः। तविषयते। महान् भवितुमिच्छति (असुरः) प्राणवान्। बलवान् (वेपते) चेष्टते (मती) मत्या ॥

२४—(यः) (ते) तव (अग्ने) हे विद्वन् (सुमतिम्) उत्तमबुद्धिम्

(सुमतिम्) सुमति को (अख्यत्) बखानता है, (सहसः सूनो) हे बलवान् पुरुष के पुत्र ! (सः) वह (अति) अति (प्र) बड़ाई से (शृण्वे) सुना जाता है [यशस्वी होता है]। और (सः) वह (इषम्) अन्न (दधानः) रखता हुआ, (अश्वैः) घोड़ों से (वहमानः) ले जाता हुआ, (द्युमान्) प्रकाशमान और (अमवान्) पराक्रमी होकर (द्यून्) दिनों को (आ) सब प्रकार (भूषति) सुधारता है ॥ २४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य कुलीन बली विद्वानों की सुमति पर चलता है, वह यशस्वी, धनी और पराक्रमी होकर संसार का उपकार करता है ॥ २४ ॥

श्रुधी नो॑ अग्ने॒ सद॑ने स॒धस्थे॑ यु॒क्ष्वा रथ॑म॒मृत॑स्य द्रवि॒त्नुम् ।
आ नो॑ वह॒ रोद॑सी दे॒वपु॑त्रे॒ माकि॑र्दे॒वाना॒मप॑ भूरि॒ह स्याः॑ २५

श्रु॒धि । नः॒ । अ॒ग्ने॒ । सद॑ने । स॒ध-स्थे॑ । यु॒क्ष्व । रथ॑म् । अ॒मृ-त॑स्य । द्र॒वि॒त्नुम् ॥ आ । नः॒ । व॒ह॒ । रोद॑सी॒ इति॑ । दे॒वपु॑त्रे॒ इति॑ दे॒व-पु॑त्रे । माकिः॑ । दे॒वाना॑म् । अप॑ । भूः॒ । इ॒ह । स्याः॒ २५

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (सधस्थे) मिलकर बैठने योग्य (सदने) बैठक [समाज] में (नः) हमारी [बात] (श्रुधि) सुन,—(अमृतस्य) अमृत [अमरपन, पुरुषार्थ] के (द्रवित्नुम्) वेग वाले (रथम्) रथ को (युक्ष्व) जोड़ । (नः) हमारे लिये (रोदसी) भूमि और सूर्य [के समान

(मर्तः) मनुष्यः (अख्यत्) लडर्थे लुङ् । कथयति (सहसः) बलवतः पुरुषस्य (सूनो) पुत्र (अति) अत्यन्तम् (सः) (प्र) प्रकर्षेण (शृण्वे) लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । तलोपः, यणादेशः । शृणुते । श्रूयते । विश्रुतो भवति (इषम्) अन्नम् (दधानः) धारयन् (वहमानः) उह्यमानः (अश्वैः) तुरङ्गैः (आ) समन्तात् (सः) मर्तः (द्युमान्) दीप्तिमान् (अमवान्) बलवान् (भूषति) अलंकरोति (द्यून्) दिनानि—निघ० १ । ६ ॥

२५—(श्रुधि) शृणु (नः) अस्माकं वचः (अग्ने) हे विद्वन् (सदने) समाजे (सधस्थे) सहस्थितियोग्ये (रथम्) (अमृतस्य) अमरणस्य । (द्रवित्नुम्) स्तनिहृषियुषिगदिमदिभ्यो णेरित्नुच् । उ० ३ । २६ । द्रु गतौ—इत्नुच्, अण्यन्तादपि । शीघ्रगामिनम् (आवह) आनय (नः) अस्मान् (रोदसी)

उपकारी] (देवपुत्रे) विद्वानों को पुत्र रखने वाले [दो प्रजायें अर्थात् माता पिता] को (आ वह) ला, (देवानाम्) विद्वानों के बीच (माकिः) न कभी (अप भूः) तू दूर हो, (इह) यहां [हम में] (स्याः) रह ॥ २५ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सभा के बीच अधिक विद्वान् पुरुष को प्रधान बनाकर व्यवस्था करें कि सब माता पिता विज्ञान पूर्वक उत्तम सन्तान उत्पन्न करके संसार का उपकार करें और विद्वानों से आदर पूर्वक मिलते रहें ॥ २५ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । ११ । ८ ॥

यद॑ग्न एषा समि॑तिर्भवा॑ति दे॒वी दे॒वेषु॑ यज॒ता य॑जत्र । रत्ना॑ च॒ यद् वि॒भजा॑सि स्वधावो भा॒गं नो॒ अत्र॒ वसु॑मन्तं वीतात् ॥२६॥

यत् । अ॒ग्ने॒ । ए॒षा । सम्ऽइ॑तिः । भवा॑ति । दे॒वी । दे॒वेषु॑ । य॒ज॒ता । य॒ज॒त्र॒ ॥ रत्ना॑ । च॒ । यत् । वि॒ऽभजा॑सि । स्व॒धा॒ऽवः॒ । भा॒गम् । नः॒ । अत्र॑ । वसु॑ऽमन्तम् । वी॒ता॒त् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(यजत्र) हे संगति योग्य ! (अग्ने) हे विद्वान् ! (यत्) जब (एषा) यह (समितिः) समिति [सभा] (देवेषु) विद्वानों के बीच (देवी) विज्ञानवती और (यजता) संगति योग्य (भवाति) होवे । (च) और (यत्) जब, (स्वधावः) हे आत्मधारी ! तू (रत्ना) रत्नों को (विभजासि) बांटे, (नः) हमारे लिये (अत्र) यहां [संसार में] (वसुमन्तम्) बहुत धन युक्त (भागम्) भाग (वीतात्) भेज ॥ २६ ॥

भूमिसूर्यतुल्योपकारशीले (देवपुत्रे) देवा विद्वांसः पुत्रा ययोस्ते ते प्रजे । मातापितरौ (माकिः) न कदापि (देवानाम्) विदुषां मध्ये (अप भूः) अपगतो भव (इह) अस्मासु (स्याः) भवेः ॥

२६—(यत्) यदा (एषा) (समितिः) सभा (भवाति) भूयात् (देवी) विज्ञानवती (देवेषु) विद्वत्सु (यजता) संगन्तव्या (यजत्र) हे संगन्तव्य (रत्ना) रत्नानि । बहुमूल्यधनानि (च) (यत्) यदा (विभजासि) विभागेन दद्याः (स्वधावः) मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि । पा० ८ । ३ । १ । मत्वन्तस्य रुः । हे स्वधारणशक्तियुक्त (भागम्) अंशम् (नः) अस्माकम् (अत्र) संसारे (वसुमन्तम्) बहुधनयुक्तम् (वीतात्) वी असने क्षेपणे । प्रेरय ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि विद्वानों के सत्संग से सार्वभौम विद्यासभा बनाकर विज्ञान का प्रचार करें जिससे लोग गुणी होकर धनी होवें ॥ २६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । ११ । ८ ॥

मन्त्राः २७—३६ ॥

अग्निर्देवता [ऋग्वेदे १० । १२ । १-८ यथा] ॥ २७—२६, ३१, ३३ त्रिष्टुप्; ३०, ३२, ३५, ३६ निचृत् त्रिष्टुप्; ३४ विराट् त्रिष्टुप् ॥

परमात्मगुणोपदेशः—परमात्मा के गुणों का उपदेश ॥

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः । अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ २७ ॥

अनु । अग्निः । उषसाम् । अग्रम् । अख्यत् । अनु । अहानि । प्रथमः । जात-वेदाः ॥ अनु । सूर्यः । उषसः । अनु । रश्मीन् । अनु । द्यावापृथिवी इति । आ । विवेश ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर ने (उषसाम्) उषाओं के (अग्रम्) विकाश को (अनु) निरन्तर, [उसी] (प्रथमः) सब से पहिले वर्तमान (जातवेदाः) उत्पन्न वस्तुओं के ज्ञान कराने वाले परमेश्वर ने (अहानि) दिनों को (अनु) निरन्तर (अख्यत्) प्रसिद्ध किया है । (सूर्यः) [उसी] सूर्य [सब में व्यापक वा सबको चलाने वाले परमेश्वर] ने (उषसः) उषाओं में (अनु) लगातार, (रश्मीन्) व्यापक किरणों में (अनु) लगातार, (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी में (अनु) लगातार (आविवेश) प्रवेश किया है ॥२७॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों को रचकर सब को अपने वश में कर रक्खा है, वही सब मनुष्यों का उपास्य है ॥ २७ ॥

मन्त्र २७, २८ आ चुके हैं—अ० ७ । ८२ । ४, ५ ॥

मन्त्र २७ का प्रथम पाद ऋग्वेद में है—४ । १३ । १ ॥

प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः । प्रति

२७—मन्त्रौ २७, २८ पूर्वत्र व्याख्यातौ—अ० ७ । ८२ । ४, ५ ॥

सूर्य॑स्य पुरुधा च र॒श्मीन् प्रति॒ द्यावा॑पृथि॒वी आ त॑तान ॥२८॥

प्रति॑ । अ॒ग्निः । उ॒षसा॑म् । अग्र॑म् । अ॒ख्य॒त् । प्रति॑ । अहा॑नि । प्र॒थ॒मः । जा॒त-वे॑दाः ॥ प्रति॑ । सूर्य॑स्य । पु॒रु-धा । च॒ । र॒श्मीन् । प्रति॑ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । आ । त॒ता॒न॒ ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर ने (उषसाम्) उषाओं के (अग्रम्) विकाश को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से, [उसी] (प्रथमः) सब से पहिले वर्तमान (जातवेदाः) उत्पन्न वस्तुओं के ज्ञान कराने वाले परमेश्वर ने (अहानि) दिनों को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (अख्यत्) प्रसिद्ध किया है। (च) और (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मीन्) व्यापक किरणों को (पुरुधा) अनेक प्रकार (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से, और (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोकों को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (आ) सब ओर (ततान) फैलाया है ॥२८॥

भावार्थ—सब जगत् के उत्पादक और सर्वनियन्ता ईश्वर की महिमा को विचार कर मनुष्य अपनी उन्नति करें ॥ २८ ॥

द्यावा॑ ह॒ क्षामा॑ प्र॒थ॒मे ऋ॒तेना॑भिश्रा॒वे भ॑वतः स॒त्यवा॑चा । दे॒वो यन्मर्ता॑न् य॒जथा॑य कृ॒ण्वन्त्सीद॒द्धोता॑ प्र॒त्यङ् स्वमसुं॒ यन् ॥ २९ ॥

द्यावा॑ । ह॒ । क्षामा॑ । प्र॒थ॒मे इति॑ । ऋ॒तेन॑ । अ॒भि-श्रा॒वे । भ॒व॒तः । स॒त्य-वा॑चा ॥ दे॒वः । यत् । मर्ता॑न् । य॒जथा॑य । कृ॒ण्वन् । सीद॑त् । होता॑ । प्र॒त्यङ् । स्वम् । असु॑म् । यन् ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(द्यावा क्षामा) सूर्य और पृथिवी [के समान उपकारी], (प्रथमे) मुख्य, (सत्यवाचा) सत्यवाणी वाली [दो प्रजायें स्त्री और पुरुष] (ह) निश्चय करके (ऋतेन) सत्य धर्म से (अभिश्रावे) पूरी कीर्ति के बीच

२९—(द्यावा) द्यौः । सूर्यः (ह) प्रसिद्धौ (क्षामा) पृथिवी—निघ० १ । १ (प्रथमे) मुख्ये (ऋतेन) सत्यधर्मेण (अभिश्रावे) श्रु श्रवणे—घञ् । सर्व-यशसि (भवतः) वर्तेते (सत्यवाचा) सत्यवाचौ । सत्यवादिन्यौ स्त्रीपुरुष-

(भवतः) होते हैं । (यत्) क्योंकि (होता) दानी, (देवः) प्रकाशमान [परमेश्वर] (मर्तान्) मनुष्यों को (यजथाय) परस्पर मिलने के लिये (कृण्वन्) बनाता हुआ और (स्वम्) अपनी (असुम्) बुद्धि को (यन्) प्राप्त होता हुआ (प्रत्यङ्) सामने (सीदत्) बैठता है ॥ २६ ॥

भावार्थ—सब में मुख्य सर्वोपकारी स्त्री पुरुषही कीर्त्ति पाते हैं, क्योंकि सर्वव्यापक परमात्मा मनुष्यों को परस्पर सहायक बनाकर कर्मों का फल देने के लिये अपने ज्ञान से सब के सन्मुख रहता है ॥ २६ ॥

मन्त्र २६, ३० ऋग्वेद में हैं १० । १२ । १,२ ॥

देवो देवान् परिभूर्ऋतेन वहा नो हव्यं प्रथमश्चिकित्वान् । धूमकेतुः समिधा भाऋजीको मन्द्रो होता नित्यो वाचा यजीयान् ॥ ३० ॥ (३)

देवः । देवान् । परि-भूः । ऋतेन । वह । नः । हव्यम् । प्रथमः । चिकित्वान् ॥ धूम-केतुः । सम्-इधा । भाः-ऋजीकः । मन्द्रः । होता । नित्यः । वाचा । यजीयान् ॥ ३० ॥ (३)

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (देवः) प्रकाशमान, (ऋतेन) सत्य धर्म से (देवान्) गतिमान् लोकों में (परिभूः) व्यापता हुआ, (प्रथमः) पहिले से वर्तमान (चिकित्वान्) [सब] जानता हुआ तू (नः) हमारे लिये (हव्यम्) ग्राह्य पदार्थ (वह) पहुंचा । (समिधा) समिधा [काष्ठ

रूपे प्रजे (देवः) प्रकाशमानः परमेश्वरः (यत्) यतः (मर्तान्) मनुष्यान् (यजथाय) संगतिकरणाय (कृण्वन्) कुर्वन् (सीदत्) निषीदति (होता) दानी (प्रत्यङ्) अभिमुखः सन् (स्वम्) स्वकीयम् (असुम्) प्रज्ञाम्—निघ० ३ । ६ (यन्) गच्छन् । प्राप्नुवन् ॥

३०—(देवः) प्रकाशमानः परमेश्वरः (देवान्) गतिमतो लोकान् (परिभूः) परिभवन् । सर्वतो व्याप्नुवन् (ऋतेन) सत्यधर्मेण (वह) आनय (नः) अस्मान् (हव्यम्) ग्राह्यं पदार्थम् (प्रथमः) आदिमः (चिकित्वान्) सर्वं जानन् (धूमकेतुः) धूमेन ज्ञायमानः । धूमध्वजोऽग्निः (समिधा) समिन्धनेन ।

आदि] से (धूमकेतुः) धुयें के झंडे वाले [अग्निरूप] तू (भाऋजीकः) बड़े प्रकाश वाला, (मन्द्रः) आनन्द दाता, (होता) दानकर्ता (नित्यः) सदा वर्तमान और (वाचा) वाणी द्वारा (यजीयान्) अति संयोग करने वाला है ॥ ३० ॥

भावार्थ—मनुष्य अनादि अनन्त सर्वस्रष्टा परमात्मा को सर्वव्यापक, सर्वनियन्ता और सर्वज्ञ जान कर पुरुषार्थ के साथ ग्राह्य पदार्थों का उपार्जन करें ॥ ३० ॥

अर्चामि वां वर्धायापो घृतस्नू द्यावाभूमी शृणुतं रोदसी मे ।
अहा यद् देवा असुनीतिमायन् मध्वा नो अत्र पितरा शिशीताम् ॥ ३१ ॥

अर्चामि । वाम् । वर्धाय । अपः । घृतस्नू इति घृत-स्नू । द्यावाभूमी इति । शृणुतम् । रोदसी इति । मे ॥ अहा । यत् । देवाः । असु-नीतिम् । आयन् । मध्वा । नः । अत्र । पितरा । शिशीताम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—(घृतस्नू) हे जल समान [व्यवहार को] शुद्ध करने वाले ! [दोनों माता पिता] (वर्धाय) [अपने] बढ़ने के लिये (वाम्) तुम दोनों के (अपः) कर्म की (अर्चामि) मैं पूजा करता हूं, (रोदसी) हे व्यवहार की रक्षक ! [दो प्रजाओ] तुम (द्यावाभूमी) सूर्य और भूमि [के समान उप-

---

सन्दीपनसाधनेन काष्ठादिना (भाऋजीकः) ऋजेश्च । उ० ४ । २२ । भास्+ ऋज गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु—ईकन्, कित् । भाऋजीकः प्रसिद्धभाः—निरु० ६ । ४ । बहुप्रकाशयुक्तः (मन्द्रः) मोदयिता । आनन्दयिता (होता) दाता (नित्यः) सदा वर्तमानः (वाचा) वाण्या (यजीयान्) यष्टृ—ईयसुन् । तुरिष्ठेमेयःसु । पा० ६ । ४ । १५४ । तृचो लोपः । अत्यन्तं संयोजकः ॥

३१—(अर्चामि) पूजयामि । सत्करोमि (वाम्) युवयोः (वर्धाय) वृधेर्घञ् । वृद्धये (अपः) कर्म (घृतस्नू) ष्णा शौचे—डु । हे उदकमिव व्यवहारशोधयित्र्यौ (द्यावाभूमी) सूर्यभूलोकसमानोपकारिण्यौ (शृणुतम्) (रोदसी) रुधेरसुन् । धस्य दः, ङीप्, पूर्वसवर्णदीर्घः । रोदसी रोधसी द्यावापृथिव्यौ

कारी होकर] (मे) मेरी (शृणुतम्) सुनो। (यत्) क्योंकि (अहा) दिन और (देवाः) गतिमान् लोक (असुनीतिम्) प्राणदाता [परमात्मा] को (आयन्) प्राप्त होते हैं, (अत्र) यहां [संसार में] (नः) हमें (पितरा) माता पिता [आप दोनों] (मध्वा) ज्ञान से (शिशीताम्) तीक्ष्ण करें ॥ ३१ ॥

भावार्थ—जो माता पिता आदि पूजनीय विद्वानों के कर्मों से और संसार के विविध पदार्थों से परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे ही महाज्ञानी होते हैं ॥ ३१ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १२ । ४ ॥

स्वावृग् देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी ।
विश्वे देवा अनु तत् ते यजुर्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं घृतं वाः॥३२॥

स्वावृक् । देवस्य । अमृतम् । यदि । गोः । अतः । जातासः । धारयन्ते । उर्वी इति ॥ विश्वे । देवाः । अनु । तत् । ते । यजुः । गुः । दुहे । यत् । एनी । दिव्यम् । घृतम् । वाः ॥३२॥

भाषार्थ—(यदि) जब कि (देवस्य) प्रकाशमय परमेश्वर का (अमृतम्) अमृत [जीवन सामर्थ्य] (गोः) पृथिवी के लिये (स्वावृक्) सहज में पाने योग्य है, (अतः) इसी [जीवन सामर्थ्य] से (जातासः) उत्पन्न हुये प्राणी (उर्वी) पृथिवी पर (धारयन्ते) [अपने को] रखते हैं । हे परमात्मन् ! (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (ते) तेरे (तत्) उस (यजुः अनु)

विरोधनात्—निरु० ६ । १ । हे व्यवहारस्यावरोधयित्र्यौ रक्षित्र्यौ प्रजे (मे) मम वचः (अहा) दिनानि (यत्) यतः (देवाः) गतिमन्तो लोकाः (असुनीतिम्) प्राणप्रापकं परमात्मनम् (आयन्) लडर्थे—लङ् । यन्ति । प्राप्नुवन्ति (मध्वा) मधुना । ज्ञानेन (नः) अस्मान् (अत्र) संसारे (पितरा) मातापितरौ (शिशीताम्) शो तनूकरणे लोटि छान्दसंरूपम् । तीक्ष्णीकुरुतां भवत्यौ ॥

३२—(स्वावृक्) सु+आङ्+वृजी वर्जने—क्विप् । सुष्ठु सहजेन आवर्जनीयमाहरणीयं ग्राह्यम् (देवस्य) प्रकाशमयस्य परमेश्वरस्य (अमृतम्) अमरणम् । जीवनसामर्थ्यम् (यदि) यदा (गोः) चतुर्थ्यां षष्ठी । गवे । भूमये (अतः) अस्मात् अमृतात् (जातासः) उत्पन्नाः प्राणिनः (धारयन्ते) आत्मानं धारयन्ति (उर्वी) सप्तम्यां पूर्वसवर्णदीर्घः । ईदूतौ च सप्तम्यर्थे । पा० १ । १ । १९ ।

पूजनीय कर्म के पीछे (गुः) चलते हैं, (यत्) क्योंकि (एनी) चलने वाली भूमि (दिव्यम्) श्रेष्ठ (घृतम्) सार युक्त (वाः) वरणीय उत्तम पदार्थ (दुहे) भरपूर करती है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने प्राणियों के पालन के लिये पृथिवी पर प्रकाश, वायु, जल, अन्न आदि अनेक पदार्थ स्वयं पाने योग्य बनाये हैं, सब विद्वान् लोग परमेश्वर के नियमों को समझ कर संसार में अनेक लाभ उठाते हैं ॥३२॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १२ । ३ ॥

किं स्विन्नो राजा जगृहे कदुस्याति व्रतं चकृमा को वि वेद । मित्रश्चिद्धि ष्मा जुहुराणो देवांछ्लोको न यातामपि वाजो अस्ति ॥ ३३ ॥

किम् । स्वित् । नः । राजा । जगृहे । कत् । अस्य । अति । व्रतम् । चकृम । कः । वि । वेद ॥ मित्रः । चित् । हि । स्म । जुहुराणः । देवान् । श्लोकः । न । याताम् । अपि । वाजः । अस्ति ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(किं स्वित्) क्यों [किस कर्म फल से] (नः) हमें (राजा) राजा [परमेश्वर] ने (जगृहे) ग्रहण किया है [सुख दिया है], (कत्) कब (अस्य) इस [परमात्मा] के (व्रतम्) नियम को (अति चकृम) हम ने

इति प्रगृह्यम् । उर्व्याम् । पृथिव्याम् (विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः (अनु) अनुसृत्य (तत्) (ते) तव (यजुः) अर्त्तिस्तृपृवपियजि० । उ० २ । ११७ । यज पूजायाम्—उसि, नित् । पूजनीयं कर्म (गुः) गच्छन्ति (दुहे) तलोपः । दुग्धे । प्रपूरयति (यत्) यतः (एनी) वीज्याज्वरिभ्यो निः । उ० ४ । ४८ । इण् गतौ-नि । एन्यो नद्यः—निघ० १ । १३ । गमनशीला पृथिवी (दिव्यम्) श्रेष्ठम् (घृतम्) सारयुक्तम् (वाः) वारयतेः क्विप् । वरणीयं द्रव्यम् ॥

३३—(किं स्वित्) कस्मात् कर्मफलात् (नः) अस्मान् (राजा) परमेश्वरः (जगृहे) जग्राह । गृहीतवान् (कत्) कदा (अस्य) परमेश्वरस्य (व्रतम) नियमम् (अति चकृम) वयमतिक्रान्तवन्तः (कः) प्रजापतिः परमेश्वरः (वि)

उल्लंघन किया है [जिस से क्लेश पाया है], (कः) प्रजापति परमेश्वर [इस को] (वि) विविध प्रकार (वेद) जानता है। (हि) क्योंकि (मित्रः) सब का मित्र [परमात्मा] (चित्) ही (स्म) अवश्य (देवान्) उन्मत्तों को (जुहुराणः) मरोड़ देने वाला और (याताम्) गतिशीलों [पुरुषार्थियों] का (अपि) ही (श्लोकः न) स्तुति के समान (वाजः) बल (अस्ति) है ॥३३॥

भावार्थ—पूर्वजन्म के फल की व्यवस्था को, जो हमारे अकस्मात् सुख दुःख का कारण है, परमेश्वर जानता है, परन्तु वह अपनी न्याय व्यवस्था से उन्मत्त आलसियों को कष्ट और उद्योगियों को सुख देता है ॥ ८ ॥

मन्त्र ३३—३६ ऋग्वेद में हैं—१० । १२ । ५—८ ॥

दुर्मन्त्वत्रामृतस्य नाम सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति ।
यमस्य यो मनवते सुमन्त्वग्ने तमृष्व पाह्यप्रयुच्छन् ॥ ३४ ॥

दुः-मन्तु । अत्र । अमृतस्य । नाम । स-लक्ष्मा । यत् । विषु-रूपा । भवाति ॥ यमस्य । यः । मनवते । सु-मन्तु । अग्ने । तम् । ऋष्व । पाहि । अप्र-युच्छन् ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—(अत्र) यहां [संसार में] (अमृतस्य) अमर [अविनाशी परमात्मा] का (नाम) नाम (दुर्मन्तु) दुर्माननीय [सर्वथा अपूजनीय] [होवे], (यत्) यदि (सलक्ष्मा) एकसे लक्षण वाली [धर्मव्यवस्था] (विषुरूपा) नाना स्वभाव वाली [चंचल, अधार्मिक] (भवाति) हो जावे।

विविधम् (वेद) वेत्ति (मित्रः) सर्वसुहृत् (चित्) एव (हि) यस्मात् कारणात् (स्म) अवश्यम् (जुहुराणः) ह्वृ कौटिल्ये—कानच् । कुटिलीकुर्वाणः (देवान्) दिवु मदे—पचाद्यच् । उन्मत्तान् । अलसान् (श्लोकः) स्तुतिः (न) यथा (याताम्) या गतौ—शतृ । गच्छताम् (अपि) एव (वाजः) बलम् (अस्ति) भवति ॥

३४—(दुर्मन्तु) कमिम निजनि० । उ० १ । ७३ । मन पूजायाम्—तु दुर्माननीयम् । न कदापिसत्करणीयम् (अत्र) संसारे (अमृतस्य) अविनाशिनः परमेश्वरस्य (नाम) नामधेयम् (सलक्ष्मा) समानलक्षणा धर्मव्यवस्था (यत्) यदि (विषुरूपा) नाना स्वभावा । चंचला । अधार्मिका (भवाति) भवेत्

(यः) जो कोई [मनुष्य] (यमस्य) [तुझ] न्यायकारी परमेश्वर के [नाम को] (सुमन्तु) बड़ा माननीय (मनवते) मानता है, (अग्ने) हे ज्ञानमय ! (ऋष्व) हे महान् परमेश्वर ! (तम्) उसको (अप्रयुच्छन्) बिना चूके हुये (पाहि) पाल ॥ ३४ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा अन्याय करे सब संसार उलट पलट हो जावे। जो कोई मनुष्य उस की न्यायव्यवस्था पर चलते हैं, वे सुख पाते हैं ॥ ३४ ॥

इस मन्त्र का दूसरा पाद मन्त्र २ में आया है ॥

यस्मि॑न्दे॒वा वि॒दथे॑ मा॒दय॑न्ते वि॒वस्व॑तः॒ सद॑ने धा॒रय॑न्ते। सूर्ये॒ ज्योति॒रद॑धुर्मा॒स्य॑१॒क्तून् परि॑ द्योत॒निं च॑रतो॒ अज॑स्रा॥३५॥

यस्मि॑न्। दे॒वाः। वि॒दथे॑। मा॒दय॑न्ते। वि॒वस्व॑तः। सद॑ने। धा॒रय॑न्ते॥ सूर्ये॑। ज्योतिः॑। अद॑धुः। मा॒सि। अ॒क्तून्। परि॑। द्यो॒त॒निम्। च॒र॒तः। अज॑स्रा ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस [परमात्मा] में (देवाः) दिव्य नियम (विदथे) विज्ञान के बीच (मादयन्ते) तृप्त रहते हैं और (विवस्वतः) प्रकाशमय [परमेश्वर] के (सदने) घर (ब्रह्माण्ड] में (धारयन्ते) [अपने को] ठहराते हैं। (सूर्ये) सूर्य में (ज्योतिः) ज्योति और (मासि) चन्द्रमा में (अक्तून्) [सूर्य की] किरणों को (अदधुः) उन [नियमों] ने रक्खा है,

---

(यमस्य) न्याककारिणः परमेश्वरस्य, नाम—इत्यस्यानुवृत्तिः (यः) कश्चित् पुरुषः (मनवते) मनुते। जानाति (सुमन्तु) सुमाननीयम् (अग्ने) हे ज्ञानमय परमेश्वर (तम्) पुरुषम् (ऋष्व) सर्वनिघृष्वरिष्व०। उ० १। १५३। ऋष गतौ दर्शने च—वन्, गुणाभावः। ऋषिर्दर्शनात्—निरु० २। ११। ऋषो महन्नाम—निघ० ३। ३। हे महन् परमेश्वर (पाहि) पालय (अप्रयुच्छन्) अप्रमाद्यन् ॥

३५—(यस्मिन्) परमात्मनि (देवाः) दिव्यनियमाः (विदथे) विज्ञाने (मादयन्ते) तृप्ता भवन्ति (विवस्वतः) प्रकाशमयस्य परमेश्वरस्य (सदने) गृहे। ब्रह्माण्डे (धारयन्ते) आत्मनं धारयन्ति (सूर्ये) सूर्यलोके (ज्योतिः) तेजः (अदधुः) धारितवन्तस्ते दिव्यनियमाः (मासि) चन्द्रलोके (अक्तून्) अ०१७। १। ६। व्यञ्जकान् सूर्यरश्मीन् (द्योतनिम्) अर्त्तिसृधृ०। उ० २। १०२।

(अजस्रा) निरन्तर वे दोनों (द्योतनिम्) उस प्रकाशमान [परमात्मा] की (परि चरतः) सेवा करते हैं ॥ ३५ ॥

भावार्थ—ऋषि मुनि लोग ध्यान लगाकर जिस परमात्मा के ज्ञान का प्रचार संसार में फैलाते हैं, उसी परमेश्वर के नियम से सूर्य चन्द्र आदि लोक उपकार करते हैं ॥ ३५ ॥

यस्मि॑न् दे॒वा मन्म॑नि सं॒चर॑न्त्यपी॒च्ये॒ ३॒ न व॒यम॑स्य वि॒द्म । मि॒त्रो नो॒ अत्रादि॑ति॒रना॑गान्त्सवि॒ता दे॒वो वरु॑णाय वोचत् ॥३६

यस्मि॑न् । दे॒वाः । मन्म॑नि । स॒म्ऽचर॑न्ति । अ॒पी॒च्ये॑ । न । व॒यम् । अ॒स्य । वि॒द्म ॥ मि॒त्रः । नः॒ । अत्र॑ । अदि॑तिः । अना॑गान् । स॒वि॒ता । दे॒वः । वरु॑णाय । वो॒च॒त् ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस [परमात्मा] में (देवाः) दिव्य नियम (अपीच्ये) गुप्त (मन्मनि) ज्ञान के बीच (संचरन्ति) चलते रहते हैं, (वयम्) हम लोग (अस्य) उसे (न) नहीं (विद्म) जानते हैं। (मित्रः) सब का मित्र, (अदितिः) अखण्ड, (सविता) सब का उत्पन्न करने हारा, (देवः) प्रकाशमान परमात्मा (अनागान् नः) हम निरपराधियों [धार्मिक पुरुषार्थियों] को (अत्र) इस [विषय] में (वरुणाय) श्रेष्ठ गुण के लिये (वोचत्) उपदेश करे ॥ ३६ ॥

द्युत दीप्तौ—अनि। प्रकाशमानं तं परमेश्वरम् (परि चरतः) सेवेते (अजस्रा) निरन्तरौ तौ सूर्याचन्द्रौ ॥

३६—(यस्मिन्) परमात्मनि (देवाः) दिव्यनियमाः (मन्मनि) ज्ञाने (संचरन्ति) विचरन्ति (अपीच्ये) ऋत्विग् दधृक्०। पा० ३। २। ५९। अपि+अञ्चतेः क्विन्। भवे छन्दसि च। पा० ४। ४। ११०। इति यत्। अपीच्यं निर्णीतान्तर्हितनाम—निघ० ३। २५। अन्तर्हिते। गुप्ते (न) निषेधे (वयम्) विद्वांसः (अस्य) इदम् (विद्म) जानीमः (मित्रः) सुहृत् (नः) अस्मान् (अत्र) अस्मिन् विषये (अदितिः) अखण्डः। अविनाशी (अनागान्) इण आगोऽपराधे च। उ० ४। २१२। इति श्रवणाद् इण् गतौ—ड, आगादेशः। अनागसः। निरपराधिनः (सविता) सर्वोत्पादकः (देवः) प्रकाशमयः परमात्मा (वरुणाय) श्रेष्ठगुणाय (वोचत्) कथयेत्। उपदिशेत् ॥

भावार्थ—परमात्मा के नियम संसार में ऐसे गुप्त हैं कि जितना जितना विद्वान् लोग उन्हें खोजते हैं, उतना ही अधिक जानते जाते हैं। मनुष्य निरालसी होकर परमेश्वर की शरण में रहकर सदा पुरुषार्थ करें ॥ ३६ ॥

मन्त्रौ ३७, ३८ ॥

इन्द्रो देवता [ऋग्वेदे ८। २४। १,२ यथा] ॥ ३७ निचृदुष्णिक्; ३८ उष्णिक् ॥

राजनिर्वाचनोपदेशः—राजा के चुनाव का उपदेश ॥

सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे ।

स्तुष ऊ षु नृतमाय धृष्णवे ॥ ३७ ॥

सखायः । आ । शिषामहे । ब्रह्म । इन्द्राय । वज्रिणे ॥

स्तुषे । ऊं इति । सु । नृ-तमाय । धृष्णवे ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—(सखायः) हे मित्रो ! (वज्रिणे) वज्र [अस्त्र-शस्त्र] रखने वाले, (नृतमाय) बहुत बड़े नेता, (धृष्णवे) साहसी (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] को (ब्रह्म) ब्रह्म ज्ञान (स्तुषे) स्तुति करने के लिये (उ) अवश्य (सु) भले प्रकार (आ शिषामहे) हम निवेदन करें ॥ ३७ ॥

भावार्थ—सब विद्वान् लोग महागुणी, नीतिज्ञ पुरुषार्थी मनुष्य को राजसिंहासन पर विराजने के लिये निवेदन करें ॥ ३७ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—८। २४। १ और सामवेद में पू० ४। १०। १० ॥

शवसा ह्यसि श्रुतो वृत्रहत्येन वृत्रहा ।

मघैर्मघोनो अति शूर दाशसि ॥ ३८ ॥

३७—(सखायः) हे सुहृदः (आशिषामहे) आङ्ःशासु इच्छायाम्, लेटि, आडागमः। शास इदङ्हलोः। पा० ६। ४। ३४। इति इत्वं छान्दसम्। शासिवसिघसीनां च। पा० ८। ३। ६०। इति षत्वम्। इच्छेम। निवेदयेम (ब्रह्म) बृहत् तत्त्वज्ञानम् (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते जनाय (वज्रिणे) अस्त्रशस्त्रधारिणे (स्तुषे) तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्से०। पा० ३। ४। ६। ष्टुञ् स्तुतौ—क्से। स्तोतुम् (उ) एव (सु) सुष्ठु (नृतमाय) नेतृतमाय (धृष्णवे) प्रगल्भाय। साहसिने ॥

शवसा । हि । असि । श्रुतः । वृत्र-हत्येन । वृत्र-हा ॥
मघैः । मघोनः । अति । शूर । दाशसि ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(हि) क्योंकि, (शूर) हे शूर ! तू (शवसा) बल से (श्रुतः) विख्यात और (वृत्रहत्येन) दुष्टों के मारने से (वृत्रहा) दुष्ट नाशक (असि) है, और (मघैः) धनों के कारण (मघोनः अति) धन वालों से बढ़कर (दाशसि) तू दान करता है ॥ ३८ ॥

भावार्थ—हे राजन् ! आप महाबली, शत्रुनाशक और सुपात्रों के लिये बहुत दान देने वाले हैं, इन गुणों से हम आप को राजा बनाते हैं ॥ ३८ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—८ । २४ । २ ॥

मन्त्रः ३९ ॥

मित्रो देवता ॥ निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजकृत्योपदेशः—राजा के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

स्तेगो न क्षामत्येषि पृथिवीं मही नो वाता इह वान्तु भूमौ
मित्रो नो अत्र वरुणो युज्यमानो अग्निर्वने न व्यसृष्ट शोकम् ३९

स्तेगः । न । क्षाम् । अति । एषि । पृथिवीम् । मही इति ।
नः । वाताः । इह । वान्तु । भूमौ ॥ मित्रः । नः । अत्र ।
वरुणः । युज्यमानः । अग्निः । वने । न । वि । असृष्ट । शोकम् ३९

भाषार्थ—[हे राजन् !] (स्तेगः न) संग्रह कर्ता पुरुष के समान (क्षाम्) निवास देने वाली (पृथिवीम् अति) पृथिवी पर (एषि) तू चलता

३८—(शवसा) बलेन (हि) यस्मात् कारणात् (असि) (श्रुतः) विख्यातः (वृत्रहत्येन) शत्रुहननेन (वृत्रहा) दुष्टानां हन्ता (मघैः) धनैः (मघोनः) मघवतः । धनवतः पुरुषान् (अति) अतीत्य (शूर) हे वीर (दाशसि) ददासि ॥ ३८ ॥

३९—(स्तेगः) मुदिग्रोर्गग्घौ । उ० १ । १२८ । स्त्यै शब्दसंघातयोः—गप्रत्ययः । पृषोदरादिरूपम् । संग्रहकर्ता पुरुषः (न) यथा (क्षाम्) अन्येष्वपि

है, (वाताः) वायुओं [के समान वेग वाले पुरुष] (इह) यहां पर [राज्य में] (नः) हमारे लिये (मही) बड़ी (भूमौ) भूमि पर (वान्तु) चलें। (अत्र) यहां पर (नः) हमारे (युज्यमानः) मिलते हुये (वरुणः) श्रेष्ठ (मित्रः) मित्र [आप] ने (शोकम्) प्रताप को (वि) दूर दूर (असृष्ट) फैलाया है, (अग्निः न) जैसे आग (वने) वन में [ताप फैलाता है] ॥ ३९ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि बहुत धन का संग्रह करके राज्य की रक्षा करे और प्रजागणों को उद्योगी बना कर शत्रुओं को मारे ॥ ३९ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ३१ । ९ । और वहां [विश्वे—देवाः] देवता हैं ॥

मन्त्रः ४० ॥

रुद्रो देवता [ऋग्वेदे २ । ३३ । ११ यथा] ॥ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

राजकृत्योपदेशः–राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहत्नुमुग्रम् । मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत् ते नि वपन्तु सेन्यम् ॥४० (४)

स्तुहि । श्रुतम् । गर्त-सदम् । जनानाम् । राजानम् । भीमम् । उप-हत्नुम् । उग्रम् । मृड । जरित्रे । रुद्र । स्तवानः । अन्यम् । अस्मत् । ते । नि । वपन्तु । सेन्यम् ४० (४)

भाषार्थ—(रुद्र) हे रुद्र ! [शत्रुनाशक राजन्] (श्रुतम्) विख्यात, (गर्तसदम्) रथ पर बैठने वाले, (जनानाम्) मनुष्यों के बीच (राजानम्)

दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१। क्षि निवासगत्योः—डप्रत्ययः, टाप् । निवासयित्रीम् (अति) प्रति (एषि) गच्छसि (पृथिवीम्) पृथिवीराज्यम् (मही) सप्तम्याम् ईकारः । मह्याम् । महत्याम् (नः) अस्मभ्यम् (वाताः) वायव इव शीघ्रगामिनः पुरुषाः (इह) अत्र राज्ये (वान्तु) गच्छन्तु (भूमौ) (मित्रः) मित्रभूतो राजा (नः) अस्माकम् (अत्र) राज्ये (वरुणः) श्रेष्ठः (युज्यमानः) संगच्छमानः (अग्निः) पावकः (वने) वृक्षसमूहे (न) इव (वि) विविधम् । अति-दूरम् (असृष्ट) सृज विसर्गे—लुङ् । विस्तारितवान् (शोकम्) प्रतापम् ॥

४०—(स्तुहि) प्रशंस (श्रुतम्) विख्यातम् (गर्तसदम्) हसिमृग्रिण्०। उ० ३ । ८६ । गॄ विज्ञापने स्तुतौ च-तन् । रथोऽपि गर्त उच्यते गृणातेः स्तुतिक-

शोभायमान, (भीमम्) भयङ्कर, (उपहत्नुम्) बड़े मारने वाले, (उग्रम्) प्रचण्ड [सेनापति] की (स्तुहि) बड़ाई कर। और (स्तवानः) बड़ाई किया गया तू (जरित्रे) बड़ाई करने वाले के लिये (मृड) सुखी हो, (अस्मत्) हम से (अन्यम्) दूसरे पुरुष [अर्थात् शत्रु] को (ते) तेरे (सेन्यम्) सेना-दल (नि वपन्तु) काट डालें ॥ ४० ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि बड़े बड़े शूर सेनापतियों की बड़ाई करके आदर करे, और जो प्रजागण आदि राजा के श्रेष्ठ गुणों की स्तुति करें, वह उन्हें प्रसन्न करे और धर्मात्माओं की रक्षा करके शत्रुओं का नाश करे॥४०॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है। २। ३३। ११ ॥

मन्त्रः ४१—४३ ॥

सरस्वती देवता [ऋग्वेदे १०। १७। ७–९ यथा] ॥ ४१, ४२ निचृत् त्रिष्टुप्; ४३ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

सरस्वत्यावाहनोपदेशः—सरस्वती के आवाहन का उपदेश ॥

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥ ४१ ॥

सरस्वतीम्। देव-यन्तः। हवन्ते। सरस्वतीम्। अध्वरे। ताय-माने ॥ सरस्वतीम्। सु-कृतः। हवन्ते। सरस्वती। दाशुषे। वार्यम्। दात् ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—(सरस्वतीम्) सरस्वती [विज्ञानवती वेदविद्या] को,

मणः स्तुततमं यानम्—निरु० ३। ५। रथे स्थितिशीलम् (जनानाम्) मनुष्याणां मध्ये (राजानम्) शोभायमानम् (भीमम्) भयङ्करम् (उपहत्नुम्) अतिहन्तारम् (उग्रम्) प्रचण्डं सेनापतिम् (मृड) सुखी भव (जरित्रे) स्तोत्र (रुद्र) हे शत्रुनाशक (स्तवानः) स्तूयमानः (अन्यम्) भिन्नम्। शत्रुम् (अस्मत्) अस्मत्तः (ते) तव (नि वपन्तु) डु वप बीजसन्ताने छेदने च। नितरां छिन्दन्तु (सेन्यम्) एकवचनं बहुवचने। सेनादलानि ॥

४१—(सरस्वतीम्) विज्ञानवतीं वेदविद्याम् (देवयन्तः) देव—क्यच्।

(सरस्वतीम्) उसी सरस्वती को (देवयन्तः) दिव्यगुणों को चाहने वाले पुरुष (तायमाने) विस्तृत होते हुये (अध्वरे) हिंसा रहित व्यवहार में (हवन्ते) बुलाते हैं। (सरस्वतीम्) सरस्वती को (सुकृतः) सुकृती लोग (हवन्ते) बुलाते हैं, (सरस्वती) सरस्वती (दाशुषे) अपने भक्त को (वार्यम्) श्रेष्ठ पदार्थ (दात्) देती है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—विज्ञानी लोग परिश्रम के साथ आदर पूर्वक वेदविद्या का अभ्यास करके पुण्य कर्म करते और मोक्ष आदि इष्ट पदार्थ पाते हैं ॥ ४१ ॥

१—मन्त्र ४१—४३। कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं १०। १७। ७-९ ॥

२—इस सूक्त का मिलान करो—अ० ७। ६८ १-३ ॥

३—यह तीनों मन्त्र आगे भी हैं अ० १८। ४। ४५—४७॥

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे ४२

सरस्वतीम् । पितरः । हवन्ते । दक्षिणा । यज्ञम् । अभि-नक्षमाणाः ॥ आ-सद्य । अस्मिन् । बर्हिषि । मादयध्वम् । अनमीवाः । इषः । आ । धेहि । अस्मे इति ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(सरस्वतीम्) सरस्वती [विज्ञानवती वेदविद्या] को (दक्षिणा) सरल मार्ग में (यज्ञम्) यज्ञ [संयोगव्यवहार] को (अभिनक्षमाणाः) प्राप्त करते हुये (पितरः) पितर [पालन करने वाले विज्ञानी] लोग

देवान् श्रेष्ठगुणान् आत्मन इच्छन्तः (हवन्ते) आह्वयन्ति (सरस्वतीम्) (अध्वरे) हिंसारहिते व्यवहारे (तायमाने) विस्तार्यमाणे (सरस्वतीम)(सुकृतः) पुण्यकर्माणः (हवन्ते) (सरस्वती) (दाशुषे) आत्मानं दत्तवते स्वभक्ताय (वार्यम्) वरणीयं स्वीकरणीयं मोक्षादिपदार्थम् (दात्) अदात्। ददाति ॥

४२—(सरस्वतीम्) विज्ञानवतीं वेदविद्याम् (पितरः) पालनशीला विज्ञानिनः (हवन्ते) आह्वयन्ति (दक्षिणा) दक्षिण—आच्। दक्षिणतः। सरलमार्गे (यज्ञम्)संयोगव्यवहारम् (अभिनक्षमाणाः) अभितो गच्छन्तः (आसद्य)

(हवन्ते) बुलाते हैं। [हे विद्वानो ! (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) वृद्धि कर्म में (आसद्य) बैठकर (मादयध्वम्) [सब को] तृप्त करो, [हे सरस्वती !] (अस्मे) हम में (अनमीवाः) पीड़ा रहित (इषः) इच्छायें (आ धेहि) स्थापित कर ॥ ४२ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग निर्विघ्न होकर सरल रीति में सब से मिलकर वेदविद्या के प्रचार से विज्ञान की वृद्धि और इष्ट पदार्थ की सिद्धि करते हैं॥४२॥

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥४३ ॥

सरस्वति । या । स-रथम् । ययाथ । उक्थैः । स्वधाभिः । देवि । पितृ-भिः । मदन्ती ॥ सहस्र-अर्घम् । इडः । अत्र । भागम् । रायः । पोषम् । यजमानाय । धेहि ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वती ! [विज्ञानवती वेदविद्या] (देवि) हे देवी ! [उत्तम गुण वाली] (या) जो तू (उक्थैः) वेदोक्त स्तोत्रों से (सरथम्) रमणीय गुणों वाली होकर और (स्वधाभिः) आत्मधारण शक्तियों के सहित [विराजमान] (पितृभिः) पितरों [विज्ञानियों] के साथ (मदन्ती) तृप्ति होती हुयी (ययाथ) प्राप्त हुयी है। सो तू (अत्र) यहां

उपविश्य (अस्मिन्) (बर्हिषि) बृंहेर्नलोपश्च । उ० २ । १०९ । बृहि वृद्धौ—इषि । वृद्धिकर्मणि (मादयध्वम्) तर्पयत सर्वान्, हे विद्वांसः (अनमीवाः) पीडारहिताः(इषः) इच्छाः (आ धेहि) स्थापय, हे सरस्वति (अस्मे) अस्मासु ॥ ४२ ॥

४३—(सरस्वति) हे विज्ञानवति वेदविद्ये (या) या त्वम् (सरथम्) यथा भवति तथा। रमणीयगुणैः सह वर्तमाना सती (ययाथ) या प्रापणे—लिट्। प्राप्तासि (उक्थैः) वेदोक्तस्तोत्रैः (स्वधाभिः) आत्मधारणशक्तिभिः सह (देवि) हे उत्तमगुणवति (पितृभिः) पालनशीलैर्विज्ञानिभिः (मदन्ती) तृप्ता भवन्ती (सहस्रार्घम्) अर्ह पूजायाम्—घञ्, कुत्वम्। सहस्रप्रकार-

(इडः) विद्या के (सहस्रार्घम्) सहस्रों प्रकार पूजनीय (भागम्) भाग को और (रायः) धन की (पोषम्) वृद्धि को (यजमानाय) यजमान [विद्वानों के सत्कारी] के लिये (धेहि) दान कर ॥ ४३ ॥

भावार्थ—आत्मविश्वासी विज्ञानी लोग वेदविद्या प्राप्त करके आनन्द भोगते हैं। सब मनुष्य विद्वानों के सत्संग से वेदविद्या ग्रहण करके धन आदि की वृद्धि करें ॥ ४३ ॥

मन्त्राः ४४—४६ ॥

पितरो देवताः [ऋग्वेदे १० । १५ । १—३ यथा] ॥ ४४, ४६ निचृत् त्रिष्टुप्, ४५ त्रिष्टुप् ॥

पितृसत्कारोपदेशः—पितरों के सत्कार का उपदेश ॥

उदीरतामवर उत् परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥४४ ॥

उत् । ईरताम् । अवरे । उत् । परासः । उत् । मध्यमाः । पितरः । सोम्यासः ॥ असुम् । ये । ईयुः । अवृकाः । ऋतज्ञाः । ते । नः । अवन्तु । पितरः । हवेषु ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—(अवरे) छोटे पद वाले (सोम्यासः) ऐश्वर्य के हितकारी, (पितरः) पितर [पालन करने वाले विद्वान्] (उत्) उत्तमता से, (परासः) ऊंचे पद वाले (उत्) उत्तमता से और (मध्यमाः) मध्य पद वाले (उत्) उत्तमता से (ईरताम्) चलें। (ये) जिन (अवृकाः) भेड़िये वा चोर का स्वभाव न रखने वाले, (ऋतज्ञाः) सत्य धर्म जानने वाले [विद्वानों] ने (असुम्) प्राण [बल वा जीवन] (ईयुः) पाया है (ते) वे (पितरः) पितर

पूजनीयम् (इडः) इडायाः । विद्यायाः (अत्र) अस्मिन् संसारे (भागम्) अंशम् (रायः) धनस्य (पोषम्) वृद्धिम् (यजमानाय) संयोगकराय विदुषे (धेहि) धारय ॥

४४—(उत्) उत्तमतया (ईरताम्) गच्छन्तु (अवरे) नीचपदस्थाः (उत्) (परासः) उच्चपदस्थाः (उत्) (मध्यमाः) मध्यपदस्थाः (पितरः) पालनशीला विद्वांसः (सोम्यासः) सोमायैश्वर्याय हिताः (असुम्) प्राणम् । बलम् । जीवनम् (ईयुः) प्रापुः (अवृकाः) वृकस्य श्वापदस्य चौरस्य वा स्वभावरहिताः

[पालन करने वाले] लोग (नः) हमें (हवेषु) संग्रामों में (अवन्तु) बचावें ॥ ४४ ॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष को चाहिये कि विद्या, कर्म और स्वभाव की योग्यता के अनुसार विद्वानों का सत्कार करे, जिस से वे लोग सब की रक्षा करने में सदा तत्पर रहें ॥ ४४ ॥

मन्त्र ४४–४६ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १५ । १, ३, २ और यजुर्वेद में १९ । ४९, ५६, ६८ और और महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पितृयज्ञ विषय में भी व्याख्यात हैं ॥

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः । बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ४५

आ । अहम् । पितॄन् । सु-विदत्रान् । अवित्सि । नपातम् । च । वि-क्रमणम् । च । विष्णोः ॥ बर्हि-सदः । ये । स्वधया । सुतस्य । भजन्त । पित्वः । ते । इह । आ-गमिष्ठाः ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं ने (विष्णोः) विष्णु [सर्वव्यापक परमात्मा] से (सुविदत्रान्) बड़े ज्ञानी वा बड़े धनी (पितॄन्) पितरों [पालने वाले विद्वानों] को (च च) और भी (नपातम्) न गिरने वाली (विक्रमणम्) विविध प्रवृत्ति को (आ अवित्सि) पाया है । (ये) जिन आप (बर्हिषदः) उत्तम पद पर बैठने वालों ने (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (सुतस्य)

(ऋतज्ञाः) सत्यधर्मस्य ज्ञातारः (ते) (नः) अस्मान् (अवन्तु) रक्षन्तु (पितरः) (हवेषु) संग्रामेषु ॥

४५—(आ) समन्तात् (अहम्) प्रधानजनः (पितॄन्) पालकान् विदुषः (सुविदत्रान्) अ० १ । ३१ । ४ । सुविदेः कत्रन् । उ० ३ । १०८ । सु + विद ज्ञाने विद्लृ लाभे च—कत्रन् । उत्तमज्ञानान् । बहुधनान् (अवित्सि) विद्लृ लाभे—लुङ् । लब्धवानस्मि (नपातम्) पातरहितम् । अनश्वरम् (च) (विक्रमणम्) विविधप्रवृत्तिम् (च) अपि (विष्णोः) सर्वव्यापकात् परमेश्वरात् (बर्हिषदः) उत्तमपदस्थाः (ये) पितरः (स्वधया) स्वधारणशक्त्या (सुतस्य) ऐश्वर्ययुक्तस्य (भजन्त) अभजन्त । सेवनं कृतवन्तः (पित्वः) कमिमनिजनि० ।

ऐश्वर्य युक्त (पित्वः) रक्षा साधन अन्न का (भजन्त) सेवन किया है, (ते) वे तुम सब (इह) यहां (आगमिष्ठाः) आये हो ॥ ४५ ॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष परमात्मा की कृपा से धर्मात्माओं के साथ कार्य कुशलता को प्राप्त करे और जो बड़े पराक्रमी विद्वान् हों, उनका उचित सत्कार करके प्रजा की रक्षा करे ॥ ४५ ॥

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास ईयुः । ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु ॥ ४६ ॥

इदम् । पितृ-भ्यः । नमः । अस्तु । अद्य । ये । पूर्वासः । ये । अपरासः । ईयुः ॥ ये । पार्थिवे । रजसि । आ । नि-सत्ताः । ये । वा । नूनम् । सु-वृजनासु । दिक्षु ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (नमः) अन्न (पितृभ्यः) उन पितरों [पालन करने वाले वीरों] के लिये (अद्य) आज (अस्तु) होवे, (ये) जो (पूर्वासः) पहिले [विद्वान्] होकर और (ये) जो (अपरासः) अर्वाचीन [नवीन विद्वान्] होकर (ईयुः) चले हैं। (ये) जो (पार्थिवे) भूमि विद्या [राजनीति आदि] सम्बन्धी (रजसि) समाज में (आ) आकर (निषत्ताः) बैठे हैं, (वा) और (ये) जो (नूनम्) निश्चय करके (सुवृजनासु) बड़े बल [गढ़ सेना आदि] वाली (दिक्षु) दिशाओं में हैं ॥ ४६ ॥

उ० १ । ७२ । पा रक्षणे—तु, पिभावः । पितुरित्यन्ननाम पातेर्वा पिबतेर्वा प्यायतेर्वा—निरु० ६ । २४ । रक्षासाधनस्यान्नस्य (ते) तादृशाः पितरः (इह) अत्र (आगमिष्ठाः) लुङि रूपम् । यूयम् आगताःस्थ ॥

४६—(इदम्) (पितृभ्यः) पालकेभ्यो विद्वद्भ्यः (नमः) अन्नम् (अस्तु) (अद्य) इदानीम् (पूर्वासः) पूर्वे विद्वांसः सन्तः (ये) (अपरासः) अपरे । अर्वाचीनाः । नूतना विद्वांसः (ईयुः) जग्मुः । गताः (ये) (पार्थिवे) भूमिविद्यासम्बन्धिनि । राजनीतिसम्बन्धिनि (रजसि) लोके । समाजे (आ) आगत्य (निषत्ताः) निषण्णाः । उपविष्टाः (ये) (वा) चार्थे (नूनम्) निश्चयेन (सुवृजनासु) वृजनं बलनाम—निघ० २ । ९ । शोभनं वृजनं बलं दुर्गसेनादिकं यासां तादृशीषु (दिक्षु) प्राच्यादिषु ॥

भावार्थ—राजा उन वृद्ध और युवा विद्वानों का यथोचित आदर करे जो नीतिकुशल होकर भूमि सम्बन्धी अनेक विद्याओं का प्रचार करके राज्य की उन्नति करें ॥ ४६ ॥

मन्त्रः ४७ ॥

पितरो देवताः ॥ त्रिष्टुप्छन्दः ॥

पितृकर्त्तव्योपदेश—पितरों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

मात॑ली क॒व्यैर्य॒मो अङ्गि॑रोभि॒र्बृह॒स्पति॒र्ऋक्व॑भिर्वावृधा॒नः ।
यांश्च॑ दे॒वा वा॑वृ॒धुर्ये च॑ दे॒वांस्ते नो॑ऽवन्तु पि॒तरो॒ हवे॑षु ॥ ४७ ॥

मात॑ली । क॒व्यैः । य॒मः । अङ्गि॑रः-भिः । बृह॒स्पतिः । ऋक्व॑-भिः । व॒वृधा॒नः ॥ यान् । च॒ । दे॒वाः । व॒वृ॒धुः । ये । च॒ । दे॒वान् । ते । नः॒ । अ॒व॒न्तु॒ । पि॒तरः॑ । हवे॑षु ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—(मातली) ऐश्वर्य सिद्ध करने वाला, (यमः) संयमी और (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं का रक्षक पुरुष] (कव्यैः) बुद्धिमानों के हितकारी (अङ्गिरोभिः) विज्ञानी महर्षियों द्वारा (ऋक्वभिः) बड़ाई वाले कामों से (ववृधानः) बढ़ने वाला होता है। (च) और (यान्) जिन [पितरों] को (देवाः) विद्वानों ने (ववृधुः) बढ़ाया है, (च) और (ये) जिन [पितरों] ने (देवान्) विद्वानों को [बढ़ाया है], (ते) वे (पितरः) पितर [पालन करने वाले] लोग (नः) हमें (हवेषु) संग्रामों में (अवन्तु) बचावें ॥ ४७ ॥

४७—(मातली) अ० ८। ४। ५। सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। मा+तल प्रतिष्ठायाम्–इन् । विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः। मां लक्ष्मीं तालयति स्थापयतीतीति मातलिः (कव्यैः) कविभ्यो हितैः (यमः) संयमी पुरुषः (अङ्गिरोभिः) अ० २। १२। ४। अङ्गतेरसिरिरुडागमश्च। उ० ४। २३६। अगि गतौ—असि, इरुडागमश्च विज्ञानिभिः। महर्षिभिः (बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां पालको जनः (ऋक्वभिः) ऋच स्तुतौ—क्विप् । छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ। वा० पा० ५। २। १०२। मत्वर्थे वनिप्, छान्दसं कुत्वम्। स्तुतिमद्भिः कर्मभिः (ववृधानः) वर्धमानः (यान्) पितॄन् (च) (देवाः) विद्वांसः (ववृधुः) वर्धितवन्तः (ये) पितरः (च) (देवान्) विदुषः पुरुषान् (अन्यत्) पूर्ववत्—म० ४४ ॥

भावार्थ—ऐश्वर्य चाहने वाला जितेन्द्रिय पुरुष बड़े बड़े विद्वानों के उपदेश और वेदादि शास्त्रों के मनन से उन्नति करके संसार की रक्षा करें ॥४७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १४ । ३ और ऋग्वेद पाठ महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

मन्त्रः ४८ ॥

सोमो देवता [ऋग्वेद ६ । ४७ । १ यथा] ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

शूरवीरलक्षणोपदेशः—शूरवीर के लक्षण का उपदेश ॥

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम् ।
उतो न्व१स्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु ॥४८॥

स्वादुः । किल । अयम् । मधु-मान् । उत । अयम् । तीव्रः । किल । अयम् । रस-वान् । उत । अयम् ॥ उतो इति । नु । अस्य । पपि-वांसम् । इन्द्रम् । न । कः । चन । सहते । आ-हवेषु ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [सोम अर्थात् विद्यारस वा सोमलता आदि रस] (किल) निश्चय करके (स्वादुः) बड़ा स्वादु , (अयम्) यह (मधुमान्) विज्ञान युक्त [वा मधुर गुण युक्त], (उत) और (अयम्) यह (किल) निश्चय करके (तीव्रः) तेजस्वी, (उत) और (अयम्) यह (रसवान्) उत्तम रस वाला [बड़ा वीर्यवान्] है । (उतो) और भी (नु) अब (अस्य) इस [रस] के (पपिवांसम्) पी चुकने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले शूर पुरुष] को (कः चन) कोई भी (आहवेषु) संग्रामों में (न) नहीं

४८—(स्वादुः) आस्वादनीयः (किल) निश्चयेन (अयम्) सोमः । विद्यारसः । सोमलतादिमहौषधिरसः (मधुमान्) मधुविद्योपेतः । मधुगुणः (उत) अपि (अयम्) (तीव्रः) तेजस्वी (किल) (अयम्) (रसवान्) बहुवीर्यवान् (उत) (अयम्) (उतो) अपि च (नु) क्षिप्रम् (अस्य) रसस्य (पपिवांसम्) पीतवन्तम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं शूरपुरुषम् (न)

(सहते) हराता है ॥ ४८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी होकर विद्यारस को तथा परीक्षित महौषधियों के रस को चखकर तेजस्वी होते हैं, वे ही युद्धों में शत्रुओं को हराते हैं ॥ ४८ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—६ । ४७ । १ ॥

मन्त्रौ ४६, ५० ॥

यमो देवता [ऋग्वेदे १० । १४ । १,२ यथा] ॥ ४६ भुरिक् त्रिष्टुप् ; ५० निचृत् त्रिष्टुप्

परमात्मशक्त्युपदेशः—परमात्म की शक्ति का उपदेश ॥

प॒रे॒यि॒वांसं॑ प्र॒वतो॑ म॒हीरिति॑ ब॒हुभ्यः॒ पन्था॑मनुपस्पशा॒नम् । वैव॒स्व॒तं सं॒गम॑नं॒ जना॑नां य॒मं राजा॑नं ह॒विषा॑ सपर्यत ॥४६॥

प॒रे॒यि॒-वांस॑म् । प्र॒-वतः॑ । म॒हीः॑ । इति॑ । ब॒हु-भ्यः॑ । पन्था॑म् । अ॒नु॒-प॒स्प॒शा॒नम् ॥ वै॒व॒स्व॒तम् । स॒म्-गम॑नम् । जना॑नाम् । य॒मम् । राजा॑नम् । ह॒विषा॑ । स॒प॒र्य॒त ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—(प्रवतः) उत्तम गति वाली (महीः) बड़ी भूमियों को (परेयिवांसम्) पराक्रम से पहुंच चुके हुये, (इति) इसी से, (बहुभ्यः) बहुत से [लोकों और जीवों] के लिये (पन्थाम्) मार्ग (अनुपस्पशानम्) गांठने वाले (वैवस्वतम्) सूर्य लोकों में विदित, (जनानाम्) मनुष्यों के (संगमनम्) मेल कराने वाले (यमम्) यम [न्यायकारी परमात्मा] (राजानम्)

निषेधे (कश्चन) कोऽपि (सहते) पराभवति (आहवेषु) संग्रामेषु ॥

४६—(परेयिवांसम्) उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च । पा० ३ । २ । १०६ । परा + इण् गतौ—क्वसन्तो निपातितः । परा पराक्रमेण गतवन्तम् (प्रवतः) अ० ३ । १ । ४ । उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे । पा० ५ । १ । ११८ । इति उपसर्गात् साधने धात्वर्थे वर्तमानात् स्वार्थे वतिः प्रत्ययः । प्रकृष्टगतीः (महीः) भूमिलोकान् (इति) अस्मात् कारणात् (बहुभ्यः) सर्वलोकेभ्यः प्राणिभ्यश्च (पन्थाम्) मार्गम् (अनुपस्पशानम्) स्पश बाधनग्रन्थनग्रहणसंश्लेषणेषु कानच् । अनु निरन्तरं ग्रथ्नन् प्रबध्नन् (वैवस्वतम्) तत्र विदित इति च । पा० ५ । १ । ४३ । इत्यण्, बाहुलकात् । विवस्वत्सु सूर्यलोकेषु विदितम् (संगमनम्)

राजा [शासक] को (हविषा) भक्ति के साथ (सपर्यत) तुम पूजो ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा सब लोकों में व्यापक और सूर्य आदि का आकर्षक और मनुष्य आदि का नियामक है, सब लोग उस की उपासना से उन्नति करें ॥ ४६ ॥

मन्त्र ४६, ५० कुछ भेद से ऋग्वेद में-१० । १४ । १, २ । और ऋग्वेद पाठ महर्षि दयानन्द कृत संस्कार विधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत हैं ॥

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ । यत्रा नः पूर्वे पितरः परेता एना जज्ञानाः पथ्या३ अनु स्वाः ॥५०(५)

यमः । नः । गातुम् । प्रथमः । विवेद । न । एषा । गव्यूतिः । अप-भर्तवै । ऊं इति ॥ यत्र । नः । पूर्वे । पितरः । परा-इताः । एना । जज्ञानाः । पथ्याः । अनु । स्वाः ॥ ५० ॥ (५)

भाषार्थ—(प्रथमः) सब से पहिले वर्तमान (यमः) यम [न्यायकारी परमात्मा] ने (नः) हमारे लिये (गातुम्) मार्ग (विवेद) जाना, (एषा) यह (गव्यूतिः) मार्ग (उ) कभी (अपभर्तवै) हटा धरने योग्य (न) नहीं है। (यत्र) जिस [मार्ग] में (नः) हमारे (पूर्वे) पहिले (पितरः) पितर [पालन करने वाले बड़े लोग] (परेताः) पराक्रम से चले हैं, (एना) उसी से (जज्ञानाः) उत्पन्न हुये [प्राणी] (स्वाः) अपनी अपनी (पथ्याः अनु)

संगमयितारम् (जनानाम्) मनुष्याणाम् (यमम्) न्यायकारिणं परमात्मानम् (राजानम्) शासकम् (हविषा) भक्तिदानेन (सपर्यत) पूजयत ॥

५०—(यमः) न्यायकारी परमेश्वरः (नः) अस्मभ्यम् (गातुम्) मार्गम् (प्रथमः) सर्वादिमः (विवेद) विद ज्ञाने—लिट् । ज्ञातवान् (न) निषेधे (एषा) पूर्वस्थापिता (गव्यूतिः) पद्धतिः (अपभर्तवै) तुमर्थे सेसेन—से० । पा० ३ । ४ । ६ । इति तवै । अपभर्तुं दूरीकर्तुम् (उ) निश्चयेन (यत्र) यस्मिन् मार्गे (नः) अस्माकम् (पूर्वे) पूर्वजाः (पितरः) पालका महापुरुषाः (परेताः) पराक्रमेण गताः (एना) अनेन (जज्ञानाः) जाताः प्राणिनः (पथ्याः)

सड़कों पर [चलें] ॥ ५० ॥

भावार्थ—परमात्मा ने पहिले से पहिले सब के लिये वेदमार्ग खोल दिया है, जिस प्रकार हमारे पूर्वजों ने उस मार्ग पर चलकर यश पाया है, उसी वेदमार्ग पर चलकर सब मनुष्य उन्नति करें ॥ ५० ॥

मन्त्रौ ५१ । ५२ ॥

पितरो देवताः [ऋग्वेदे १० । १५ । ४, ६ यथा] ॥ ५१ विराडार्षी त्रिष्टुप्; ५२ भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

पितृसन्तानकर्त्तव्योपदेशः पितरों और सन्तानों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

बर्हिषदः पितर ऊत्य१ र्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् । त आ गतावसा शंतमेनाधा नः शं योररपो दधात ॥ ५१ ॥

बर्हि-सदः । पितरः । ऊती । अर्वाक् । इमा । वः । हव्या । चकृम । जुषध्वम् ॥ ते । आ । गत । अवसा । शम्-तमेन । अध । नः । शम् । योः । अरपः । दधात ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—(बर्हिषदः) हे उत्तम पद पर बैठने हारे (पितरः) पितरो [पालने वाले वीरो] (ऊती) रक्षा के साथ (अर्वाक्) सामने [होकर] (इमा) इन (हव्या) ग्राह्य भोजन आदि को (जुषध्वम्) सेवन करो [जिन को] (वः) तुम्हारे लिये (चकृम) हम ने बनाया है । (ते) वे तुम (शन्तमेन) अत्यन्त सुखदायक (अवसा) रक्षा के साथ (आ गत) आओ, (अध) फिर (नः) हमारे लिये (शम्) सुख, (योः) अभय और (अरपः) निर्दोष आचरण (दधात) धारण करते रहो ॥ ५१ ॥

पथे राजमार्गाय हितान् महामार्गान् (अनु) प्रति (स्वाः) स्वीयाः ॥

५१—(बर्हिषदः) उत्तमपदे सदनशीलाः (पितरः) हे पालकाः शूरवीराः (ऊती) ऊत्या । रक्षया (अर्वाक्) अभिमुखं भूत्वा (इमा) पुरोगतानि (वः) युष्मभ्यम् (हव्या) ग्राह्याणि भोजनादिवस्तूनि (चकृम) वयं संस्कृतवन्तः (ते) तादृशा यूयम् (आगत) आगच्छत (अवसा) रक्षणेन (शन्तमेन) अतिशयसुखदायकेन (अध) पुनः (नः) अस्मभ्यम् (शम् योः) शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्—निरु० ४ । २१ । सुखं च अभयं च (अरपः) निर्दोषाचरणम् (दधात) धारयेत ॥

भावार्थ—सब मनुष्य वयोवृद्ध और विद्यावृद्ध पितरों का भली भांति सत्कार करें और उनसे शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति की शिक्षा पावें ॥ ५१ ॥

मन्त्र ५१, ५२ कुछ भेद से ऋग्वेद मे हैं १० । १५ । ४, ६ और यजुर्वेद में भी—१६ । ५५, ६२ ॥

आच्या जानु॑ दक्षिण॒तो नि॒षद्ये॒दं नो॑ ह॒विर॒भि गृ॑णन्तु॒ विश्वे॑ ।
मा हिं॑सिष्ट पितरः॒ केन॑ चिन्नो॒ यद्व॒ आग॑ः पुरु॒षता॒ करा॑म ॥५२

आ-अच्यं॑ । जानु॑ । द॒क्षि॒ण॒तः । नि-सद्य॑ । इ॒दम् । नः॒ । ह॒विः । अ॒भि । गृ॒ण॒न्तु॒ । विश्वे॑ ॥ मा । हिं॒सि॒ष्ट॒ । पि॒त॒रः॒ । केन॑ । चि॒त् । नः॒ । यत् । वः॒ । आग॑ः । पु॒रु॒षता॑ । करा॑म ५२

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो ! [रक्षक विद्वानो] (विश्वे) आप सब (जानु) घुटना (आच्य) टेक कर और (दक्षिणतः) दाहिनी ओर (निषद्य) बैठकर (नः) हमारे (इदम्) इस (हविः) ग्राह्य अन्न को (अभि गृणन्तु) बड़ाई योग्य करें । (वः) तुम्हारा (यत्) जो कुछ (आगः) अपराध (कराम) हम करें, (केन चित्) उस किसी [अपराध] के कारण (नः) हमें (पुरुषता) अपने पुरुषपन से (मा हासिष्ट) मत दुःख दो ॥ ५२ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने पिता पितामह आदि पितरों को सत्कार पूर्वक बैठा कर भोजन आदि से सेवा किया करें और अपनी भूल चूक के लिये क्षमा मांगते रहें ॥ ५२ ॥

मन्त्रः ५३ ॥

त्वष्टा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

५२—(आच्य) अधो निपात्य (जानु) जानुप्रदेशम् (दक्षिणतः) अवामपार्श्वतः (निषद्य) उपविश्य (इदम्) (नः) अस्माकम् (हविः) ग्राह्य-भोजनम् (अभि गृणन्तु) स्तुत्यं कुर्वन्तु । सुखेन स्वीकुर्वन्तु (विश्वे) सर्वे भवन्तः (मा हिंसिष्ट) दुःखिनो मा कुरुत (पितरः) हे रक्षका विद्वांसः (केन चित्) केनापि दोषेण (नः) अस्मान् (यत्) (वः) युष्माकम् (आगः) दोषम् (पुरुषता) स्वपुरुषतया । मनुष्यत्वेन (कराम) लेटि रूपम् । कुर्याम ॥

अज्ञाननाशोपदेशः— अज्ञान के नाश का उपदेश ॥

त्वष्टा॑ दुहि॒त्रे व॑ह॒तुं कृ॑णोति॒ तेने॒दं विश्वं॒ भुव॑नं॒ समे॑ति ।
य॒मस्य॑ मा॒ता प॑र्यु॒ह्यमा॑ना म॒हो जा॒या विव॑स्वतो ननाश ।५३।

त्वष्टा॑ । दु॒हि॒त्रे । व॒ह॒तुम् । कृ॒णो॒ति॒ । तेन॑ । इ॒दम् । विश्व॑म् । भुव॑नम् । सम् । ए॒ति॒ ॥ य॒मस्य॑ । मा॒ता । प॒रि॒ऽउ॒ह्यमा॑ना । म॒हः । जा॒या । विव॑स्वतः । न॒ना॒श॒ ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—(त्वष्टा) त्वष्टा [प्रकाशमान सूर्य] (दुहित्रे) दुहिता [पूर्ति करने वाली उषा] का (वहतुम्) चलाना (कृणोति) करता है, (तेन) उस [चलने] के साथ (इदम्) यह (विश्वम्) सब (भुवनम्) जगत् (सम्) ठीक ठीक (एति) चलता है । (यमस्य) यम [दिन] की (माता) माता [बनाने वाली], (महः) बड़े (विवस्वतः) प्रकाशमान सूर्य की (जाया) पत्नी रूप [रात्रि] (पर्युह्यमाना) सब ओर हटायी गयी (ननाश) छिप जाती है ॥ ५३ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य उषा अर्थात् प्रभात किरणों को फैलाता जाता है, सब जगत् अपने अपने कामों में चेष्टा करता है, और जैसे जैसे दिन चढ़ता जाता है रात्रि का अन्धकार हटता जाता है, इसी प्रकार ज्ञानी पितर लोग अज्ञान हटाकर ज्ञान के प्रकाश से संसार को सुख पहुंचावें ॥ ५३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है–१० । १७ । १ ॥

भगवान् यास्क मुनि ने निरुक्त १२ । ११ में व्याख्या की है—"त्वष्टा दुहिता का वहन [चलाना] करता है, यह सब भुवन ठीक ठीक चलता है

५३—(त्वष्टा) प्रकाशमानः सूर्यः (दुहित्रे) षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । दुहितुः । प्रपूरयित्र्या उषसः (वहतुम्) वहनम् । चालनम् । (कृणोति) करोति (तेन) पूर्वोक्तेन कर्मणा गमनेन (इदम्) विश्वम्) सर्वम् (भुवनम्) जगत् (सम्) सम्यक् (एति) गच्छति । चेष्टते (यमस्य) दिनस्य (माता) निर्मात्री । रात्रिः (पर्युह्यमाना) प्रकाशेन पर्युत्सार्यमाणा (महः) महतः (जाया) पत्नीरूपा रात्रिः (विवस्वतः) प्रकाशमानस्य सूर्यस्य (ननाश) लडर्थे–लिट् । नश्यति । अदृष्टा भवति ॥

और यह सब प्राणी सब ओर से आकर मिलते हैं, यम की माता सब ओर को ले जायी गयी छिप गयी। रात्रि सूर्य की [पत्नी] सूर्य के उदय होने पर छिप जाती है " ॥

मन्त्रौ-५४, ५५ ॥

पितरो देवताः [ऋग्वेदे १० । १४ । ७, ८ यथा] ॥ निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः ॥

मनुष्योन्नत्युपदेशः—मनुष्य की उन्नति का उपदेश ॥

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्याणैर्येना ते पूर्वे पितरः परेताः ।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ५४

प्र । इहि । प्र । इहि । पथि-भिः । पूः-यानैः । येन । ते । पूर्वे । पितरः । परा-इताः ॥ उभा । राजाना । स्वधया । मदन्ता । यमम् । पश्यासि । वरुणम् । च । देवम् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] तू (प्र इहि) आगे बढ़, (पूर्याणैः) नगरों को जाने वाले (पथिभिः) मार्गों से (प्र इहि) आगे बढ़, (येन) जिस [कर्म] से (ते) तेरे (पूर्वे) पहिले (पितरः) पितर [रक्षक पिता आदि महापुरुष] (परेताः) पराक्रम से गये हैं। और (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (मन्दन्तौ) तृप्त होते हुये (उभा) दोनों (राजानौ) शोभायमान, [अर्थात्] (देवम्) प्रकाशमान (यमम्) यम [न्यायकारी परमात्मा] को (च) और (वरुणम्) वरुण [श्रेष्ठ जीवात्मा] को (पश्यासि) तू देखता रह ॥ ५४ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि पूर्व महात्माओं के वेदोक्त मार्ग पर चल कर देश देशान्तरों में जाकर उन्नति करे और सदा परमात्मा की उपासना

५४—(प्रेहि) प्रकर्षेण गच्छ (प्रेहि) (पथिभिः) मार्गैः (पूर्याणैः) पुरो नगरान् गच्छद्भिः (येन) कर्मणा (ते) तव (पूर्वे) पूर्वजाः (पितरः) पालका महापुरुषाः (परेताः) पराक्रमेण गताः (उभा) उभौ (राजानौ) शोभायमानौ (स्वधया) स्वधारणशक्त्या (मदन्तौ) तृप्यन्तौ (यमम्) न्यायकारिणं परमात्मानम् (पश्यासि) पश्येः (वरुणम्) श्रेष्ठं जीवात्मानम् (च) (देवम्) प्रकाशमानम् ॥

से जीवात्मा की दशा का चिन्तन करता रहे ॥ ५४ ॥

मन्त्र ५४, ५५ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १४ । ७, ८ और दोनों का ऋग्वेद पाठ महर्षि दयानन्दकृत संस्कार विधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

अपे॑त॒ वीत॒ वि च॑ सर्प॒तातो॒ऽस्मा ए॒तं पि॒तरो॑ लो॒कम॑क्रन् ।
अहो॑भिर॒द्भिर॒क्तुभि॒र्व्य॑क्तं य॒मो द॑दात्यव॒सान॑मस्मै ॥ ५५ ॥

अप॑ । इ॒त॒ । वि । इ॒त॒ । वि । च॒ । स॒र्प॒त॒ । अतः॑ । अ॒स्मै । ए॒तम् । पि॒तरः॑ । लो॒कम् । अ॒क्र॒न् ॥ अहः॑-भिः । अ॒त्-भिः । अ॒क्तु-भिः । वि-अ॑क्तम् । य॒मः । द॒दा॒ति॒ । अ॒व॒-सान॑म् । अ॒स्मै ॥५५॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (अतः) यहां से [इस घर वा विद्यालय आदि से] (अप इत) बाहिर चलो, (वि इत) विविध प्रकार चलो, (च) और (वि सर्पत) फैल जाओ, (अस्मै) इस [जीव के हित] के लिये (एतम्) यह (लोकम्) लोक [समाज] (पितरः) पितरों [रक्षक महात्माओं] ने (अक्रन्) बनाया है । (यमः) यम [न्यायकारी परमात्मा] (अस्मै) इस [समाज] को (अहोभिः) दिनों से, (अक्तुभिः) रातों से और (अद्भिः) जल [अन्न जल आदि] से (व्यक्तम्) स्पष्ट (अवसानम्) विराम [स्थिर पद] (ददाति) देता है ॥ ५५ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी लोग महापुरुषों के बनाये विद्यालय आदि से विद्या समाप्त करके विविध उद्योग करें और परमात्मा के उपकारों को विचारते हुये अपने समय और आहार विहार आदि का सुप्रयोग करके समाज को स्थिर सुख पहुंचावें ॥ ५५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में भी है—१२ । ४५ ॥

५५—(अप इत) दूरे गच्छत (वि इत) विविधं गच्छत (च) (वि सर्पत) विस्तृता भवत (अतः) अस्मात् स्थानात् (अस्मै) जीवाय (एतम्) (पितरः) पालकाः पुरुषाः (लोकम्) दर्शनीयं समाजम् (अकरन्) कृतवन्तः (अहोभिः) दिवसैः (अद्भिः) जलेन । अन्नजलादिना (अक्तुभिः) रात्रिभिः (व्यक्तम्) विशदम् (यमः) न्यायकारी परमात्मा (ददाति) (अवसानम्) विरामम् । स्थिरपदम् (अस्मै) समाजाय ॥

मन्त्रौ ५६, ५७ ॥

पितरो देवताः [यजुर्वेदे १६ । ७० यथा] ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पितृसन्तानकर्त्तव्योपदेशः—पितरों और सन्तानों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

उशन्तस्त्वेधीमह्युशन्तः समिधीमहि ।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ५६ ॥

उशन्तः । त्वा । इधीमहि । उशन्तः । सम् । इधीमहि ॥
उशन् । उशतः । आ । वह । पितॄन् । हविषे । अत्तवे ॥५६॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मचारी !] (उशन्तः) कामना करते हुये हम (त्वा) तुझे (इधीमहि) प्रकाशित करें, (उशन्तः) अभिलाषा करते हुये हम (सम्) मिलकर (इधीमहि) तेजस्वी करें। (उशन्) कामना करता हुआ तू (उशतः) कामना करते हुये (पितॄन्) पितरों [रक्षक जनों] को (हविषे) ग्रहण करने योग्य भोजन (अत्तवे) खाने के लिये (आ वह) ले आ ॥ ५६ ॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् माता पिता आदि बड़े लोग जितेन्द्रिय विद्वान् श्रेष्ठ सन्तान की कामना करें, वैसे ही सन्तान भी उन पितृजनों की सेवा करके गुण प्राप्त करें ॥ ५६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १६ । १२ और यजुर्वेद में १६ । ७० और महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पितृयज्ञविषय में भी व्याख्यात है ॥

द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि ।
द्युमान् द्युमत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ५७ ॥

५६—(उशन्तः) कामयमानाः (त्वा) त्वां ब्रह्मचारिणम् (इधीमहि) दीपयेम। तेजस्विनं कुर्याम (उशन्तः) (सम्) एकीभावे (इधीमहि) (उशन्) कामयमानः (उशतः) कामयमानान् (आ वह) आनय (पितॄन्) पालकान्। जनकादीन् (हविषे) द्वितीयार्थे चतुर्थी। हविः। ग्राह्यं भोजनम् (अत्तवे) अत्तुं भोक्तुम् ॥

द्यु-मन्तः । त्वा । इधीमहि । द्यु-मन्तः । सम् । इधीमहि ॥
द्यु-मान् । द्यु-मतः । आ । वह । पितॄन् । हविषे । अत्तवे ५७

भाषार्थ—[हे पुत्र !] (द्युमन्तः) बड़े गति वाले हम (त्वा) तुझे (इधीमहि) प्रकाशित करें, (द्युमन्तः) व्यवहार कुशल हम (सम्) एक होकर (इधीमहि) तेजस्वी करें। (द्युमान्) व्यवहार कुशल तू (द्युमतः) व्यवहार कुशल (पितॄन्) पितरों [रक्षक विद्वानों] को (हविषे) ग्रहण करने योग्य भोजन (अत्तवे) खाने के लिये (आ वह) ले आ ॥ ५७ ॥

भावार्थ—मन्त्र ५६ के समान है ॥ ५७ ॥

मन्त्राः ५८–६१ ॥

पितरो देवताः ॥ ५८ निचृत् त्रिष्टुप्; ५९ आर्षी पङ्क्तिः; ६० त्रिष्टुप्; ६१ अनुष्टुप् ॥

पितृसन्तानकर्त्तव्योपदेशः—पितरों और सन्तानों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ५८ ॥

अङ्गिरसः । नः । पितरः । नव-ग्वाः । अथर्वाणः । भृगवः । सोम्यासः ॥ तेषाम् । वयम् । सु-मतौ । यज्ञियानाम् । अपि । भद्रे । सौमनसे । स्याम ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे (अङ्गिरसः) महाविज्ञानी (पितरः) पितर [रक्षक पिता आदि बुद्धिमान् लोग] (नवग्वाः) स्तुति योग्य चरित्र वाले

५७—(द्युमन्तः) दिवु द्युतिगतिव्यवहारेषु—विच्। ततो मतुप्। दिव उत्। पा० ६।१।१३१। इत्युत्त्वम्। दीप्तिमन्तः। गतिमन्तः (द्युमन्तः) व्यवहारकुशलाः (द्युमान्) व्यवहारकुशलः (द्युमतः) व्यवहारकुशलान्। अन्यत् पूर्ववत्—म० ५६ ॥

५८—(अङ्गिरसः) महाविज्ञानिनो महर्षयः (नः) अस्माकम् (पितरः) पालका ज्ञानिनः पुरुषाः (नवग्वाः) अ० १४।१।५६। णु स्तुतौ—अप् + गम्लृ गतौ—ड्वप्रत्ययः। नवगतयः। स्तोतव्यचरित्राः। नवीनविद्याः प्राप्ताः

[वा नवीन नवीन विद्यायें प्राप्त करने और कराने हारे], (अथर्वाणः) निश्चल स्वभाव वाले, (भृगवः) परिपक्व ज्ञान युक्त और (सोम्यासः) ऐश्वर्य पाने योग्य [होवें]। (तेषाम्) उन (यज्ञियानाम्) पूजनीय महापुरुषों की (अपि) ही (सुमतौ) सुमति में और (भद्रे) कल्याण करने हारी (सौमनसे) मन की प्रसन्नता में (वयम्) हम (स्याम) होवें ॥ ५८ ॥

भावार्थ—सन्तानों को योग्य है कि बड़े बड़े विज्ञानी माता पिता आदि पूजनीय महात्माओं की उत्तम शिक्षा को सदा ग्रहण करें ॥ ५८ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १४ । ६ और यजुर्वेद में १६ । ५० ॥

इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध का मिलान करो—अथर्व० ६ । ५५ । ३ तथा ७ ॥ ६५ । १ ॥

अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरा गहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व ।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् बर्हिष्या निषद्य ॥ ५९ ॥

अङ्गिरःऽभिः । यज्ञियैः । आ । गहि । इह । यम । वैरूपैः । इह । मादयस्व ॥ विवस्वन्तम् । हुवे । यः । पिता । ते । अस्मिन् । बर्हिषि । आ । निऽसद्य ॥ ५९ ॥

भाषार्थ—(यम) हे संयमी जन ! (अङ्गिरोभिः) महाविज्ञानी, (यज्ञियैः) पूजा योग्य पुरुषों के साथ (इह) यहां [समाज में] (आ गहि)

प्रापयितारश्च (अथर्वाणः) अ० ४ । १ । ७ । थर्वतिश्चरतिकर्मा—निरु० ११ । २८ । स्नामदिपद्यर्त्ति० उ० ४ । ११३ । अ+थर्व चरणे गतौ=वनिप्, वकार-लोपो वा । निश्चलस्वभावाः (भृगवः) परिपक्वज्ञानयुक्ताः (सोम्यासः) सोममैश्वर्यमर्हन्ति ये (तेषाम्) (वयम्) (सुमतौ) कल्याणबुद्धौ (यज्ञियानाम्) पूजार्हाणाम् (अपि) (भद्रे) मङ्गलप्रदे (सौमनसे) सुमनसो भावे । प्रसादे (स्याम) भवेम ॥

५९—(अङ्गिरोभिः) महाविज्ञानिभिः (यज्ञियैः) पूजार्हैः (आ गहि) आगच्छ (इह) अस्मिन् समाजे (यम) हे संयमिन् पुरुष (वैरूपैः) अ० १५ । २ । १६ ।

तू आ, और (वैरूपैः) विविध पदार्थों के निरूपण करने वाले वेद ज्ञानों से (इह) यहां (मादयस्व) [हमें] तृप्त कर। (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) उत्तम पद पर (आ) भले प्रकार (निषद्य) बैठकर (विवस्वन्तम्) प्रकाशमय परमात्मा को (हुवे) मैं बुलाता हूं, (यः) जो (ते) तेरा (पिता) पालक है ॥ ५९ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय विद्वान् पुरुष विविध विद्वानों के सत्संग से अनेक विद्यायें प्राप्त करके वेदाभ्यास द्वारा परमात्मा का विचार करें ॥५९॥

मन्त्र ५९, ६० कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं-१०। १४। ५, ४ और दोनों मन्त्र महर्षि दयानन्दकृतसंस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत हैं॥

इमं यम प्रस्तरमा हि रोहाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः। आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषो मादयस्व ६०

इमम्। यम्। प्र-स्तरम्। आ। हि। रोह। अङ्गिरः-भिः। पितृ-भिः। सम्-विदानः॥ आ। त्वा। मन्त्राः। कवि-शस्ताः। वहन्तु। एना। राजन्। हविषा। मादयस्व ॥ ६० ॥

भाषार्थ—(यम) हे संयमी पुरुष ! (अङ्गिरोभिः) महाविज्ञानी (पितृभिः) पितरों [रक्षक लोगों] से (हि) ही (संविदानः) मिला हुआ तू (इमम्) इस (प्रस्तरम्) विस्तीर्ण आसन पर (आ रोह) ऊंचा हो। (त्वा) तुझे (मन्त्राः) मन्त्र कुशल [बड़े विचारशील] (कविशस्ताः)

विरूप—अण्। विविधपदार्थानां रूपं निरूपणं येभ्यः सकाशात् तैर्वेदज्ञानैः (इह) (मादयस्व) अस्मान् तर्पयस्व (विवस्वन्तम्) प्रकाशमयं परमात्मानम् (हुवे) आह्वयामि (यः) (पिता) पालकः (ते) तव (अस्मिन्) (बर्हिषि) उत्तमे पदे (आ) समन्तात् (निषद्य) उपविश्य ॥

६०—(इमम्) (यम) हे संयमिन् पुरुष (प्रस्तरम्) विस्तीर्णमासनम् (हि) निश्चयेन (आ रोह) आरूढो भव (अङ्गिरोभिः) महाविज्ञानिभिः (पितृभिः) पालकैः (संविदानः) संगच्छमानः (त्वा) शूरम् (मन्त्राः) मन्त्र-अर्श आद्यच्। मन्त्रकुशलाः। महाविचारशीलाः (कविशस्ताः) मेधाविष

विद्वानों में श्रेष्ठ पुरुष (आ वहन्तु) बुलावें (राजन्) हे ऐश्वर्यवान् पुरुष ! (एना) इस (हविषः = हविषा) भक्तिदान से (मादयस्व) [हमें] प्रसन्न करे ॥ ६० ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी पुरुष विद्वानों के मेल से उच्च पद प्राप्त करें और अपने शुभ गुण और पराक्रम से सब प्रजा को सदा प्रसन्न रक्खें ॥ ६० ॥

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।
प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥ ६१ ॥ (६)

इतः । एते । उत् । आ । अरुहन् । दिवः । पृष्ठानि । आ । अरुहन् ॥ प्र । भूः-जयः । यथा । पथा । द्याम् । अङ्गिरसः । ययुः ॥ ६१ ॥ (६)

भाषार्थ—(एते) यह [पितर लोग] (इतः) इस [सामान्य दशा] से (उत्) उत्तमता के साथ (आ अरुहन्) ऊंचे चढ़े हैं, और (दिवः) व्यवहार के (पृष्ठानि) पूछने योग्य स्थानों पर (आ अरुहन्) ऊंचे चढ़े हैं। (भूर्जयः यथा) भूमि जीतने वालों के समान (पथा) सन्मार्ग से (अङ्गिरसः) विज्ञानी महर्षि लोग (द्याम्) प्रकाश को (प्र) अच्छे प्रकार (ययुः) प्राप्त हुये हैं ॥ ६१ ॥

भावार्थ—बड़े बड़े महात्मा ब्रह्मचर्य आदि तप के साथ विद्या ग्रहण करके सामान्य अवस्था से ऊंचे हुये हैं, इसी प्रकार सब मनुष्य परिश्रम और

प्रशस्ताः (आ वहन्तु) आनयन्तु (एना) एनेन । अनेन (राजन्) ऐश्वर्यवन् (हविषः) तृतीयार्थे षष्ठी । हविषा । भक्तिदानेन (मादयस्व) अस्मान् प्रसादय ॥

६१—(इतः) अस्मात्) स्थानात् । सामान्यदशासकाशात् (एते) पितरः (उत्) उत्तमतया (आ अरुहन्) आरूढा अभवन् (दिवः) व्यवहारस्य (पृष्ठानि) प्रष्टव्यानि स्थानानि (आ अरुहन्) (प्र) प्रकर्षेण (भूर्जयः) भू सत्तायाम्—रुक् । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० । ३ । २ । ७५ । जि जये—विच् । भूर्भुवो भूमेर्जेतारः (यथा) सादृश्ये (पथा) सन्मार्गेण (द्याम्) विद्याप्रकाशम् (अङ्गिरसः) महाविज्ञानिनः (ययुः) प्रापुः ॥

उद्योग करके सदा उन्नति करें ॥ ६१ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से सामवेद में है-पू० १ । १० । २ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २ [मन्त्राः १-६०] ॥

मन्त्राः १—३ ॥

यमो देवता ॥ १, ३, अनुष्टुप्; २ विराट् पथ्या बृहती ॥

ईश्वरभक्त्युपदेशः—ईश्वर की भक्ति का उपदेश ॥

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः ।

यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥ १ ॥

यमाय । सोमः । पवते । यमाय । क्रियते । हविः ॥ यमम् । ह । यज्ञः । गच्छति । अग्नि-दूतः । अरम्-कृतः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यमाय) यम [सर्वनियन्ता परमात्मा] के लिये (सोमः) ऐश्वर्यवान् [जीवात्मा] (पवते) अपने को शुद्ध करता है, (यमाय) यम [न्यायकारी ईश्वर] के लिये (हविः) भक्तिदान (क्रियते) किया जाता है । (यमम्) यम [परमेश्वर] को (ह) ही (यज्ञः) संगति वाला संसार (गच्छति) चलता है, [जैसे] (अरंकृतः) पर्याप्त किया हुआ (अग्निदूतः) अग्नि से तपाया हुआ [जल आदि रस ऊपर जाता है] ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य शुद्ध अन्तःकरण से ईश्वर भक्ति करके ऐश्वर्यवान् होवें । वह परमात्मा इतना बड़ा है कि यह सब संसार उसी की आज्ञा में

१—(यमाय) सर्वनियामकाय । न्यायकारिणे परमात्मने (सोमः) ऐश्वर्ययुक्तो जीवात्मा (पवते) आत्मानं शोधयति (यमाय) (क्रियते) अनुष्ठीयते (हविः) हु दानादानादनेषु—इसि । भक्तिदानम् (यमम्) परमेश्वरम् (ह) एव (यज्ञः) संयोगं प्राप्तः संसारः (गच्छति) प्राप्नोति (अग्निदूतः) टु दु उपतापे—क्त, दीर्घः । अग्निना परितापिता जलादिरसो यथा (अरंकृतः) पर्याप्तीकृतः ॥

चलता है, जैसे अग्नि के पूरे ताप से भाप ऊंचा उठता है ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१०। १४। १३, १५, १४। ऋग्वेद पाठ महर्षि दयानन्दकृतसंस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्र च तिष्ठत ।

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥ २ ॥

यमाय । मधुमत्-तमम् । जुहोत । प्र । च । तिष्ठत ॥ इदम् । नमः । ऋषि-भ्यः । पूर्व-जेभ्यः । पूर्वेभ्यः । पथिकृत्-भ्यः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यमाय) यम [सर्वनियन्ता परमात्मा] के लिये (मधुमत्तमम्) अत्यन्त विज्ञान युक्त कर्म (जुहोत) तुम दान करो, (च) और (प्र तिष्ठत) प्रतिष्ठा पावो (इदम्) यह (नमः) नमस्कार (पूर्वेभ्यः) पहिले [पूर्ण विद्वान्], (पथिकृद्भ्यः) मार्ग बनाने वाले (पूर्वजेभ्यः) पूर्वज (ऋषिभ्यः) ऋषियों [महाज्ञानियों] को है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य विज्ञान पूर्वक उस जगदीश्वर को आत्मसमर्पण करके संसार में प्रतिष्ठा पावें और जो महर्षि वेदानुकूल ग्रन्थ रचना और शिक्षा करें, उस से सुधार करके उनका उद्देश्य पूरा करें ॥ २ ॥

यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन ।

स नो जीवेष्वा यमेद्दीर्घमायुः प्र जीवसे ॥ ३ ॥

यमाय । घृत-वत् । पयः । राज्ञे । हविः । जुहोतन ॥ सः । नः । जीवेषु । आ । यमेत् । दीर्घम् । आयुः । प्र । जीवसे ॥ ३ ॥

२—(यमाय) सर्वनियामकाय परमात्मने (मधुमत्तमम्) मन ज्ञाने-उ, नस्य धः, तमप् । अतिशयेन विज्ञानयुक्तं कर्म (जुहोत) जुहुत । समर्पयत (च) (प्र तिष्ठत) प्रतिष्ठां प्राप्नुत (इदम्) (नमः) सत्कारः (ऋषिभ्यः) वेदार्थदर्शकेभ्यः (पूर्वजेभ्यः) प्रथमोत्पन्नेभ्यः (पूर्वेभ्यः) प्रथमेभ्यः । पूर्णविद्वद्भ्यः (पथिकृद्भ्यः) सन्मार्गकर्तृभ्यः ॥

भाषार्थ—(यमाय राज्ञे) यम राजा [न्यायकारी शासक परमेश्वर] के लिये (घृतवत्) प्रकाशयुक्त (पयः) विज्ञान और (हविः) भक्ति दान का (जुहोतन) तुम दान करो। (सः) वह [परमात्मा] (नः) हमें (जीवेषु) जीवों के बीच (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) आयु (प्र) उत्तम (जीवसे) जीवन के लिये (आ यमेत्) देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विज्ञानपूर्वक परमात्मा की आज्ञा मानकर ब्रह्मचर्य आदि से आप चलते और दूसरों को चलाते हैं, वे अपना जीवन बढ़ाकर शुभ कर्म से यश पाते हैं ॥ ३ ॥

मन्त्राः ४—१० ॥

अग्निर्देवता ॥ ४, ७ निचृज् जगती ; ५ भुरिक् त्रिष्टुप् ; ६ अनुष्टुप् ; ८ त्रिष्टुप् ; ९ भुरिगार्षी जगती ; १० निचृत् त्रिष्टुप् ॥

आचार्यब्रह्मचारिकृत्योपदेशः—आचार्य और ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

मैनमग्ने वि दहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्। शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृँरुप ॥ ४ ॥

मा। एनम्। अग्ने। वि। दहः। मा। अभि। शुशुचः। मा। अस्य। त्वचम्। चिक्षिपः। मा। शरीरम् ॥ शृतम्। यदा। करसि। जात-वेदः। अथ। ईम्। एनम्। प्र। हिनुतात्। पितृन्। उप ॥ ४ ॥

३—(यमाय) न्यायकारिणे परमात्मने (घृतवत्) प्रकाशयुक्तम् (पयः) पय गतौ—असुन्। विज्ञानम् (राज्ञे) सर्वशासकाय (हविः) भक्तिदानम् (जुहोतन) जुहुत। समर्पयत (सः) परमात्मा (नः) अस्मभ्यम् (जीवेषु) जीवत्सु प्राणिषु (आ यमेत्) प्रयच्छेत्। दद्यात् (दीर्घम्) (आयुः) जीवनम् (प्र) प्रकृष्टाय (जीवसे) जीवनाय ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! [आचार्य] (एनम्) इस [ब्रह्मचारी] को (वि) विपरीत भाव से (मा दहः) मत जला [मत कष्ट दे] और (मा अभि शूशुचः) मत शोक में डाल, (मा) न (अस्य) इसकी (त्वचम्) त्वचा को और (मा) न (शरीरम्) शरीर को (चिक्षिपः) गिरने दे। (जातवेदः) हे प्रसिद्ध ज्ञान वाले [आचार्य !] (यदा) जब [इसे] (शृतम्) परिपक्व [बड़ा ज्ञानी] (करसि) तू कर लेवे, (अथ) तब (ईम्) ही (एनम्) इस [शिष्य] को (पितॄन् उप) पितरों [रक्षक विद्वानों] के पास (प्र) अच्छे प्रकार (हिनुतात्) तू भेज ॥ ४ ॥

भावार्थ—आचार्य शिष्यों को विपरीत भाव से मानसिक वा शारीरिक कष्ट कदापि न देवे, किन्तु कोमल भाव से उन्हें पक्का ज्ञानी बनावे, जिस से वे विद्वान् लोगों में प्रतिष्ठा पावें ॥ ४ ॥

मन्त्र ४, ५ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १६ । १, २ ॥

यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेममेनं परि दत्तात् पितृभ्यः ।
यदो गच्छात्यसुनीतिमेतामथ देवानां वशनीर्भवाति ॥ ५ ॥

यदा । शृतम् । कृणवः । जात-वेदः । अथ । इमम् । एनम् । परि । दत्तात् । पितृ-भ्यः ॥ यदो इति । गच्छाति । असु-नीतिम् । एताम् । अथ । देवानाम् । वश-नीः । भवाति ५

४—(एनम्) ब्रह्मचारिणम् (अग्ने) हे विद्वन् आचार्य (वि) विपरीतभावेन (मा दहः) दहनं मा कुरु । कष्टं मा देहि (अभि) (मा शूशुचः) शुच शोके—णिचि लुङ् । शोकयुक्तं मा कुरु (अस्य) ब्रह्मचारिणः (त्वचम्) (मा चिक्षिपः) क्षिप प्रेरणे—णिचि लुङ् । मा विकिर (मा) निषेधे (शरीरम्) (शृतम्) श्रा पाके—क्त । शृतं पाके । पा० ६ । १ । २७ । इति शृभावः । परिपक्वम् । दृढज्ञानयुक्तम् (यदा) (करसि) लेटि रूपम् । त्वं कुर्याः (जातवेदः) हे प्रसिद्धप्रज्ञ (अथ) अनन्तरम् (ईम्) एव (एनम्) ब्रह्मचारिणम् (प्र) प्रकर्षेण (हिनुतात्) त्वं हिनु । प्रेरय (पितॄन्) पालकान् पुरुषान् (उप) प्रति ॥

भाषार्थ--(जातवेदः) हे प्रसिद्ध ज्ञान वाले ! [आचार्य] (यदा) जब (इमम्) इस [ब्रह्मचारी] को (शृतम्) [दृढ़ ज्ञानी] (कृणवः) तू कर लेवे, (अथ) तब (एनम्) इस [परिश्रमी] को (पितृभ्यः) पितरों [रक्षक विद्वानों] को (परि दत्तात्) तू दे दे । (यदो) जब ही वह (एताम्) इस (असुनीतिम्) बुद्धि के साथ नीति [उन्नति मार्ग] को (गच्छाति) पावे, (अथ) तब वह (देवानाम्) दिव्य पदार्थों का (वशनीः) वश में लाने वाला (भवाति) होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ--जब ब्रह्मचारी आचार्य से शिक्षा पाकर विद्वानों में गिना जावे, तब वह अपनी बुद्धि और विद्या के बल से संसार के स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों के परीक्षण से उपकार करे ॥ ५ ॥

त्रिकद्रुकेभिः पवते षडुर्वीरेकमिद् बृहत् ।

त्रिष्टुब् गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आर्पिता ॥ ६ ॥

त्रि-कद्रुकेभिः । पवते । षट् । उर्वीः । एकम् । इत् । बृहत् ॥

त्रि-स्तुप् । गायत्री । छन्दांसि । सर्वा । ता । यमे । आर्पिता ६

भाषार्थ—(एकम् इत्) एक ही (बृहत्) बड़ा [ब्रह्म] (त्रिकद्रुकेभिः) तीन [संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय] के विधानों से (षट्) छह

५—(यदा) (शृतम्) म० ४ । परिपक्वं दृढज्ञानिनम् (कृणवः) कृवि हिंसाकरणयोः--लेटि अडागमः । त्वंकुर्याः (जातवेदः) हे प्रसिद्धज्ञान (अथ) तदा (इमम्) ब्रह्मचारिणम् (एनम्) परिश्रमिणं शिष्यम् (परिदत्तात्) समर्पय (पितृभ्यः) रक्षकविद्वद्भ्यः (यदो) यदा हि (गच्छाति) स प्राप्नुयात् (असुनीतिम्) असुः प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ६ । प्रज्ञया सह नीतिमुन्नतिमार्गम् (एताम्) प्रसिद्धां वेदविहिताम् (अथ) तदा (देवानाम्) उत्तमपदार्थानाम् (वशनीः) वशे नेता (भवाति) भूयात् ॥

६—(त्रिकद्रुकेभिः) अ० २ । ५ । ७ । रुशातिभ्यां क्रुन् । उ० ४ । १०३ । त्रि + कद आह्वाने—क्रुन्, समासान्तः कप् । त्रयाणां संसारोत्पत्तिस्थितिविना-

(उर्वीः) चौड़ी दिशाओं को (पवते) शोधता है। (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप्, (गायत्री) गायत्री और (ता) वे [दूसरे] (सर्वा) सब (छन्दांसि) छन्द [वेद मन्त्र] (यमे) यम [न्यायकारी परमात्मा] में (आर्पिता) ठहरे हुये हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीची और ऊंची दिशा में व्यापक है, और सब छन्द अर्थात् चारो वेद उसी परमात्मा का गान करते हैं, हे मनुष्यो! उसी की उपासना करके अपनी उन्नति करो ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है–१० । १४ । १६ ॥

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ॥ ७ ॥

सूर्यम् । चक्षुषा । गच्छ । वातम् । आत्मना । दिवम् । च । गच्छ । पृथिवीम् । च । धर्म-भिः॥ अपः । वा । गच्छ । यदि । तत्र । ते । हितम् । ओषधीषु । प्रति । तिष्ठ । शरीरैः ॥ ७

भाषार्थ—[हे जीव !] तू (सूर्यम्) सूर्य [तत्त्व] को (चक्षुषा) नेत्र से, (वातम्) वायु को (आत्मना) प्राण से (गच्छ) प्राप्त हो, (च) और (धर्मभिः) धर्मों [उनके धारण गुणों] से (दिवम्) आकाश को (च) और (पृथिवीम्) पृथिवी को (गच्छ) प्राप्त हो (वा) और (अपः) जल को

शानां कद्रुकैः, आह्वानैर्विधानैः (पवते) पुनाति । शोधयति (षट्) प्राच्यदि-षट्संख्याकाः (उर्वीः) विस्तीर्णा दिशाः (एकम्) अद्वितीयम् (इत्) एव (बृहत्) ब्रह्म (त्रिष्टुप्) छन्दोविशेषः (गायत्री) छन्दोविशेषः (छन्दांसि) वेदमन्त्राः (सर्वा) सर्वाणि (ता) तानि । इतराणि (यमे) न्यायकारिणि परमात्मनि (आर्पिता) स्थापितानि ॥

७—(सूर्यम्) सूर्यतत्त्वम् (चक्षुषा) नेत्रविज्ञानेन (गच्छ) प्राप्नुहि । जानीहि (वातम्) वायुतत्त्वम् (आत्मना) प्राणेन (दिवम्) आकाशतत्त्वम् (च) (गच्छ) (पृथिवीम्) पृथिवीतत्त्वम् (च) (धर्मभिः) तेषां धारणगुणैः

(गच्छ) प्राप्त हो, और (ओषधीषु) ओषधियों [अन्न आदिकों] में (शरीरैः) [उनके] अङ्गों सहित (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठा पा, (यदि) क्योंकि (तत्र) वहां [उन सब में] (ते) तेरा (हितम्) हित है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य नेत्र आदि इन्द्रियों की रचना और उपकारों से सूर्य आदि के तत्त्वों को जानकर विज्ञान द्वारा अन्न आदि पदार्थों और उनके अङ्गों से अपना और संसार का भला करते हैं वे ही सर्वहितकारी होते हैं ॥ ७॥

मन्त्र ७, ८ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं-१० । १६ । ३, ४ और ऋग्वेद पाठ महर्षिदयानन्दकृतसंस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

अजो भागस्तपसस्तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः ।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् ॥८

अजः । भागः । तपसः । तम् । तपस्व । तम् । ते । शोचिः । तपतु । तम् । ते । अर्चिः ॥ याः । ते । शिवाः । तन्वः । जात-वेदः । ताभिः । वह । एनम् । सु-कृताम् । ऊं इति । लोकम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] (अजः) अजन्मा [वा गतिमान् जीवात्मा] (तपसः=तपसा) तप [ब्रह्मचर्य सेवन और वेदाध्ययन] से (भागः) सेवनीय है, (तम्) उसे (तपस्व) प्रतापी कर, (तम्) उसे (ते) तेरा (शोचिः) पवित्र कर्म और (तम्) उसे (ते) तेरा (अर्चिः) पूजनीय व्यवहार (तपतु) ऐश्वर्य युक्त करे । (जातवेदः) हे बड़े विद्वान् ! (याः) जो (ते) तेरी (शिवाः)

(अपः) जलम् (वा) च (गच्छ) (यदि) यतः (तत्र) तेषु पूर्वोक्तेषु (ते) तव (हितम्) इष्टम् (ओषधीषु) व्रीहियवादिषु (प्रतितिष्ठ) प्रतिष्ठितो भव (शरीरैः) अवयवैः ॥

८—(अजः) न जायते, जन—ड, यद्वा, अज गतिक्षेपणयोः—अच् । अजा अजनाः—निरु० ४ । २५ । अजन्मा । गतिमान् । जीवात्मा (भागः) सेवनीयः (तपसः) तृतीयार्थे षष्ठी । तपसा । ब्रह्मचर्यसेवनेन वेदाध्ययनेन च (तम्) जीवात्मानम् (तपस्व) तप सन्तापे ऐश्वर्ये च । प्रतापिनं कुरु (तम्) (ते) तव (शोचिः) शुच शौचे—इसि । शौचं पवित्रकर्म (तपतु) ऐश्वर्यवन्तं करोतु

कल्याणकारी (तन्वः) उपकार शक्तियां हैं, (ताभिः) उनसे (एनम्) इस [जीवात्मा] को (सुकृताम्) पुण्यात्माओं के (लोकम्) लोक [समाज] में (उ) अवश्य (वह) लेजा ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ब्रह्मचर्य सेवन, वेदाध्ययन और शुभ आचरण से आत्मवान् होकर उपकारी होवें, वे ही पुण्यात्माओं में गिने जावें ॥ ८ ॥

यास्ते॑ शो॒चयो॒ रंह॑यो जातवेदो॒ याभि॑रापृ॒णासि॒ दिव॑मन्तरि॑क्षम् । अ॒जं यन्त॒मनु॒ ताः सम॑ृण्वता॒मथेत॑राभिः शि॒वत॑माभिः शृ॒तं कृ॑धि ॥ ९ ॥

याः । ते॒ । शो॒चयः॑ । रंह॑यः । जात॒-वे॒दः॒ । याभिः॑ । आ॒-पृ॒णासि॑ दिव॑म् । अ॒न्तरि॑क्षम् ॥ अ॒जम् । यन्त॑म् । अनु॑ । ताः । सम् । ऋ॒ण्व॒ता॒म् । अथ॑ । इत॑राभिः । शि॒व-त॑माभिः । शृ॒तम् । कृ॒धि॒ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे बड़े विद्वान् ! [मनुष्य] (याः) जो (ते) तेरी (शोचयः) पवित्र क्रियायें और (रंहयः) वेग क्रियायें हैं और (याभिः) जिन [क्रियाओं] से (दिवम्) व्यवहार कुशल [वा गतिमान्] (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्ती हृदय को (आपृणासि) तू सब ओर से पूर्ण करता है। (ताः) वे [सब क्रियायें] (यन्तम्) चलते हुये (अजम् अनु) अजन्मे [वा गतिशील

(तम्)(ते)(अर्चिः) अर्च पूजायाम्—इसि। पूजनीयव्यवहारः (याः) (ते) तव (शिवाः) सुखकराः (तन्वः) तन उपकारे—ऊ। उपकारशक्तयः (जातवेदः) हे प्रसिद्धज्ञान। महाविद्वन् (ताभिः) उपकारशक्तिभिः (वह) प्रापय (एनम्) जीवात्मानम् (सुकृताम्) पुण्यकर्मणाम् (उ) अवश्यम् (लोकम्) समाजम् ॥

९—(याः) (ते) तव (शोचयः) शुचिक्रियाः (रंहयः) रहि गतौ—इप्रत्ययः। वेगक्रियाः (जातवेदः) हे प्रसिद्धज्ञान महाविद्वन् (याभिः) पूर्वोक्ताभिः (आपृणासि) समन्तात् पूरयसि (दिवम्) दिवु व्यवहारे गतौ च-क। व्यवहारकुशलम्। गतियुक्तम् (अन्तरिक्षम्) मध्ये दृश्यमानं हृदयम् (अजम्) अजन्मानं गतिमन्तं वा जीवात्मानम् (यन्तम्) इण् गतौ-शतृ । गच्छन्तम् [

जीवात्मा] के अनुकूल होकर (सम्) ठीक ठीक (ऋण्वताम्) चलें, (अथ) फिर तू (इतराभिः) दूसरी [ईश्वर की प्राप्ति वाली] (शिवतमाभिः) अत्यन्त कल्याणकारी [क्रियाओं] से [जीवात्मा] को (शृतम्) परिपक्क (कृधि) कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपनी शुद्ध और वेग वाली वृत्तियों को व्यवहार कुशल वा गतिमान् मन में ठहराकर पुरुषार्थी जीवात्मा को खोजते हैं, वे ही फिर परमात्मा को पाकर पक्के ज्ञानी होते हैं ॥ ६ ॥

अव॑ सृज॒ पुन॑रग्ने पि॒तृभ्यो॒ यस्त॒ आहु॑त॒श्चर॑ति स्व॒धावा॑न् ।
आयु॒र्वसा॑न॒ उप॑ यातु॒ शेषः॒ सं ग॑च्छतां त॒न्वा॑ सु॒वर्चाः॑ ॥१०॥ (७)

अव॑ । सृ॒ज॒ । पुन॑ः । अ॒ग्ने॒ । पि॒तृ-भ्यः॑ । यः । ते॒ । आ-हु॑तः । चर॑ति । स्व॒धा-वा॑न् ॥ आयुः॑ । वसा॑नः । उप॑ । या॒तु॒ । शेषः॑ । सम् । ग॒च्छ॒ता॒म् । त॒न्वा॑ । सु॒-वर्चाः॑ ॥ १० ॥ (७)

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (पुनः) बारम्बार (पितृभ्यः) पितरों [रक्षक महापुरुषों] को [अपने आत्मा का] (अव सृज) दान कर, (यः) जो [आत्मा] (ते) तुझ को (आहुतः) यथावत् दिया हुआ (स्वधा-वान्) अपनी धारण शक्ति वाला (चरति) विचरता है । (शेषः) विशेष गुणी [वह आत्मा] (आयुः) जीवन (वसानः) धारण करता हुआ (उप यातु) आवे और (सुवर्चाः) बड़ा तेजस्वी होकर (तन्वा) उपकार शक्ति के साथ

(ताः) पूर्वोक्ताः क्रियाः (ऋण्वताम्) ऋण गतौ—लोट् । गच्छन्तु (अथ) पुनः । जीवात्मप्राप्तिपश्चात् (इतराभिः) जीवात्मभिन्नाभिः परमात्मप्राप्ति-क्रियाभिः (शिवतमाभिः) अत्यन्तसुखकराभिः (शृतम्) परिपक्वज्ञानम् (कृधि) कुरु—जीवात्मानमिति शेषः ॥

१०—(अव सृज) त्यज । देहि—स्वात्मानमिति शेषः (पुनः) वारंवारम् (अग्ने) हे विद्वन् (पितृभ्यः) रक्षकमहापुरुषाणां हिताय (यः) आत्मा (ते) तुभ्यम् (आहुतः) समन्ताद् दत्तः (चरति) गच्छति (स्वधावान्) स्वधारणशक्तिमान् (आयुः) जीवनम् (वसानः) दधानः (उपयातु) आ-गच्छतु (शेषः) शिषत्व विशेषणे—अच् । विशेषगुणी (संगच्छताम्) (तन्वा)

(सं गच्छताम्) मिलता रहे ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों की सेवा और परोपकार में स्वविश्वासी होकर विचरे और अपने जीवन को विशेष गुणी बनाकर लोक परलोक में कीर्त्ति पावे ॥ १० ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १६ । ५ । और महर्षि दयानन्द-कृत संस्कारविधिअन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

मन्त्राः ११—१३ ॥

श्वानौ देवते ॥ ११, १२ त्रिष्टुप् ; १३ विराड् जगती ॥

कालस्य सुप्रयोगोपदेशः—समय के सुप्रयोग का उपदेश ॥

अति द्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा ।
अधा पितृन्त्सुविदत्राँ अपीहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ११

अति । द्रव । श्वानौ । सारमेयौ । चतुः-अक्षौ । शबलौ । साधुना । पथा ॥ अध । पितॄन् । सु-विदत्रान् । अपि । इहि । यमेन । ये । सध-मादम् । मदन्ति ॥ ११ ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] तू (सारमेयौ) सार कर्मों से प्रमाण करने योग्य, (चतुरक्षौ) चार दिशाओं में व्यापक, (शबलौ) चितकबरे (श्वानौ) दो चलने वाले [राति दिन] को (साधुना) धर्म के साधने वाले (पथा) मार्ग से (अति) पार करके (द्रव) चल । (अध) तब (सुविदत्रान्) बड़े ज्ञानी (पितॄन्) पितरों [रक्षक महापुरुषों] को (अपि) निश्चय करके (इहि)

उपकारशक्त्या (सुवर्चाः) महातेजस्वी ॥

११—(अति) अतीत्य (द्रव) गच्छ (श्वानौ) श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । टु ओ श्वि गतिवृद्ध्योः—कनिन् । गमनशीलौ रात्रिदिवसौ (सारमेयौ) सार+माङ् माने—यत् । ईद्यति । पा० ६ । ४ । ६५ । इति ईत्वम् । सारकर्मभिः प्रमेयौ प्रतिपादनीयौ बोधनीयौ (चतुरक्षौ) अक्षू व्याप्तौ—अच् । चतसृषु दिक्षु व्यापकौ (शबलौ) कर्बुरवर्णौ । श्यामश्वेतौ (साधुना) साध संसिद्धौ—उण् । धर्मसाधकेन (पथा) मार्गेण (अध) अथ । अनन्तरम् (पितॄन्) पालकान् महापुरुषान् (सुविदत्रान्) महाज्ञानान् (अपि) अवश्यम्

प्राप्त हो, (ये) जो [पितर] (यमेन) न्यायकारी परमात्मा के साथ (सधमादम्) मिले हुये हर्ष को (मदन्ति) भोगते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य गमनशील समय का धर्म मार्ग में सुप्रयोग करते हैं, वे महाविद्वानों के समान परमात्मा से मिलकर मोक्ष सुख भोगते हैं ॥ ११ ॥

मन्त्र ११—१३ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १४ । १०—१२ ॥

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिषदी नृचक्षसा ।
ताभ्यां राजन् परि धेह्येनं स्वस्त्यस्मा अनमीवं च धेहि ॥१२॥

यौ । ते । श्वानौ । यम । रक्षितारौ । चतुः-अक्षौ । पथिसदी इति पथि-सदी । नृ-चक्षसा ॥ ताभ्याम् । राजन् । परि । धेहि । एनम् । स्वस्ति । अस्मै । अनमीवम् । च । धेहि ।१२

भाषार्थ—(यम) हे संयमी मनुष्य ! (यौ) जो (चतुरक्षौ) चारो दिशाओं में व्यापक, (पथिषदी) मार्ग में बैठने वाले, (नृचक्षसा) नेता पुरुषों से देखने योग्य (श्वानौ) दो चलने वाले [राति दिन] (ते) तेरे (रक्षितारौ) दो रक्षक हैं। (राजन्) हे ऐश्वर्यवान् जीव ! (ताभ्याम्) उन दोनों [राति दिन] को (एनम्) यह [अपना आत्मा] (परि धेहि) सौंप दे, और (अस्मै) इस [अपने आत्मा] को (स्वस्ति) सुन्दर सत्ता [बड़ा कल्याण] (च) और (अनमीवम्) नीरोगता (धेहि) दे ॥ १२ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो तुम पूर्ण भक्ति से अपने समय को धर्म में

(इहि) प्राप्नुहि (यमेन) न्यायकारिणा परमात्मना (ये) पितरः (सधमादम्) सहहर्षम् (मदन्ति) हर्षन्ति । सेवन्ते ॥

१२—(यौ) रात्रिदिवसौ (ते) तव (श्वानौ) म० ११ । गमनशीलौ (यम) हे संयमिन् जीव (रक्षितारौ) रक्षकौ (चतुरक्षौ) म० ११ । चतसृषु दिक्षु व्यापकौ (पथिषदी) षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—इन् । मार्गे सीदन्तौ व्यापकौ (नृचक्षसा) नेतृमनुष्यैर्द्रष्टव्यौ (ताभ्याम्) रात्रिदिवसाभ्याम् (राजन्) ऐश्वर्यवन् पुरुष (परि धेहि) डु धाञ् दाने । समर्पय (एनम्) स्वात्मानम् (स्वस्ति) सुसत्ताम् । महत्कल्याणम् (अस्मै) स्वात्मने (अनमीवम्) नैरोग्यम् (च) (धेहि) देहि ॥

लगाओगे, तौ तुम नीरोग रह कर सदा आनन्द भोगोगे ॥ १२ ॥

उरूणसावसुतृपावुदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु ।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥ १३ ॥

उरु-नसौ । असु-तृपौ । उदुम्बलौ । यमस्य । दूतौ । चरतः । जनान् । अनु ॥ तौ । अस्मभ्यम् । दृशये । सूर्याय । पुनः । दाताम् । असुम् । अद्य । इह । भद्रम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यमस्य) संयमी पुरुष के (दूतौ) उत्तेजक (उरुणसौ) बड़ी गति वाले, (असुतृपौ) बुद्धि को तृप्त करने वाले, (उदुम्बलौ) दृढ़ बल वाले दोनों [राति दिन] (जनान् अनु) मनुष्यों में (चरतः) विचरते हैं। (तौ) वे दोनों (अस्मभ्यम्) हम लोगों को (सूर्याय दृशये) सर्वप्रेरक परमात्मा के देखने के लिये (अद्य) अब (इह) यहां पर (असुम्) बुद्धि और (भद्रम्) आनन्द (पुनः) बारम्बार (दाताम्) देते रहें ॥ १३ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य समय के लक्षणों को पूरा विचार कर ऐसा प्रयत्न करें कि वे दोनों राति दिन अपने लिये बुद्धि और आनन्द बढ़ाते रहें ॥ १३ ॥

मन्त्राः १४—१८ ॥

यमो देवता ॥ १४—१८ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विद्वत्संगत्या वृद्ध्युपदेशः—विद्वानों के सत्संग से बढ़ती का उपदेश ॥

१३—(उरुणसौ) णस कौटिल्ये गतौ च—क्विप्। नसतेर्गतिकर्मा—निघ० २। १४। विस्तीर्णगतिमन्तौ (असुतृपौ) प्रज्ञातर्पकौ (उदुम्बलौ) उड संहतौ सौ० धा०—कु, डस्य दः, यद्वा उन्दी क्लेदने—कु + बल संवरणे—खच्। संहतबलौ। दृढबलौ। रात्रिदिवसौ (यमस्य) संयमिनः पुरुषस्य (दूतौ) दुतनिभ्यां दीर्घश्च। उ० ३। ९०। टु दु उपतापे, यद्वा, दु गतौ—क्त। उपतापकौ। उत्तेजकौ (चरतः) विचरतः (जनान्) मनुष्यान् (अनु) अनुलक्ष्य (तौ) तादृशौ रात्रिदिवसौ (अस्मभ्यम्) (दृशये) इगुपधात् कित्। उ० ४। १२०। दृशिर् प्रेक्षणे-इप्रत्ययः, कित्। दर्शनाय (सूर्याय) सर्वप्रेरकाय परमेश्वराय (पुनः) वारंवारम् (दाताम्) लोडर्थे लुङ्, अडभावः। दत्ताम् (असुम्) प्रज्ञाम् (अद्य) इदानीम् (इह) अत्र (भद्रम्) कल्याणम् ॥

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते ।
येभ्यो मधु प्रधावति ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १४ ॥

सोमः । एकेभ्यः । पवते । घृतम् । एके । उप । आसते ॥ येभ्यः । मधु । प्र-धावति । तान् । चित् । एव । अपि । गच्छतात् ॥ १४

भाषार्थ—(सोमः) ऐश्वर्य (एकेभ्यः) किन्हीं किन्हीं [विद्वानों] को (पवते) मिलता है, (घृतम्) सार पदार्थ को (एके) कोई कोई [विद्वान्] (उप आसते) सेवते हैं। (येभ्यः) जिन [विद्वानों] को (मधु) विज्ञान (प्रधावति) शीघ्र प्राप्त होता है, (तान्) उन [सब महात्माओं] को (चित्) सत्कार से (एव) ही (अपि) अवश्य (गच्छतात्) तू प्राप्त हो ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य ऐश्वर्यवान्, तत्त्ववेत्ता, विज्ञानी पुरुषों को प्राप्त होकर उन्नति करें ॥ १४ ॥

मन्त्र १४–१८ कुछ भेद वा अभेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १५४ । १, ४, २, ३, ५ । और मन्त्र १४—१७—ऋग्वेद पाठ से महर्षिदयानन्दकृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत हैं ॥

ये चित् पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः ।
ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥ १५ ॥

ये । चित् । पूर्वे । ऋत-साताः । ऋत-जाताः । ऋत-वृधः ॥ ऋषीन् । तपस्वतः । यम । तपः-जान् । अपि । गच्छतात् १५

भाषार्थ—(ये) जो (चित्) ही (पूर्वे) पहिले [पूर्ण विद्वान्]

१४—(सोमः) ऐश्वर्यम् (एकेभ्यः) केभ्यश्चिद् विद्वद्भ्यः (पवते) पवतेर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । गच्छति । प्राप्नोति (घृतम्) सारपदार्थम् (एके) केचिद् विद्वांसः (उपासते) उपभुञ्जते । सेवन्ते (येभ्यः) (मधु) विज्ञानम् (प्रधावति)प्रकर्षेण शीघ्रं गच्छति (तान्) विदुषः पुरुषान् (चित्) सत्कारे (एव) निश्चयेन (अपि) अवश्यम् (गच्छतात्) गच्छ । प्राप्नुहि ॥

१५—(ये) विद्वांसः (चित्) एव (पूर्वे) प्रथमश्रेणिस्थाः । पूर्णविद्वांसः

(ऋतसाताः) सत्य धर्म से सेवन किये गये, (ऋतजाताः) सत्य धर्म से प्रसिद्ध हुये और (ऋतावृधः) सत्य धर्म से बढ़ने और बढ़ाने वाले हैं। (यम) हे यम ! [संयमी पुरुष] (तपस्वतः) उन तपस्वी, (तपोजान्) तप से प्रकट हुये (ऋषीन्) ऋषियों को (अपि) अवश्य (गच्छतात्) तू प्राप्त हो ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो महात्मा पूर्ण श्रद्धा से अनुष्ठान करके सत्य वैदिक धर्म का उपदेश करते हैं, और जिन्होंने अपने पूर्व जन्म के पुण्य से तथा अपने माता पिता के तप से ऋषि पद पाया है, मनुष्य उनके सत्संग से अपनी उन्नति करें ॥ १५ ॥

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ।

तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १६ ॥

तपसा । ये । अनाधृष्याः । तपसा । ये । स्वः । ययुः ॥ तपः । ये । चक्रिरे । महः । तान् । चित् । एव । अपि । गच्छतात् १६

भाषार्थ—(ये) जो [विद्वान्] (तपसा) तप [ब्रह्मचर्य सेवन और वेदाध्ययन] से (अनाधृष्याः) नहीं दबने वाले हैं और (ये) जिन्होंने (तपसा) तप से (स्वः) स्वर्ग [आनन्द पद] (ययुः) पाया है । और (ये) जिन्होंने (तपः) तप [ब्रह्मचर्य सेवन और वेदाध्ययन] को (महः) अपना महत्व (चक्रिरे) बनाया है, (तान्) उन [महात्माओं] को (चित्) सत्कार

(ऋतसाताः) षण संभक्तौ—क्त । जनसनखनां सञ्झलोः । पा० ६ । ४ । ४२ । इत्यात्वम् । सत्यधर्मेण सेविताः (ऋतजाताः) सत्यधर्मेण प्रादुर्भूताः प्रसिद्धाः (ऋतावृधः) सत्यधर्मेण वर्धितारो वर्धयितारश्च (ऋषीन्) वेदार्थदर्शिनः पुरुषान् (तपस्वतः) ब्रह्मचर्यवेदाध्ययनयुक्तान् (यम) हे संयमिन् पुरुष (तपोजान्) तपसा जातान् (अपि) अवश्यम् (गच्छतात्) गच्छ ॥

१६—(तपसा) ब्रह्मचर्यसेवनेन वेदाध्ययनेन च (ये) महात्मानः (अनाधृष्याः) धर्षितुमशक्याः । दुर्धर्षाः । अहिंसनीयाः (तपसा) (ये) (स्वः) सुखपदम् (ययुः) प्रापुः (तपः) ब्रह्मचर्यसेवनं वेदाध्ययनं च (ये)

से (एव) ही (अपि) अवश्य (गच्छतात्) तू प्राप्त हो ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो महर्षि ब्रह्मचर्य सेवन और वेदाध्ययन को अपना महत्त्व समझ कर आनन्द पाते हैं, मनुष्य उन से शिक्षा लेकर ब्रह्मचर्य सेवन और वेदाध्ययन से महान् होकर सुखी होवें ॥ १६ ॥

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १७ ॥

ये । युध्यन्ते । प्र-धनेषु । शूरासः । ये । तनू-त्यजः ॥ ये । वा । सहस्र-दक्षिणाः । तान् । चित् । एव । अपि । गच्छतात् १७

भाषार्थ—(ये) जो [वीर] (प्रधनेषु) संग्रामों में (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं, और (ये) जो (शूरासः) शूर (तनूत्यजः) शरीर का बलिदान करने वाले [वा उपकार का दान करने वाले] हैं। (वा) और (ये) जो (सहस्रदक्षिणाः) सहस्रों प्रकार की दक्षिणा देने वाले हैं, (तान्) उन [महात्माओं] को (चित्) सत्कार से (एव) ही (अपि) अवश्य (गच्छतात्) तू प्राप्त हो ॥ १७ ॥

भावार्थ—जैसे शूरवीर पुरुष धर्म युद्ध में अपने को बलिदान करके संसार में शान्ति स्थापित करते हैं, वैसे ही मनुष्यों को दुष्कर्मियों के दण्ड देने में सदा उद्यत रहना चाहिये ॥ १७ ॥

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।
ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥ १८ ॥

(चक्रिरे) कृतवन्तः (महः) स्वमहत्त्वम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० १४ ॥

१७—(ये) वीराः (युध्यन्ते) शस्त्राणि संप्रहरन्ति (प्रधनेषु) संग्रामेषु (शूरासः) शूराः पराक्रमिणः (ये) (तनूत्यजः) तनु विस्तारे तन उपकारे च—ऊ+त्यज हानौ दाने च—क्विप्। शरीराणां त्यक्तारः। उपकारस्य दातारः (ये) (वा) चार्थे (सहस्रदक्षिणाः) सहस्राणि दक्षिणाः प्रतिष्ठापदानि दत्तानि यैस्ते। अन्यत् पूर्ववत्—म० १४ ॥

सहस्र-नीथाः । कवयः । ये । गोपायन्ति । सूर्यम् ॥ ऋषीन् । तपस्वतः । यम । तपः-जान् । अपि । गच्छतात् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (सहस्रणीथाः) सहस्रों [योधाओं] के नेता (कवयः) बुद्धिमान् लोग (सूर्यम्) सर्वप्रेरक मनुष्य की (गोपायन्ति) रक्षा करते हैं। (यम) हे यम ! [संयमी पुरुष] (तपस्वतः) उन तपस्वी (तपोजान्) तप से उत्पन्न हुये (ऋषीन्) ऋषियों को (अपि) अवश्य (गच्छतात्) तू प्राप्त हो ॥ १८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने बुद्धिबल और कर्म से प्रधान नेता होकर सर्वहितैषी पुरुष की रक्षा करते हैं, सब लोग उनके अनुकरण से महान् होवें ॥१८॥

मन्त्रौ १६, २० ॥

पृथिवी देवता ॥ १६ गायत्री ; २० अनुष्टुप् छन्दः ॥

पृथिवीविद्योपदेशः—पृथिवी की विद्या का उपदेश ॥

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी ।
यच्छास्मै शर्म सप्रथाः ॥ १९ ॥

स्योना । अस्मै । भव । पृथिवि । अनृक्षरा । नि-वेशनी ॥ यच्छ । अस्मै । शर्म । स-प्रथाः ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(पृथिवि) हे पृथिवी ! (अस्मै) इस [पुरुष] के लिये (स्योना) सुख देने हारी, (अनृक्षरा) बिना कांटे वाली और (निवेशनी) प्रवेश करने योग्य (भव) हो। और (सप्रथाः) विस्तार वाली तू (अस्मै) इस [पुरुष] के लिये (शर्म) शरण (यच्छ) दे ॥ १६ ॥

१८—(सहस्रणीथाः) हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्। उ० २।२। सहस्र+णीञ् प्रापणे-क्थन्। सहस्राणां योद्धॄणां नेतारः (कवयः) मेधाविनः (ये) (गोपायन्ति) रक्षन्ति (सूर्यम्) सर्वप्रेरकं मनुष्यम्। अन्यत् पूर्ववत्—म० १५ ॥

१६—(स्योना) सुखप्रदा (अस्मै) पुरुषाय (भव) (पृथिवि) हे भूमे (अनृक्षरा) अकण्टका (निवेशनी) प्रवेशयोग्या (यच्छ) देहि (शर्म) शरणम् (सप्रथाः) प्रथसा विस्तारेण सहिता त्वम् ॥

भावार्थ—मनुष्य पृथिवी विद्या में निपुण होकर अनेक रत्नों और पदार्थों को प्राप्त करके निर्विघ्नता से आनन्द भोगें ॥ १६ ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है और कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । २२ । १५ तथा यजु० ३५ । २१ ॥

अ॒सं॒बा॒धे पृ॑थि॒व्या उ॒रौ लो॒के नि धी॑यस्व ।

स्व॒धा याश्च॑कृ॒षे जीव॒न् तास्ते॑ सन्तु मधु॒श्चुत॑: ॥ २० ॥ (८)

अ॒स॒म्-बा॒धे । पृ॒थि॒व्याः । उ॒रौ । लो॒के । नि । धी॒य॒स्व॒ ॥

स्व॒धाः । याः । च॒कृ॒षे । जीव॑न् । ताः । ते॒ । स॒न्तु॒ । म॒धु॒-श्चुत॑: ॥२०॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] (पृथिव्याः) पृथिवी के (असंबाधे) बाधा रहित, (उरौ) विस्तीर्ण (लोके) स्थान में (नि) दृढ़ता से (धीयस्व) तू ठहराया गया हो । (याः) जिन (स्वधाः) आत्मधारण शक्तियों को (जीवन्) जीवते हुये (चकृषे) तू ने किया है, (ताः) वे [सब शक्तियां] (ते) तेरे लिये (मधुश्चुतः) ज्ञान की बरसाने वाली (सन्तु) होवें ॥ २० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विघ्नों को हटाकर दृढ़ता से पृथिवी पर श्रेष्ठ पदार्थ खोजते जाते हैं, वे आत्मविश्वासी सदा सुख पाते हैं ॥ २० ॥

मन्त्राः २१—३० ॥

पितरो देवताः ॥ २१, २६ भुरिक् त्रिष्टुप् ; २२, २३, २५, ३० अनुष्टुप् ; २४ आर्षी गायत्री ; २७, २८ त्रिष्टुप् ; २९ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

मनुष्याणां पितॄन् प्रति कर्त्तव्योपदेशः—मनुष्यों का पितरों के साथ कर्त्तव्य का उपदेश ॥

२०—(असम्बाधे) संबाधारहिते । निर्विघ्ने (पृथिव्याः) भूमेः (उरौ) विस्तृते (लोके) स्थाने (नि) निश्चयेन (धीयस्व) दधातेः कर्मणि यक् । धारितो भव (स्वधाः) स्वधारणशक्तीः (याः) (चकृषे) त्वं कृतवानसि (जीवन्) प्राणान् धारयन् सन् (ताः) शक्तयः (ते) तुभ्यम् (सन्तु) (मधुश्चुतः) श्चुतिर् क्षरणे—क्विप् । ज्ञानस्य क्षारयित्र्यो वर्षयित्र्यः ॥

ह्वया॑मि ते॒ मन॑सा॒ मन॑ इ॒हेमान् गृ॒हाँ उप॑ जुजुषा॒ण एहि॑ ।
सं ग॑च्छस्व पि॒तृभि॒: सं य॒मेन॑ स्यो॒नास्त्वा॒ वाता॒ उप॑ वान्तु॒ शु॒ग्माः ॥ २१ ॥

ह्वया॑मि । ते॒ । मन॑सा । मन॑: । इ॒ह । इ॒मान् । गृ॒हान् । उप॑ । जु॒जु॒षा॒णः । आ । इ॒हि॒ ॥ सम् । ग॒च्छ॒स्व॒ । पि॒तृ-भि॒: । सम् । य॒मेन॑ । स्यो॒नाः । त्वा॒ । वाता॑: । उप॑ । वा॒न्तु॒ । शु॒ग्माः ॥२१

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (ते) तेरे (मनः) मन को (मनसा) [अपने] मन के साथ (इह) यहां (ह्वयामि) मैं बुलाता हूं, (इमान्) इन (गृहान्) घरों [घर वालों] को (उप) आदर से (जुजुषाणः) प्रसन्न करता हुआ तू (आ इहि) आ । (पितृभिः) पितरों [रक्षक महात्माओं] से और (यमेन) यम [न्यायकारी परमात्मा] से (सं सं गच्छस्व) तू भले प्रकार मिल, (स्योनाः) सुखदायक और (शग्माः) शक्ति वाले (वाताः) सेवनीय पदार्थ (त्वा) तुझ को (उप) यथावत् (वान्तु) प्राप्त होवें ॥ २१ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों को आदर पूर्वक बुलावें और उनसे उचित शिक्षा और परमेश्वर ज्ञान प्राप्त करके प्रयत्न के साथ उत्तम उत्तम पदार्थों द्वारा आनन्द पावें ॥ २१ ॥

इस मन्त्र का तीसरा पाद ऋग्वेद में है—१० । १४ । ८ ॥

२१—(ह्वयामि) आह्वयामि (ते) तव (मनसा) स्वान्तःकरणेन (मनः) अन्तःकरणम् (इह) अत्र (इमान्) दृश्यमानान् (गृहान्) गृहस्थान् (उप) आदरेण (जुजुषाणः) जुषी प्रीतिसेवनयोः—कानच् । प्रीयमाणः (एहि) आगच्छ (सं सं गच्छस्व) अतिशयेन सङ्गतो भव (पितृभिः) पालकमहात्मभिः सह (यमेन) न्यायकारिणा परमात्मना सह (स्योनाः) सुखप्रदाः (त्वा) त्वाम् (वाताः) वात गतिसुखसेवनेषु—अच् । सेवनीयाः । पदार्थाः (उप) यथावत् (वान्तु) प्राप्नुवन्तु (शग्माः) युजिरुचितिजां कुश्च । उ० १ । १४६ । शक्लृ शक्तौ—मक्, कस्य गः । शक्तिमन्तः ॥

उत् त्वा वहन्तु मरुत उदवाहा उदप्रुतः ।
अजेन कृण्वन्तः शीतं वर्षेणोक्षन्तु बालिति ॥ २२ ॥
उत् । त्वा । वहन्तु । मरुतः । उद-वाहाः । उद-प्रुतः ॥
अजेन । कृण्वन्तः । शीतम् । वर्षेण । उक्षन्तु । बाल् । इति २२

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (उदवाहाः) जल पहुंचाने वाले, (उदप्रुतः) जल में चलने वाले (मरुतः) पवन रूप विद्वान् लोग (त्वा) तुझे (उत् वहन्तु) ऊंचा पहुंचावें । और (अजेन) अजन्मे परमात्मा के साथ (वर्षेण) वृष्टि से (शीतम्) शीतलता (कृण्वन्तः) करते हुये वे [तुझ को] (उक्षन्तु) बढ़ावें—(बाल् इति) यही बल है ॥ २२ ॥

भावार्थ—जैसे पवन अपने झकोरों से मेघों को चला वृष्टि करके ताप हटाकर संसार को सुख पहुंचाता है, वैसे ही विद्वान् लोग अज्ञान मिटा शान्ति के साथ मनुष्यों को ऊंचा करके शक्तिमान् करें ॥ २२ ॥

उदह्वमायुरायुषे क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
स्वान् गच्छतु ते मनो अधा पितॄँरुप द्रव ॥ २३ ॥
उत् । अह्वम् । आयुः । आयुषे । क्रत्वे । दक्षाय । जीवसे ॥
स्वान् । गच्छतु । ते । मनः । अध । पितॄन् । उप । द्रव २३

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (आयुः) [तेरे] जीवन को (आयुषे) [अपने] जीवन के लिये, (क्रत्वे) बुद्धि वा कर्म के लिये, (दक्षाय) बल के

२२—(उत्) ऊर्ध्वम् (त्वा) (वहन्तु) प्रापयन्तु (मरुतः) मरुतो ऋत्विङ्नाम—निघ० ३ । १८ । पवना इव विद्वांसः (उदवाहाः) कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । उदक+वह प्रापणे—अण्, उदकस्य उदभावः । जलस्य वोढारः प्रापयितारः (उदप्रुतः) प्रुङ् गतौ—क्विप् । जले गन्तारः (अजेन) अजन्मना परमात्मना (कृण्वन्तः) कुर्वन्तः (शीतम्) शैत्यम् (वर्षेण) वृष्टिजलेन (उक्षन्तु) उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः—निरु० १२ । ६ । वर्धयन्तु (बाल्) क्विब् वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च । उ० २ । ५७ । बल दाने जीवने वधे च—क्विप्, दीर्घश्च । बलम् (इति) एवम् ॥

२३—(उत्) उत्तमतया (अह्वम्) आहूतवानस्मि (आयुः) तव जीव-

लिये और (जीवसे) प्राण धारण [पराक्रम] के लिये (उत्) उत्तमता से (अह्वम्) मैं ने बुलाया है। (ते) तेरा (मनः) मन (स्वान्) अपने लोगों में (गच्छतु) जावे, (अध) और तू (पितॄन्) पितरों [रक्षक महात्माओं] को (उप) आदर से (द्रव) दौड़ जा ॥ २३ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से अपना आचरण, अपना ज्ञान, अपना शारीरिक और आत्मिक बल ठीक रख कर माता पिता आदि और सब महात्माओं के सदा कृतज्ञ रहें ॥ २३ ॥

मा ते मनो मासोर्माङ्गानां मा रसस्य ते ।
मा ते हास्त तन्वः किं चनेह ॥ २४ ॥

मा । ते । मनः । मा । असोः । मा । अङ्गानाम् । मा । रसस्य । ते ॥ मा । ते । हास्त । तन्वः । किम् । चन । इह ॥ २४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (मा) न तो (ते) तेरा (मनः) मन, (मा) न (ते) तेरे (असोः) प्राण का (मा) न (अङ्गानाम्) अङ्गों का, (मा) न (रसस्य) रस [वीर्य] का, (मा) न (ते) तेरे (तन्वः) शरीर का (किंचन) कुछ भी (इह) यहां पर से (हास्त) चला जावे ॥ २४ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों से सुशिक्षित होकर प्रयत्न करे कि उसकी शारीरिक और आत्मिक अवस्था सदा स्वस्थ रहे ॥ २४ ॥

नम् (आयुषे) स्वजीवनहिताय (क्रत्वे) क्रतुः कर्मनाम—निघ० २ । १, प्रज्ञानाम ३ । ६ । क्रतवे । प्रज्ञायै, कर्मणे (दक्षाय) बलाय (जीवसे) प्राणधारणाय । पराक्रमाय (स्वान्) स्वकीयान् । ज्ञातीन् (गच्छतु) प्राप्नोतु (ते) तव (मनः) चित्तम् (अध) अपि च (पितॄन्) पालकान् महात्मनः (उप) आदरेण (द्रव) शीघ्रं गच्छ ॥

२४—(मा) निषेधे (ते) तव (मनः) चित्तम् (मा) (असोः) प्राणस्य (मा) (अङ्गानाम्) अवयवानाम् (मा) (रसस्य) वीर्यस्य (ते) (मा हास्त) ओ हाङ् गतौ—लुङ् । मा गच्छेत् (ते) (तन्वः) शरीरस्य (किं चन) किमपि (इह) अत्र । अस्माकं मध्यात् ॥

मा त्वा वृक्षः सं बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही ।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु ॥ २५ ॥

मा । त्वा । वृक्षः । सम् । बाधिष्ट । मा । देवी । पृथिवी । मही ॥ लोकम् । पितृषु । वित्त्वा । एधस्व । यमराज-सु ॥२५॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वा) तुझे (मा) न तो (वृक्षः) सेवनीय संसार और (मा) न (देवी) चलने वाली (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी (सं बाधिष्ट) कुछ बाधा देवे । (यमराजसु) यम [न्यायकारी परमात्मा] को राजा मानने वाले (पितृषु) पितरों [रक्षक महात्माओं] में (लोकम्) स्थान (वित्त्वा) पाकर (एधस्व) तू बढ़ ॥ २५ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य संसार में विघ्नों को हटा, रत्नों की खानि पृथिवी से उपकार लेकर बड़े लोगों में पद पाकर बढ़ती करें ॥ २५ ॥

यत् ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः ।
तत् ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरा वेशयन्तु२६

यत् । ते । अङ्गम् । अति-हितम् । पराचैः । अपानः । प्राणः । यः । ऊं इति । वा । ते । परा-इतः ॥ तत् । ते । सम्-गत्य । पितरः । स-नीडाः । घासात् । घासम् । पुनः । आ । वेशयन्तु२६

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यत्) जो (ते) तेरा (अङ्गम्) [शारीरिक वा आत्मिक] अङ्ग (पराचैः) उलटा होकर (अतिहितम्) हट गया है,

---

२५—(मा बाधिष्ट) बाधृ विलोडने-लुङ् । मा पीडयेत् (त्वा) (वृक्षः) वृक्ष वरणे-कप्रत्ययः । सेवनीयः । संसारः (सम्) सम्यक् (मा) (देवी) दिवु गतौ-अच् । गतिमती (पृथिवी) (मही) विशाला (लोकम्) स्थानम् (पितृषु) पालकमहात्मसु (वित्त्वा) लब्ध्वा (एधस्व) वर्धस्व (यमराजसु) यमो न्यायकारी परमात्मा राजा येषां तेषु ॥

२६—(यत्) (ते) तव (अङ्गम्) अवयवः (पराचैः) पराङ्मुखम् । प्रतिकूलम् (अतिहितम्) अतीत्य धृतम् (अपानः) प्रश्वासः (प्राणः) श्वासः

(उ) और (ते) तेरा (यः) (अपानः) अपान [प्रश्वास] (वा) अथवा (प्राणः) प्राण [श्वास] (परेतः) विचल गया है । (सनीडाः) समान घर वाले (पितरः) पितर लोग [रक्षक महात्मा] (संगत्य) मिलकर (ते) तेरी (तत्) उस [हानि] को (पुनः) फिर (आ वेशयन्तु) भर देवें, [जैसे] (घासात्) घास से (घासम्) घास को [बांध देते हैं] ॥ २६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शारीरिक और आत्मिक दोषों को समझ कर विद्वानों की संमति से उनकी निवृत्ति करें ॥ २६ ॥

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः ।
मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार २७

अप । इमम् । जीवाः । अरुधन् । गृहेभ्यः । तम् । निः । वहत । परि । ग्रामात् । इतः ॥ मृत्युः । यमस्य । आसीत् । दूतः । प्र-चेताः । असून् । पितृ-भ्यः । गमयाम् । चकार ॥२७

भाषार्थ—(इमम्) इस [ब्रह्मचारी] को (जीवाः) प्राणधारी [आचार्य आदि] लोगों ने (गृहेभ्यः) घरों के हित के लिये (अप) आनन्द से (अरुधन्) रोका था, (तम्) उस [ब्रह्मचारी] को (इतः) इस (ग्रामात्) ग्राम [विद्यालय] से (परि) सब ओर को (निः) निश्चय करके (वहत) तुम ले जाओ। (मृत्युः) मृत्यु [आत्मत्याग] (यमस्य) संयमी पुरुष का

(यः) (उ) चार्थे (वा) अथवा (ते) तव (परेतः) दूरे गतः (तत्) तत्सर्वम् (ते) तव (संगत्य) एकीभूय (पितरः) रक्षका महात्मानः (सनीडाः) समानगृहाः (घासात्) तृणात् (घासम्) तृणं यथा (पुनः) (आ वेशयन्तु) प्रवेशयन्तु ॥

२७—(अप) आनन्दे (इमम्) ब्रह्मचारिणम् (जीवाः) प्राणधारकाः । महात्मानः (अरुधन्) अवरोधेन धारितवन्तः (गृहेभ्यः) गृहाणां हिताय (तम्) ब्रह्मचारिणम् (निः) निश्चयेन (वहत) नयत (परि) परितः (ग्रामात्) समूहात् । विद्यालयमध्यात् (इतः) अस्मात् (मृत्युः) प्राणत्यागः । आत्मत्यागः

(दूतः) उत्तेजक, (प्रचेतः) ज्ञान करने वाला (आसीत्) हुआ है, उसने (पितृभ्यः) पितरों [रक्षक महात्माओं] को (असून्) प्राण (गमायाम् चकार) भेजे हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ—आचार्य लोग ब्रह्मचारियों को विद्यालय में उत्तम शिक्षा देने तक रक्खें और विद्या समाप्ति पर उन को उपदेश करें कि वे परिश्रम के साथ आत्म त्याग करके अर्थात् आपा छोड़ कर संसार का उपकार करें, जैसे कि महात्मा लोग आपा छोड़कर विद्या द्वारा आत्मबल प्राप्त करके उपकारी होते हैं ॥ २७ ॥

यह मन्त्र महर्षिदयानन्दकृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति । पुरापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात् प्र धमाति यज्ञात् ॥२८॥

ये । दस्यवः । पितृषु । प्र-विष्टाः । ज्ञाति-मुखाः । अहुत-अदः । चरन्ति ॥ परा-पुरः । नि-पुरः । ये । भरन्ति । अग्निः । तान् । अस्मात् । प्र । धमाति । यज्ञात् ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (ज्ञातिमुखाः) बन्धुओं के समान मुख वाले [छल से हित बोलने वाले], (अहुतादः) बिना दिया हुआ खाने वाले (दस्यवः) डाकू लोग (पितृषु) पितरों [रक्षक महात्माओं] में (प्रविष्टाः) प्रविष्ट होकर (चरन्ति) विचरते हैं । और (ये) जो [दुराचारी] (परापुरः)

(यमस्य) संयमिनः पुरुषस्य (आसीत्) अभवत् (दूतः) उत्तापकः । उत्तेजकः (प्रचेताः) प्रकृष्टानि चेतांसि यस्य सः । प्रचेतयिता । प्रज्ञापयिता (असून्) प्राणान् (पितृभ्यः) पालकमहात्मभ्यः (गमयांचकार) प्रेषयामास ॥

२८--(ये) (दस्यवः) महासाहसिकाश्चौरादयः (पितृषु) पालक—महात्मसु (प्रविष्टाः) (ज्ञातिमुखाः) ज्ञातीनां मुखं वचनमिव वचनं येषां ते (अहुतादः) अहुतस्य अदत्तस्य भक्षकाः (चरन्ति) विचरन्ति (परापुरः) परा+पॄ पालनपूरणयोः—क्विप् । उदोष्ठ्यपूर्वस्य । पा० ७ । १।१०२ । इत्युत्वम् । परा प्रातिकूल्येन पालनस्वभावान् (निपुरः) नि+पुर अग्रगतौ—क्विप् ।

उलटेपन से पालन स्वभावों को और(निपुरः) नीचपन से अगुआ होने की क्रियाओं को (भरन्ति) धारण करते हैं, (अग्निः) ज्ञानवान् पुरुष (तान्) उन [दुष्टों] को (अस्मात्) इस (यज्ञात्) पूजा स्थान से (प्र धमाति)दूर भेजे ॥ २८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ऊपर से मीठा बोलकर दूसरों के पदार्थों को खा जावें और शिष्ट पुरुषों में मिल कर छल करें । विद्वान् राजा आदि प्रधान पुरुष उन अन्यायिओं को दण्ड देकर निकाल देवे ॥ २८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है--२ । ३० ॥

सं विशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्त आयुः । तेभ्यः शकेम हविषा नक्षमाणा ज्योग् जीवन्तः शरदः पुरूचीः ॥ २९ ॥

सम् । विशन्तु । इह । पितरः । स्वाः । नः । स्योनम् । कृण्वन्तः । प्र-तिरन्तः । आयुः ॥ तेभ्यः । शकेम । हविषा । नक्षमाणाः । ज्योक् । जीवन्तः । शरदः । पुरूचीः ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (स्योनम्) सुख (कृण्वन्तः) करते हुये और (आयुः) जीवन (प्रतिरन्तः) बढ़ाते हुये (पितरः) रक्षा करने वाले (स्वाः) बान्धव लोग (इह) यहां (सम्) मिलकर (विशन्तु) प्रवेश करें । (हविषा) भक्ति के साथ (नक्षमाणाः) चलते हुये और (ज्योक्) बहुत काल तक (पुरूचीः) अनेक (शरदः) वर्षों तक (जीवन्तः) जीवते हुये हम लोग (तेभ्यः) उन [बान्धवों] के लिये (शकेम) समर्थ होवें ॥२९॥

निकृष्टभावेन अग्रगमनक्रियाः (ये) (भरन्ति) धरन्ति(अग्निः) ज्ञानवान् पुरुषः (तान्) दुष्टान् (अस्मात) (प्रधमाति) धमतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ ; वधकर्मा २ । १९ । बहिर्गमयेत् (यज्ञात्) पूजास्थानात् ॥

२९—(सम्) संगत्य (विशन्तु) प्रविशन्तु (इह) अस्मासु (पितरः) पालकाः (स्वाः) ज्ञातयः । बान्धवाः (नः) अस्मभ्यम् (स्योनम्) सुखम् (कृण्वन्तः) कुर्वन्तः (प्रतिरन्तः) वर्धयन्तः (आयुः) जीवनम् (तेभ्यः) स्वेभ्यः (शकेम) शक्ताः समर्था भवेम सेवितुम् (हविषा) आत्मदानेन । भक्त्या (नक्षमाणाः) गच्छन्तः (ज्योक्) चिरकालम् (जीवन्तः) प्राणान् धारयन्तः (शरदः) संवत्सरान् (पुरूचीः) पुरु+अञ्चु गतिपूजनयोः—किन् । बह्वीः ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने माता पिता आदि के प्रयत्न और आशीर्वाद से उन्नति करके और कीर्ति बढ़ा कर उनकी सेवा करते रहें ॥ २९ ॥

यां ते॑ धे॒नुं नि॑पृ॒णामि॒ यमु॑ ते क्षी॒र ओ॑द॒नम् ।
तेना॒ जन॑स्यासो भ॒र्ता यो॑ऽत्रास॒दजी॑वनः ॥ ३० ॥ (९)

याम् । ते॒ । धे॒नुम् । नि॒-पृ॒णामि॑ । यम् । ऊं॒ इति॑ । ते॒ । क्षी॒रे । ओ॒द॒नम् ॥ तेन॑ । जन॑स्य । अ॒सः॒ । भ॒र्ता । यः । अत्र॑ । अस॑त् । अजी॑वनः ॥ ३० ॥

भाषार्थ—[हे महात्मन्] (ते) तेरे लिये (याम्) जिस (धेनुम्) दुधैल गौ को (उ) और (ते) तेरे लिये (यम् ओदनम्) जिस भात को (क्षीरे) दूध में (निपृणामि) मैं रखता हूं । (तेन) उसी [कारण] से तू (जनस्य) उस मनुष्य का (भर्ता) पोषक (असः) होवे, (यः) जो [मनुष्य] (अत्र) यहां (अजीवनः) निर्जीव [बिना जीविका, निर्बल] (असत्) होवे ॥ ३० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य दुग्ध अन्न आदि से विद्वान् महात्माओं की सेवा करते हैं, वे पुरुषार्थी अपना जीवन निर्विघ्न बिताते हैं ॥ ३० ॥

मन्त्राः ३१—३३ ॥

मन्त्रैः ३१ प्रजापतिः ; ३२ यमः ; ३३ सरण्यूर्देवता ॥ ३१ निचृत् त्रिष्टुप्; ३२, ३३ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अश्वा॑वतीं॒ प्र त॑र॒ या सु॒शेवा॒र्क्षाकं॑ वा प्र॒त॒रं नवी॑यः । यस्त्वा॑ ज॒घान॒ वध्यः॒ सो अ॑स्तु॒ मा सो अ॒न्यद् वि॑दत भाग॒धेय॑म् ॥३१॥

३०—(याम्) (ते) तुभ्यम् (धेनुम्) दोग्ध्रीं गाम् (निपृणामि) पॄ पालनपूरणयोः । नितरां पालयामि । धरामि (यम्) (उ) चार्थे (क्षीरे) दुग्धे (ओदनम्) भक्तम् । स्विन्नान्नम् (तेन) कारणेन (जनस्य) तस्य पुरुषस्य (असः) भवेः (भर्त्ता) पोषकः (यः) (अत्र) (असत्) भवेत् (अजीवनः) निर्जीवकः । निर्बलः ॥

अश्व-वतीम् । प्र । तर । या । सु-शेवा । ऋक्षाकम् । वा । प्र-तरम् । नवीयः ॥ यः । त्वा । जघान । वध्यः । सः । अस्तु । मा । सः । अन्यत् । विदत । भाग-धेयम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] तू (अश्वावतीम्) घोड़ों वाली [शक्ति] को (प्र तर) बढ़ा, (या) जो (सुशेवा) बड़े सुख देने वाली है, (वा) निश्चय करके [आगे] (ऋक्षाकम्) हिंसा मिटाने वाला (प्रतरम्) अधिक उत्तम (नवीयः) अधिक नवीन [स्थान] है। और (यः) जिस [अत्याचारी] ने (त्वा) तुझ [सदाचारी] को (जघान) मारा है [दुखाया है], (सः) वह (वध्यः) बध्य [मार डालने योग्य] (अस्तु) होवे, (सः) वह (अन्यत्) दूसरा (भागधेयम्) भाग (मा विदत) न पावे ॥ ३१ ॥

भावार्थ—संसार में मनुष्य शीघ्रगामी होकर आगे उत्तम उत्तम पद पाने का प्रयत्न करे और सब प्रकार के विघ्नों को हटाता रहे ॥ ३१ ॥

यमः परोऽवरो विवस्वान् ततः परं नाति पश्यामि किं चन ।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान ॥३२

यमः । परः । अवरः । विवस्वान् । ततः । परम् । न । अति । पश्यामि । किम् । चन ॥ यमे । अध्वरः । अधि । मे । नि-विष्टः । भुवः । विवस्वान् । अनु-आततान ॥ ३२ ॥

३१—(अश्वावतीम्) मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रिय० । पा० ६ । ३ । १३१ । इति मता दीर्घः । अश्वक्रियायुक्तां शक्तिम् (प्र तर) वर्धय (या) शक्तिः (सुशेवा) सुसुखा (ऋक्षाकम्) ऋक्ष हिंसायाम्—अच्, टाप्+कष वधे—ड । हिंसानाशकम् (वा) अवधारणे (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (नवीयः) नवीनतरं स्थानम् (यः) दुराचारी (त्वा) त्वां सदाचारिणम् (जघान) हतवान् दुःखं प्रापितवान् (वध्यः) वधार्हः (सः) दुराचारी (अस्तु) (मा विदत) विद्लृ लाभे—लुङ् । मा लभताम् (सः) (अन्यत्) बध्याद् भिन्नम् (भागधेयम्) भागम् ॥

भाषार्थ—(विवस्वान्) प्रकाशमय (यमः) न्यायकारी परमात्मा (परः) दूर और (अवरः) समीप है, (ततः) उस से (परम्) बड़ा (किंचन) किसी वस्तु को भी (अति) उल्लंघन करके (न पश्यामि) नहीं देखता हूं। (यमे) न्यायकारी परमात्मा में (अध्वरः) हिंसा रहित व्यवहार (मे) मेरे लिये (अधि) सर्वथा (निविष्टः) स्थापित है, (विवस्वान्) प्रकाशमय परमात्मा ने (भुवः) सत्ताओं को (अन्वाततान) निरन्तर सब ओर फैलाया है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वनियन्ता है, उस से बड़ा संसार में कुछ भी नहीं है, उसी ने सब लोकों को रचा है, तुम उसी की उपासना से अपनी उन्नति करो ॥ ३२ ॥

मन्त्र ३२ और ३३ महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत हैं ॥

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद् यत् तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥३३॥

अप । अगूहन् । अमृताम् । मर्त्येभ्यः । कृत्वा । स-वर्णाम् । अदधुः । विवस्वते ॥ उत । अश्विनौ । अभरत् । यत् । तत् । आसीत् । अजहात् । ऊं इति । द्वा । मिथुना । सरण्यूः ३३॥

भाषार्थ—(अमृताम्) अमर [नित्य प्रकृति, जगत् सामग्री] को

३२—(यमः) न्यायकारी परमात्मा (परः) दूरस्थः (अवरः) समीपस्थः (विवस्वान्) प्रकाशमयः (ततः) तस्मात् परमेश्वरात् (परम्) उत्कृष्टम् (न) निषेधे (अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य (पश्यामि) अवलोकयामि (यमे) न्यायकारिणि परमेश्वरे (अध्वरः) हिंसारहितो व्यवहारः (अधि) सर्वथा (मे) मह्यम् (निविष्टः) स्थापितः (भुवः) भू सत्तायाम्—क्विप् । सर्वाः सत्ताः । लोकान् (विवस्वान्) प्रकाशमयः परमेश्वरः (अन्वाततान) निरन्तरं समन्ताद् विस्तारितवान् ॥

३३—(अप) आनन्दे (अगूहन्) गुहू संवरणे-लङ् । अन्तर्हितां कृत-

(अप) सुख से (अगूहन्) उन [ईश्वर नियमों]ने गुप्त रक्खा और (मर्त्येभ्यः) मरण धर्मी [मनुष्य आदि प्राणियों] के हित के लिये [उसे] (सवर्णाम्) समान अङ्गीकार करने योग्य (कृत्वा) करके (विवस्वते) प्रकाशमय परमात्मा [की आज्ञा मानने] के लिये (अदधुः) उन्हों ने पुष्ट किया । (उत) और (यत्) जो कुछ [जगत्] (आसीत्) था, (तत्) उस [जगत्] ने (अश्विनौ) व्यापक प्राण और अपान को (अभरत्) धारण किया, (उ) और (सरण्यूः) व्यापक [प्रकृति, जगत् सामग्री] ने (द्वा) दो (मिथुना) जोड़ियाओं [स्त्री पुरुष] को (अजहात्) त्यागा [उत्पन्न किया] ॥ ३३ ॥

भावार्थ—ईश्वर नियम से प्रकृति अर्थात् जगत् सामग्री प्रलय समय में अदृश्य रहती और सृष्टि काल में सर्वोपकारी होकर प्रकट होती है, तब यह जगत् प्राण और अपान द्वारा चेष्टा करता है और स्त्री पुरुष आदि प्राणी उत्पन्न होते हैं ॥ ३३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १७ । २ ॥

मन्त्रौ ३४, ३५ ॥

पितरो देवताः । ३४ अनुष्टुप् ; ३५ त्रिष्टुप् ॥

पितृसत्कारोपदेशः—पितरोंके सत्कार का उपदेश ॥

ये निखा॑ता॒ ये परो॑प्ता॒ ये द॒ग्धा ये चोद्धि॑ताः ।

सर्वा॒ँस्तान॑ग्न॒ आ व॑ह पि॒तॄन् ह॒विषे॒ अत्त॑वे ॥ ३४ ॥

ये । नि-खा॑ताः । ये । परा॑-उप्ताः । ये । द॒ग्धाः । ये । च॒ ।

वन्तः परमात्मनियमाः प्रलये (अमृताम्) नित्यां प्रकृतिम् । जगत्सामग्रीम् (मर्त्येभ्यः) मरणधर्मणां मनुष्यादिप्राणिनां हिताय (सवर्णाम्) समानवर्णनीयां स्वीकरणीयाम् (अदधुः) अधारयन् परमेश्वरनियमाः (विवस्वते) प्रकाशमयाय । परमात्माज्ञापालनाय (उत) अपि च (अश्विनौ) प्राणापानौ (अभरत्) अधरत् (यत्) जगत् (तत्) सर्वम् (आसीत्) (अजहात्) ओहाक् त्यागे-लङ् । अत्यजत् । असृजत् (उ) चार्थे (द्वा) द्वौ (मिथुना) मिथुनौ । स्त्रीपुंसात्मकौ यमलौ (सरण्यूः) सृयुवचिभ्योऽन्युजागूजक्नुचः । उ० ३ । ८१ । सृ गतौ—अन्युच्, ऊङ् स्त्रियाम् । व्यापिका प्रकृतिः । जगत्सामग्री ॥

उद्धिताः ॥ सर्वान् । तान् । अग्ने । आ । वह । पितॄन् । हविषे । अत्तवे ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो पुरुष [ब्रह्मचर्य आदि सदाचार में] (निखाताः) दृढ़ गड़े हुये, (ये) जो (परोप्ताः) उत्तमता से बीज बोये गये, (ये) जो (दग्धाः) तपाये गये [वा चमकते हुये] (च) और (ये) जो (उद्धिताः) ऊंचे उठाये गये हैं । (अग्ने) हे विद्वान् ! (तान् सर्वान्) उन सब (पितॄन्) पितरों [पिता आदि ज्ञानियों] को (हविषे) ग्रहण योग्य भोजन (अत्तवे) खाने के लिये (आ वह) तू ले आ ॥ ३४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जो पुरुष दृढ़ स्वभाव, ब्रह्मचर्य सेवी, सुशिक्षित, परिश्रमी महाविद्वान् हों, उनका भोजन आदि से सदा सत्कार करें ॥ ३४ ॥

ये अ॒ग्निद॑ग्धा ये अन॑ग्निदग्धा मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते । त्वं तान् वे॑त्थ॒ यदि॑ ते जातवेदः स्व॒धया॑ य॒ज्ञं स्वधि॑तिं जुषन्ताम् ॥ ३५ ॥

ये । अ॒ग्नि॒-द॒ग्धाः । ये । अन॑ग्नि-दग्धाः । मध्ये॑ । दि॒वः । स्व॒धया॑ । मा॒दय॑न्ते ॥ त्वम् । तान् । वे॒त्थ॒ । यदि॑ । ते । जात॒-वे॒दः॒ । स्व॒धया॑ । य॒ज्ञम् । स्व-धि॑तिम् । जु॒ष॒न्ता॒म् ॥३५॥

भाषार्थ—(ये) जो (अग्निदग्धाः) अग्नि जलाने वाले [हवन आदि

३४—(ये) विद्वांसः (निखाताः) खनु अवदारणे—क्त । ब्रह्मचर्यादिसदाचारे दृढतया स्थिताः (ये) (परोप्ताः) परा+डु वप बीजसन्ताने—क्त । उत्तमतया बीजवत् स्थापिताः (ये) (दग्धाः) दह दीप्तौ भस्मीकरणे च—क्त । ब्रह्मचर्यादिना तप्ताः। प्रदीप्यमानाः(ये) (च) (उद्धिताः) उत्+दधातेः—क्त । ऊर्ध्वं धृताः (सर्वान्) (तान्) (अग्ने) हे विद्वन् (आ वह) आनय (पितॄन्) पित्रादिरक्षकान् विद्वत्पुरुषान् (हविषे) द्वितीयार्थे चतुर्थी । हविः । ग्राह्यं पदार्थम् (अत्तवे) अद भक्षणे—तवेन् प्रत्ययः । अत्तुं भक्षितुम् ॥

३५—(ये) पुरुषाः (अग्निदग्धाः) अग्नय आहवनीयगार्हपत्यदाक्षि-

करने वाले गृहस्थ आदि] और (ये) जो (अनग्निदग्धाः) अग्नि को नहीं जलाने वाले पुरुष [आहवनीय आदि भौतिक यज्ञ अग्नि छोड़ देने वाले संन्यासी] (दिवः) ज्ञान के (मध्ये) बीच (स्वधया) आत्मधारण शक्ति से (मादयन्ते) आनन्द पाते हैं। (जातवेदः) हे पूर्ण ज्ञानी पुरुष ! (त्वम्) तू (तान्) उन को (यदि) जो (वेत्थ) जानता है, (ते) वे (स्वधया) अन्न के साथ (स्वधितिम्) स्वधारण शक्ति वाले (यज्ञम्) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] का (जुषन्ताम्) सेवन करें ॥ ३५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि हवन आदि यज्ञ करने वाले ब्रह्मचारी, गृथस्थ लोगों को और भौतिक अग्नि के यज्ञ को छोड़कर ज्ञान यज्ञ करने वाले संन्यासी विद्वानों को यथाविधि सत्कार से बुलावें और उन से श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करें ॥ ३५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-१० । १५ । १४, १३ और यजुर्वेद-१६ । ७, ६७ ॥

भगवान् मनु ने इस आशय को इस प्रकार वर्णन किया है ॥ अध्याय ६ श्लोक ३६, ३८ ॥

अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ १ ॥
प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ २ ॥

विधि पूर्वक वेदों को पढ़कर और धर्म से सन्तानों को उत्पन्न कर के और यथाशक्ति यज्ञों को कर के मन को मोक्ष [अर्थात् सन्यासाश्रम] में

णात्या दग्धाः प्रज्वलिता यैस्ते ब्रह्मचारिणो गृहस्थाश्च (ये) (अनग्निदग्धाः) अग्नय आहवनीयादयो न दग्धाः प्रज्वलिता यैस्ते ज्ञानाग्निप्रदीपकाः सन्यासिनः (मध्ये) (दिवः) दिवु गतौ-डिवि । ज्ञानस्य (स्वधया) स्वधारणशक्त्या (मादयन्ते) हृष्यन्ति (त्वम्) (तान्) पूर्वोक्तान् (वेत्थ) जानासि (यदि) (ते) पूर्वोक्ताः (जातवेदः) हे प्रसिद्धज्ञान विद्वन् (स्वधया) अन्नेन-निघ० २ । ७ (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (स्वधितिम्) धि धारणे-क्तिन् । स्वधारणशक्तियुक्तम् (जुषन्ताम्) सेवन्ताम् ॥

लगावे ॥ १ ॥

प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति कराने वाले, सर्वस्व दक्षिणा वाले यज्ञ को कर के आत्मा में [आहवनीय, गार्हापत्य और दाक्षिणात्य] अग्नियों को समारोपित करके ब्राह्मण, वेद और ईश्वर जानने वाला पुरुष, गृहाश्रम से संन्यास लेवे ॥ २ ॥

मन्त्रः ३६ ॥

अग्निर्देवता ॥ आर्ष्यनुष्टुप् छन्दः ॥

बलवर्धनोपदेशः—बल बढ़ाने का उपदेश ॥

शं त॑प॒ माति॑ तपो॒ अग्ने॒ मा त॒न्व॑१॒ं तपः॑ ।

वने॑षु॒ शुष्मो॑ अस्तु ते पृथि॒व्याम॑स्तु॒ यद्धरः॑ ॥ ३६ ॥

शम् । त॒प॒ । मा । अति॑ । त॒पः॒ । अग्ने॑ । मा । त॒न्व॑म् । तपः॑ ॥

वने॑षु । शुष्मः॑ । अ॒स्तु॒ । ते॒ । पृ॒थि॒व्याम् । अ॒स्तु॒ । यत् । हरः॑ ३६

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! तू (शम्) शान्ति के लिये (तप) तप कर, [किसी को] (अति) अत्याचार से (मा तपः) मत तपा और [किसी के] (तन्वम्) शरीर को [अत्याचार से] (मा तपः) मत तपा [मत सता]। वनेषु) सेवनीय व्यवहारों में (ते) तेरा (शुष्मः) बल (अस्तु) होवे और (यत्) जो (हरः) [तेरा] तेज है, वह (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (अस्तु) होवे ॥ ३६ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष संसार में शान्ति फैलाने के लिये शम दम आदि तप करे और किसी को किसी प्रकार न सतावे । इस विधि से बल बढ़ा उत्तम उत्तम पदार्थ प्राप्त करके पृथिवी पर प्रतापी होवे ॥ ३६ ॥

मन्त्रः ३७ ॥

यमो देवता । विराड् जगती छन्दः ॥

३६—(शम्) शान्तये (तप) शमदमादितपः कुरु (अति) अत्याचारेण (मा तपः) मा तापय । मा दुःखय कमपि (अग्ने) हे विद्वन् पुरुष (तन्वम्) कस्यचिदपि शरीरम् (मा तपः) मा दुःखय (वनेषु) वन सेवने—अच् । सेवनीयव्यवहारेषु (शुष्मः) बलम् (अस्तु) (ते) तव (पृथिव्याम्) भूमौ (अस्तु) (यत्) (हरः) हरो हरतेः, ज्योतिर्हर उच्यते—निरु० ४ । १९ । तेजः ॥

परमात्माज्ञापालनोपदेशः--परमात्मा की आज्ञा पालने का उपदेश ॥

ददाम्यस्मा अवसानमेतद् य एष आगन् मम चेदभूदिह ।
यमश्चिकित्वान् प्रत्येतदाह ममैष राय उप तिष्ठतामिह ॥३७॥

ददामि । अस्मै । अव-सानम् । एतत् । यः । एषः । आ-अगन् । मम । च । इत् । अभूत् । इह ॥ यमः । चिकित्वान् । प्रति । एतत् । आह । मम । एषः । राये । उप । तिष्ठताम् । इह ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—(एतद्) यह (अवसानम्) विश्राम (अस्मै) उस पुरुष को (ददामि) मैं देता हूं, (यः एषः) जो यह (आ-अगन्) आया है, (च) और (मम इत्) मेरा ही (इह) यहां (अभूत्) हुआ है, (मम) मेरा (एषः) यह पुरुष (राये) धन के लिये (इह) यहां पर (उप तिष्ठताम्) सेवा करे—(चिकित्वान्) ज्ञानवान् (यमः) न्यायकारी परमात्मा (एतत्) यह (प्रति) प्रत्यक्ष (आह) कहता है ॥ ३७ ॥

भावार्थ—यह परमात्मा का वचन है कि जो पुरुष संसार के बीच उत्तम शरीर और ज्ञान पाकर मेरी शरण आते हैं, वे मेरे प्रीतिपात्र होकर लोक और परलोक में मोक्षरूप धन प्राप्त करते हैं ॥ ३७ ॥

मन्त्राः ३८—४५ ॥

प्रजापतिर्देवता ॥ ३८, ३९, ४१ गायत्री ; ४०, ४२-४४ भुरिग् गायत्री ; ४५ विराडनुष्टुप् ॥

मोक्षाय प्रयत्नोपदेशः-मोक्ष के लिये प्रयत्न का उपदेश ॥

३७—(ददामि) प्रयच्छामि (अस्मै) पुरुषाय (अवसानम्) विरामम् विश्रामम् (एतत्) प्रत्यक्षम् (यः) पुरुषः (एषः) विद्यमानः (आगन्) आगमत् (मम) मत्सम्बन्धी । मदुपासकः (च) (इत्) एव (अभूत्) (इह) अत्र संसारे (यमः) न्यायकारी परमात्मा (चिकित्वान्)सर्वं जानन् (प्रति) प्रत्यक्षम् (एतत्) वाक्यम् (आह) ब्रवीति (मम) मत्प्रीतिपात्रम् (एषः) पुरुषः (राये) मोक्षरूपाय धनाय (उपतिष्ठताम्) सेवताम् (इह) जगति ॥

इमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।
शते शरत्सु नो पुरा ॥ ३८ ॥

इमाम् । मात्राम् । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न । मासातै ॥
शते । शरत्-सु । नो इति । पुरा ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को (मिमीमहे) हम नापते हैं, (यथा) क्योंकि (अपरम्) अन्य प्रकार से [उस मर्यादा को, कोई भी] (न) नहीं (मासातै) नाप सकता। (शते शरत्सु) सौ वर्षों में भी (पुरा) लगातार (नो) कभी नहीं ॥ ३८ ॥

भावार्थ—सब प्राणी परमेश्वर की ही वेदोक्त आज्ञा में रहकर निबाह करते हैं, और चाहे कोई नास्तिक अपने जीवन भर अन्यथा प्रयत्न करे, तौ भी परमेश्वर के नियम को नहीं टाल सकता ॥ ३८ ॥

प्रेमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।
शते शरत्सु नो पुरा ॥ ३९ ॥

प्र । इमाम् । मात्राम् । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न । मासातै ॥ शते । शरत्-सु । नो इति । पुरा ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को (प्र) आगे बढ़कर (मिमीमहे) हम नापते हैं......[मन्त्र ३८] ॥ ३९ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३८ के समान ॥ ३९ ॥

३८—(इमाम्) वेदोक्ताम् (मात्राम्) मर्यादाम् (मिमीमहे) माङ् माने। मानेन जानीमः (यथा) यस्मात् कारणात् (अपरम्) अन्यप्रकारेण (न) निषेधे (मासातै) माङ् माने—लेट्। मानेन जानीयात् (शते) (शरत्सु) जीवनसंवत्सरेषु (नो) नैव (पुरा) पुरा प्रबन्धचिरातीतनिकटाऽऽगामिषु—इत्यव्ययार्थः। प्रबन्धेन निरन्तरेण ॥

३९—(प्र) प्रकर्षेण। अन्यत् पूर्ववत्—म० ३८ ॥

अपे॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑रं॒ न मासा॑तै ।
श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥ ४० ॥ (१०)

अप॑ । इ॒माम् । मात्रा॑म् । मि॒मी॒म॒हे॒ । यथा॑ । अप॑रम् । न । मासा॑तै ॥ श॒ते । श॒रत्-सु॑ । नो इति॑ । पु॒रा ॥ ४० ॥ (१०)

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को (अप) आनन्द से (मिमीमहे) हम नापते हैं......[मन्त्र ३८] ॥ ४० ॥

भावार्थ—मन्त्र ३८ के समान ॥ ४० ॥

वी३॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑रं॒ न मासा॑तै ।
श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥ ४१ ॥

वि । इ॒माम् । मात्रा॑म् । मि॒मी॒म॒हे॒ । यथा॑ । अप॑रम् । न । मासा॑तै ॥ श॒ते । श॒रत्-सु॑ । नो इति॑ । पु॒रा ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को (वि) विशेष करके (मिमीमहे) हम नापते हैं......[मन्त्र ३८] ॥ ४१ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३८ के समान ॥ ४१ ॥

निरि॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑रं॒ न मसा॑तै ।
श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥ ४२ ॥

निः । इ॒माम् । मात्रा॑म् । मि॒मी॒म॒हे॒ । यथा॑ । अप॑रम् । न । मासा॑तै ॥ श॒ते । श॒रत्-सु॑ । नो इति॑ । पु॒रा ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को (निः) निश्चय करके (मिमीमहे) हम नापते हैं......[म० ३८] ॥ ४२ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३८ के समान ॥ ४२ ॥

४०—(अप) आनन्देन । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३८ ॥

४१—(वि) विशेषेण । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३८ ॥

उदि॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑र॒ं न मासा॑तै ।
श॒ते श॒रत्सु॑ नो पु॒रा ॥ ४३ ॥

उत् । इ॒माम् । मात्रा॑म् । मि॒मी॒म॒हे॒ । यथा॑ । अप॑रम् । न । मासा॑तै ॥ श॒ते । श॒रत्-सु॑ । नो इति॑ । पु॒रा ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को (उत्) उत्तमता से (मिमीमहे) हम नापते हैं......[मन्त्र ३८] ॥ ४३ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३८ के समान ॥ ४३ ॥

समि॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑र॒ं न मासा॑तै ।
श॒ते श॒रत्सु॑ नो पु॒रा ॥ ४४ ॥

सम् । इ॒माम् । मात्रा॑म् । मि॒मी॒म॒हे॒ । यथा॑ । अप॑रम् । न । मासा॑तै ॥ श॒ते । श॒रत्-सु॑ । नो इति॑ । पु॒रा ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को (सम्) सब प्रकार (मिमीमहे) हम नापते हैं, (यथा) क्योंकि (अपरम्) अन्य प्रकार से [उस मर्यादा को, कोई भी] (न) नहीं (मासातै) नाप सकता। (शते शरत्सु) सौ वर्षों में भी (पुरा) लगातार (नो) कभी नहीं ॥ ४४ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३८ के समान ॥ ४४ ॥

अमा॑सि॒ मात्रां॒ स्व॑रगा॒मायु॑ष्मान् भूयासम् ।
यथाप॑र॒ं न मासा॑तै श॒ते श॒रत्सु॑ नो पु॒रा ॥ ४५ ॥

अमा॑सि । मात्रा॑म् । स्व॑ः । अ॒गा॒म् । आयु॑ष्मान् । भू॒या॒स॒म् ॥ यथा॑ । अप॑रम् । न । मासा॑तै । श॒ते । श॒रत्-सु॑ । नो इति॑ । पु॒रा ॥ ४५ ॥

४३—(उत्) उत्तमतया । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३८ ॥
४४—(सम्) सम्यक् ॥ अन्यत् पूर्ववत्—म० ३८ ॥

भाषार्थ—(मात्राम्) मात्रा [इस वेदोक्त मर्यादा] को (अमासि) मैं नापूं, (स्वः) सुख (अगाम्) पाऊं, और (आयुष्मान्) उत्तम जीवन वाला (भूयासम्) मैं हो जाऊं। (यथा) क्योंकि (अपरम्) अन्य प्रकार से [उस मर्यादा को, कोई भी] (न) नहीं (मासातै) नाप सकता, (शते शरत्सु) सौ वर्षों में भी (पुरा) लगातार (नो) कभी नहीं ॥ ४५ ॥

भावार्थ—प्रत्येक मनुष्य वेद विहित ईश्वर मर्यादा पर चल कर मोक्ष सुख प्राप्त करे, वेदविमुख पुरुष सारे जीवन भर भी प्रयत्न करने पर ईश्वर नियम को नहीं हटा सकता ॥ ४५ ॥

मन्त्राः ४६—४९ ॥

पितरो देवताः ॥ ४६ भुरिगनुष्टुप् । ४७ त्रिष्टुप् ; ४८ अनुष्टुप् ४९ भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

पितृगुणोपदेशः—पितरों के गुणों का उपदेश ॥

प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुर्दृशये सूर्याय ।
अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितॄन् गच्छ ॥ ४६ ॥

प्राणः । अपानः । वि-आनः । आयुः । चक्षुः । दृशये । सूर्याय ॥
अपरि-परेण । पथा । यम-राज्ञः । पितॄन् । गच्छ ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य ! तेरे] (प्राणः) प्राण [श्वास], (अपानः) अपान [प्रश्वास], (व्यानः) व्यान [सर्व शरीर व्यापक वायु], (आयुः) जीवन और (चक्षुः) नेत्र (सूर्याय दृशये) सर्वप्रेरक परमात्मा के देखने को [होवें]। (अपरिपरेण) इधर उधर न घूमने वाले [सर्वथा सीधे] (पथा)

४५—(अमासि) माङ् माने लिङर्थे लुङ्। अहं मासीय (मात्राम्) वेदोक्तमर्यादाम् (स्वः) सुखम् (अगाम्) इण् गतौ—लिङर्थे लुङ्। ईयासम्। प्राप्नुयाम् (आयुष्मान्) उत्तमजीवनयुक्तः (भूयासम्) अन्यत् पूर्ववत्—म० ३८ ॥

४६—(प्राणः) श्वासः (अपानः) प्रश्वासः (व्यानः) सर्वशरीरव्यापको वायुः (आयुः) जीवनम् (चक्षुः) नेत्रम् (दृशये) दर्शनाय। द्रष्टुम् (सूर्याय) सूर्यम्। सर्वप्रेरकं परमात्मानम् (अपरिपरेण) छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि। पा० ५। २। ८९। अत्र परिपरशब्द इनिप्रत्ययान्तो दृश्यते।

मार्ग से (यमराज्ञः) यम [न्यायकारी परमात्मा] को राजा रखने वाले (पितॄन्) पितरों [रक्षक महात्माओं] को (गच्छ) प्राप्त हो ॥ ४६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अनन्यभाव से परमात्मा की प्राप्ति के लिये वेदानुयायी महात्माओं की शरण लेवे ॥ ४६ ॥

ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः ।

ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः ॥४७॥

ये । अग्रवः । शशमानाः । परा-ईयुः । हित्वा । द्वेषांसि । अनपत्य-वन्तः ॥ ते । द्याम् । उत्-इत्य । अविदन्त । लोकम् । नाकस्य । पृष्ठे । अधि । दीध्यानाः ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (अग्रवः) आगे चलने वाले, (शशमानाः) उद्योगी (अनपत्यवन्तः) अनैश्वर्य [दरिद्रता] न रखने वाले पुरुष (द्वेषांसि) द्वेषों को (हित्वा) छोड़कर (परेयुः) ऊंचे गये हैं । (ते) उन (दीध्यानाः) प्रकाशमान लोगों ने (द्याम्) प्रकाशमान विद्या को (उदित्य) उत्तमता से प्राप्त करके (नाकस्य) महासुख के (पृष्ठे) उपरि भाग में (लोकम्) स्थान (अधि) अधिकार पूर्वक (अविदन्त) पाया है ॥ ४७ ॥

परि परितः सर्वतः परः परभावो भिन्नभावः कुटिलभावो न विद्यते यस्मिन् तादृशेन महासरलेन (पथा) मार्गेण (यमराज्ञः) यमो न्यायकारी परमात्मा राजा येषां तान् (पितॄन्) पालकान् । महापुरुषान् (गच्छ) प्राप्नुहि ॥

४७—(ये) विद्वांसः (अग्रवः) मीपीभ्यां रुः । उ० ४ । १०१ । अग गतौ रुप्रत्ययः । अग्रगामिनः (शशमानाः) शश प्लुतगतौ—चानश् । प्लुतगमनशीलाः । उद्योगिनः (परेयुः) परा प्राधान्येन गताः (हित्वा) त्यक्त्वा (द्वेषांसि) विरोधान् (अनपत्यवन्तः) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । द्विनञ्पूर्वात् पत ऐश्वर्ये—यक् । पत्यतेरैश्वर्यकर्मा—निघ० २ । २१ । अनैश्वर्यरहिताः । परमैश्ववन्तः (ते) (द्याम्) प्रकाशमानां विद्याम् (उदित्य) उत्तमतया प्राप्य (अविदन्त) विद्लृ लाभे—लुङ् । अलभन्त (लोकम्) स्थानम् (नाकस्य) महासुखस्य (दीध्यानाः) दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः—शानच् । दीप्यमानाः ॥

भावार्थ—विद्वान् उद्योगी महापुरुष ही पक्षपात छोड़ विद्या प्राप्त करके मोक्षसुख भोगते हैं ॥ ५७ ॥

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा ।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥ ४८ ॥

उदन्-वती । द्यौः । अवमा । पीलु-मती । इति । मध्यमा ॥
तृतीया । ह । प्र-द्यौः । इति । यस्याम् । पितरः । आसते ॥४८॥

भाषार्थ—(उदन्वती) थोड़े जल वाली [नदी के समान] (अवमा) थोड़ी (द्यौः) प्रकाशमान विद्या है, (पीलुमती) फूलों वाली [लता के समान] (मध्यमा इति) मध्यम विद्या है। (तृतीया) तीसरी (ह) निश्चय करके (प्रद्यौः इति) बड़े प्रकाश वाली [विद्या] है, (यस्याम्) जिस [बड़ी विद्या] में (पितरः) पितर [रक्षक महात्मा लोग] (आसते) ठहरते हैं ॥ ४८ ॥

भावार्थ—छोटे विद्वान् छोटी नदी के समान, मध्यम विद्वान् केवल फल वाली लता के समान बाहिर से शोभायमान होते हैं, परन्तु पूर्ण विद्या प्राप्त करके सर्वोपकारी हो पितर अर्थात् पालनकर्ता कहाते हैं ॥ ४८ ॥

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्व१न्तरिक्षम् ॥
य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ४९

ये । नः । पितुः । पितरः । ये । पितामहाः । ये । आ-विविशुः ।

४८—(उदन्वती) उदन्वानुदधौ च । पा० ८ । २ । १३ । उदकस्य उदन् मतौ, निन्दायां मतुप् । अल्पजला नदी यथा (द्यौः) प्रकाशकर्मा विद्या—दयानन्द-भाष्ये, यजु० १८ । १८ । प्रकाशमाना विद्या (अवमा) अवद्यावमाधमार्वरेफाः कुत्सिते । उ० ५ । ५४ । अव रक्षणगतिवधादिषु—अमप्रत्ययः । कुत्सिता । अल्पा (पीलुमती) मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ पील रोधने–कु । द्रुमप्रभेदमातङ्ग-काण्डपुष्पाणि पीलवः। अमरः २३ । १८३। प्रसूनवती । पुष्पयुक्ता लता यथा (इति) पादपूरणे (मध्यमा) (तृतीया) (ह) निश्चयेन (प्रद्यौः) प्रकर्षेण दीप्यमाना विद्या (इति) (यस्याम्) विद्यायाम् (पितरः) पालका महात्मानः (आसते) तिष्ठन्ति ॥

उरु । अन्तरिक्षम् ॥ ये । आ-क्षियन्ति । पृथिवीम् । उत । द्याम् । तेभ्यः । पितृ-भ्यः । नमसा । विधेम ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—(ये) जो पुरुष (नः) हमारे (पितुः) पिता के (पितरः) पिता के समान हैं, और (ये) जो [उसके] (पितामहाः) दादे के तुल्य हैं, और (ये) जो (उरु) चौड़े (अन्तरिक्षम्) आकाश में [विद्या बल से विमान आदि द्वारा] (आविविशुः) प्रविष्ट हुये हैं और (ये) जो (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) आकाश में (आक्षियन्ति) सब प्रकार शासन करते हैं, (तेभ्यः) उन (पितृभ्यः) पितरों [रक्षक महात्माओं] की (नमसा) अन्न से (विधेम) हम सेवा करें ॥ ४६ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो तुम्हारे पिता दादे, परदादे आदि बड़े योगी विद्वान् होकर विद्याबल से विमान आदि द्वारा आकाश में पहुंचे हैं और जो पृथिवी और आकाश में राज्य करते हैं, उनका अन्न आदि से सत्कार करके अपनी उन्नति करो ॥ ४६ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध आगे है--अथ० १८ । ३ । ५६ ।

मन्त्राः ५०—५२ ॥

भूमिर्देवता ॥ ५०, ५२ अनुष्टुप् ; ५१ भुरिगनुष्टुप् ॥

परमात्मोपासनोपदेशः--परमात्मा की उपासना का उपदेश ॥

इदमिद् वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम् ।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ५० ॥ (११)

इदम् । इत । वै । ऊं इति । न । अपरम् । दिवि । पश्यसि ।

४६—(ये) माननीयाः (नः) अस्माकम् (पितुः) जनकस्य (पितरः) पितृतुल्यमाननीयाः (ये) (पितामहाः) पितामहसमानपूजनीयाः (ये) (आविविशुः) प्रविष्टा बभूवुः (उरु) विस्तृतम् (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (ये) (आक्षियन्ति) क्षि ऐश्वर्यनिवासयोः । अन्तर्गतण्यर्थः । क्षयति क्षियति, ऐश्वर्यकर्मा—निघ० २ । २१ । समन्ताद्दर्शयन्ति । सम्यक् शासति (पृथिवीम्) (उत) अपि च (द्याम्) आकाशम् (तेभ्यः) तादृशेभ्यः (पितृभ्यः) पालकेभ्यो महात्मभ्यः (नमसा) अन्नेन (विधेम) परिचरेम—निघ० ३ । ५ ॥

सूर्यम् ॥ माता । पुत्रम् । यथा । सिचा । अभि । एनम् ।
भूमे । ऊर्णुहि ॥ ५० ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] (इदम् इत्) यही [सर्वव्यापक ब्रह्म] (वै) निश्चय करके है, (उ) और (अपरम्) दूसरा (न) नहीं है, तू (दिवि) ज्ञान प्रकाश में (सूर्यम्) सर्वप्रेरक परमात्मा को (पश्यसि) देखता है ।

(यथा)जैसे (माता) माता (पुत्रम्) पुत्र को (सिचा) अपने आंचल से, [वैसे](भूमे) हे सर्वाधार परमेश्वर ! (एनम्) इस [जीव] को (अभि) सब ओर से (ऊर्णुहि) ढकले ॥ ५० ॥

भावार्थ—परमात्मा सर्वव्यापक है, उसके समान और कोई नहीं है, वह ज्ञान नेत्र से दीखता है । वह अपने शरणागत भक्तों की इस प्रकार सर्वथा रक्षा करता है,जैसे माता अपने छोटे बच्चों की वस्त्र आदि से रक्षा करतीहै॥५०

इस मन्त्र का उत्तरार्ध ऋग्वेद में है—१० । १८ । ११, और आगे है—अथर्व १८ । ३ । ५० ॥

इदमिद्वा उ नापरं जरस्यन्यदितोऽपरम् ।
जाया पतिमिव वाससाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ५१ ॥

इदम् । इत् । वै । ऊं इति । न । अपरम् । जरसि । अन्यत् । इतः । अपरम् ॥ जाया । पतिम्-इव । वाससा । अभि । एनम् । भूमे । ऊर्णुहि ॥ ५१ ॥

५०—(इदम्) दृश्यमानम् । सर्वव्यापकं ब्रह्म (इत) एव (वै) निश्चयेन (उ) च (न) निषेधे (अपरम्) अन्यत् किंचित् (दिवि) ज्ञानप्रकाशे (पश्यसि) अवलोकयसि (सूर्यम्) सर्वप्रेरकं परमात्मानम् (माता) जननी (पुत्रम्) (यथा) येन प्रकारेण (सिचा) षिच क्षरणे—क्विप् । वस्त्रेण । चेलाञ्चलेन (अभि) सर्वतः (एनम्) जीवम् (भूमे) भवन्ति लोका यस्यां सा भूमिः परमेश्वरः । हे सर्वाधार परमात्मन् (ऊर्णुहि) आच्छादय । सर्वथा रक्ष ॥

भाषार्थ—(इदम् इत्) यही [सर्वव्यापक ब्रह्म] (वै) निश्चय करके है, (उ) और (जरसि) स्तुति में (इतः) इस [ब्रह्म] से (अन्यत्) भिन्न (अपरम् अपरम्) दूसरा कुछ भी (न) नहीं है।

(इव) जैसे (जाया) सुख उत्पन्न करने वाली पत्नी (पतिम्) पति को (वाससा) वस्त्र से, [वैसे] (भूमे) हे सर्वाधार परमेश्वर ! (एनम्) इस [जीव] को (अभि) सब ओर से (ऊर्णुहि) ढकले ॥ ५१ ॥

भावार्थ—वह अद्वितीय सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर अपने उपासकों को अपनी कृपा से ऐसा प्रसन्न रखता है, जैसे पत्नी पति को वस्त्र आदि की सेवा से प्रसन्न रखती है ॥ ५१ ॥

अभि त्वोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया ।
जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि ॥ ५२ ॥

अभि । त्वा । ऊर्णोमि । पृथिव्याः । मातुः । वस्त्रेण । भद्रया ॥ जीवेषु । भद्रम् । तत् । मयि । स्वधा । पितृषु । सा । त्वयि ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] (त्वा) तुझे (पृथिव्याः) जगत् के विस्तार करने वाले परमेश्वर के [दिये] (भद्रया) कल्याण से (अभि) सब ओर से (ऊर्णोमि) मैं ढकता हूं, [जैसे] (मातुः) माता के (वस्त्रेण) वस्त्र से [बालक को]। (जीवेषु) जीवों में (भद्रम्) [जो] कल्याण हो, (तत्) वह

५१—(अपरम् अपरम्) अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—निरु० १० । ४२ । अन्यत् किंचिदपि (जरसि) जॄ स्तुतौ—असुन् । जरतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । स्तुतौ (अन्यत्) (इतः) अस्मात् परब्रह्मणः (जाया) सुखोत्पादिका पत्नी (पतिम्) भर्तारम् (इव) यथा—अन्यत् पूर्ववत्—म० ५० ॥

५२—(अभि) अभितः । सर्वतः (त्वा) जीवम् (ऊर्णोमि) आच्छादयामि (पृथिव्याः) प्रथेः षिवन्० । उ० १ । १५० । प्रथ प्रख्याने—षिवन्, संप्रसारणं ङीष् च । प्रथयति विस्तारयति सर्वं जगत् सा पृथिवी परमेश्वरः । जगद् विस्तारकस्य परमेश्वरस्य (मातुः) जनन्याः (वस्त्रेण) वाससा यथा (भद्रया) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । विभक्तेर्याप्रत्ययः । भद्रेण । कल्या-

(मयि) मुझ में [हो]. (पितृषु) पितरों [रक्षक महात्माओं] में (स्वधा) [जो] आत्म धारण शक्ति हो, (सा) वह (त्वयि) तुझ में होवे ॥ ५२ ॥

भावार्थ—प्रत्येक मनुष्य परमात्मा की शरण में रहकर इस प्रकार सुख पावे, जैसे बालक माता के पास पाता है, और ऐसा प्रयत्न करे कि सब प्राणी एक दूसरे के समान सुख पावें और ज्ञानी महात्माओं के समान आत्मा-वलम्बन करें ॥ ५२ ॥

मन्त्राः ५३–५५ ॥

पूषा देवता ॥ ५३, ५५ भुरिक् त्रिष्टुप् ; ५४ त्रिष्टुप् ॥
सन्मार्गगमनोपदेशः—सत्पुरुषों के मार्ग पर चलने का उपदेश ॥

अग्नीषोमा पथिकृता स्योनं देवेभ्यो रत्नं दधथुर्वि लोकम् । उप प्रेष्यन्तं पूषणं यो वहात्यञ्जोयानैः पथिभिस्तत्र गच्छतम् ॥ ५३ ॥

अग्नीषोमा । पथि-कृता । स्योनम् । देवेभ्यः । रत्नम् । दधथुः । वि । लोकम् ॥ उप । प्र । ईष्यन्तम् । पूषणम् । यः । वहाति । अञ्जः-यानैः । पथि-भिः । तत्र । गच्छतम् ५३

भाषार्थ—(अग्नीषोमा) हे ज्ञानवान् और ऐश्वर्यवान् ! [स्त्री पुरुषो] (पथिकृता) मार्ग बनाने वाले तुम दोनों (देवेभ्यः) विद्वानों को (स्योनम्) सुख, (रत्नम्) रत्न और (लोकम्) स्थान (वि) विविध प्रकार (दधथुः) दो। (यः) जो [परमेश्वर] (अञ्जोयानैः) सीधे चलने वाले (पथिभिः)

येन (जीवेषु) प्राणिषु (भद्रम्) यत् कल्याणम् (तत्) (मयि) प्राणिनि (स्वधा) या स्वधारणशक्तिः (पितृषु) पालकेषु महात्मसु (सा) (त्वयि) प्राणिनि भवतु ॥

५३—(अग्नीषोमा) अग गतौ–नि + षू प्रसवैश्वर्ययोः—मन् । ज्ञानैश्वर्यवन्तौ स्त्रीपुरुषौ (पथिकृता) मार्गकर्तारौ (स्योनम्) सुखम् (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः (रत्नम्) प्रशस्तं धनम् (दधथुः) लोडर्थे लिट् । धत्तम् । दत्तम् (वि) विविधम् (लोकम्) स्थानम् (उप) उपेत्य (प्र) प्रकर्षेण (ईष्यन्तम्)

मार्गों से [हम सब को] (वहाति) ले चलता है, (प्र ईष्यन्तम्) उस अच्छे प्रकार देखते हुये (पूषणम्) पोषक परमात्मा को (उप) प्राप्त होकर (तत्र) वहां [मार्गों में] (गच्छतम्) तुम दोनों चलो ॥ ५३ ॥

भावार्थ--सब स्त्री पुरुष विद्वानों का सब प्रकार सत्कार करके वेद-विहित मार्गों पर चल कर परमात्मा को साक्षात् करके परम आनन्द पावें ॥५३॥

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।

स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥५४॥

पूषा । त्वा । इतः । च्यवयतु । प्र । विद्वान् । अनष्ट-पशुः । भुवनस्य । गोपाः ॥ सः । त्वा । एतेभ्यः । परि । ददत् । पितृ-भ्यः । अग्निः । देवेभ्यः । सु-विदत्रियेभ्यः ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—(विद्वान्) सब जानने वाला, (अनष्टपशुः) जीवों का नाश नहीं करने वाला, (भुवनस्य) संसार का (गोपाः) रक्षक, (पूषा) पोषक परमात्मा (त्वा) तुझे (इतः) यहां से [इस दशा से] (प्र च्यवयतु) आगे को बढ़ावे । (सः) वह (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वर (त्वा) तुझे (एतेभ्यः) इन (देवेभ्यः) विद्वान् (सुविदत्रियेभ्यः) बड़े धन वाले (पितृभ्यः) पितरों [रक्षक महात्माओं] को (परि) सब प्रकार (ददत्) देवे ॥ ५४ ॥

ईष गतिहिंसादर्शनेषु—शतृ । पश्यन्तम् (पूषणम्) तं पोषकं परमात्मानम् (यः) पूषा परमात्मा (वहाति) लडर्थे लेट् । वहति । नयति (अञ्जोयानैः) अञ्जसा सरलभावेन गन्तृभिः (पथिभिः) मार्गैः (तत्र) तेषु मार्गेषु (गच्छतम्) ॥

५४—(पूषा) पोषकः परमात्मा (त्वा) त्वामुपासकम् (च्यवयतु) गमयतु (प्र) प्रकर्षेण (विद्वान्) (अनष्टपशुः) अनष्टा अहताः पशवः प्राणिनो येन स तथोक्तः (भुवनस्य) संसारस्य (गोपाः) गुपू रक्षणे-आय-प्रत्यये कृते क्विप्, अल्लोपयलोपौ । गोपायिता । रक्षकः (त्वा) (एतेभ्यः) (परि) सर्वतः (ददत्) दद्यात् (पितृभ्यः) पालकेभ्यो महात्मभ्यः (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वरः (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः (सुविदत्रियेभ्यः) सुविदत्र-घप्रत्ययः । सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेः-निरु० ७ । ६ । बहुधनार्हेभ्यः । महाधनिभ्यः ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वदर्शक, सर्वरक्षक, सर्वनियामक, जगदीश्वर की उपासना करके आगे बढ़े, जिस से वह बड़े बड़े विद्वानों में स्थान पावे ॥ ५४ ॥

मन्त्र ५४ अभेद से और मन्त्र ५५ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१०।१७।३,४॥

आयुर्विश्वायुः परि पातु त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात्। यत्रासते सुकृतो यत्र त ईयुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ॥५५

आयुः। विश्व-आयुः। परि। पातु। त्वा। पूषा। त्वा। पातु। प्र-पथे। पुरस्तात् ॥ यत्र। आसते। सु-कृतः। यत्र। ते। ईयुः। तत्र। त्वा। देवः। सविता। दधातु ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—(विश्वायुः) सब को अन्न देने वाला (आयुः) सर्वव्यापक परमात्मा (त्वा) तेरी (परि) सब ओर से (पातु) रक्षा करे, (पूषा) पोषक परमेश्वर (प्रपथे) उत्तम मार्ग में (पुरस्तात्) सामने से (त्वा) तेरी (पातु) रक्षा करे। (यत्र) जहां [उत्तम स्थान में] (सुकृतः) सुकर्मी लोग (आसते) बैठते हैं, और (यत्र) जहां [उत्तम मार्ग में] (ते) वे (ईयुः) चले हैं, (तत्र) वहां [उस स्थान और मार्ग में] (त्वा) तुझको (देवः) प्रकाशमय (सविता) सर्वप्रेरक परमात्मा (दधातु) रक्खे ॥ ५५ ॥

भावार्थ—सर्वपालक, सर्वव्यापक, सर्वपोषक जगदीश्वर का आश्रय लेकर सदा सुकर्मी लोग सन्मार्ग पर चलते हैं, उसी जगत् पिता की शरण में रह कर प्रत्येक मनुष्य श्रेष्ठ मार्ग पर चल कर सुखी होवे ॥ ५५ ॥

५५—(आयुः) छन्दसीणः। उ० १। २। इण् गतौ—उण्। सर्वव्यापकः (विश्वायुः) आयुः, अन्नम्—निघ० २। ७। सर्वेभ्यः प्रापणीयमन्नं यस्मात् सः परमेश्वरः (परि) सर्वतः (पातु) (त्वा) (पूषा) पोषकः परमेश्वरः (त्वा) (पातु) (प्रपथे) प्रकृष्टे मार्गे (पुरस्तात्) अग्रे (यत्र) यस्मिन् श्रेष्ठस्थाने (आसते) उपविशन्ति (सुकृतः) पुण्यकर्माणः (यत्र) सन्मार्गे (ते) सुकृतिनः (ईयुः) जग्मुः (तत्र) स्थाने मार्गे च (त्वा) (देवः) प्रकाशमयः (सविता) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (दधातु) धारयतु। स्थापयतु ॥

मन्त्रः ५६ ॥

परमात्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पुरुषार्थकरणोपदेशः—पुरुषार्थ करने का उपदेश ॥

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे ।
ताभ्यां यमस्य सदनं समितीश्चाव गच्छतात् ॥ ५६ ॥

इमौ । युनज्मि । ते । वह्नी इति । असु-नीताय । वोढवे ॥
ताभ्याम् । यमस्य । सदनम् । सम्-इतीः । च । अव ।
गच्छतात् ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—(इमौ) इन (वह्नी) ले चलने वाले दोनों [प्राण और अपान] को (असुनीताय) बुद्धि से ले जाये गये (ते) तुझे (वोढवे) ले चलने के लिये (युनज्मि) मैं [परमेश्वर] युक्त करता हूं। (ताभ्याम्) उन दोनों [प्राण और अपान] के द्वारा (यमस्य) नियम के (सदनम्) प्राप्ति योग्य पद को (च) और (समितीः) समितियों [सभाओं] को (अव गच्छतात्) निश्चय से तू प्राप्त हो ॥ ५६ ॥

भावार्थ—परमात्मा आज्ञा देता है कि हे मनुष्य मैं ने प्राण अपान आदि बुद्धि सहित तुझे इस लिये दिये हैं कि तू नियम के साथ उत्तम पद प्राप्त करके सभाओं में प्रतिष्ठा पावे ॥ ५६ ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्द कृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

मन्त्राः ५७—६० ॥

जीवात्मा देवता ॥ ५७ भुरिक् त्रिष्टुप् ; ५८ निचृत् त्रिष्टुप् ; ५९ , ६० त्रिष्टुप् ॥

५६—(इमौ) शरीरे वर्तमानौ (युनज्मि) अहं परमेश्वरो योजयामि (ते) द्वितीयार्थे चतुर्थी । त्वाम् (वह्नी) वोढारौ प्राणापानौ (असुनीताय) असु-रिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थान्–निरु० १० । ३४ । प्रज्ञया नीतं प्रापितम् (वोढवे) वह प्रापणे—तवेन्प्रत्ययः । वोढुम् । नेतुम् (ताभ्याम्) प्राणापानाभ्यां द्वारा (यमस्य) नियमस्य (सदनम्) स्थानम् । पदम् (समितीः) सभाः (च) (अव) निश्च-येन (गच्छतात्) प्राप्नुहि ॥

सुकर्म करणोपदेशः—सुकर्म करने का उपदेश ॥

एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा ।
इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु ॥५७॥

एतत् । त्वा । वासः । प्रथमम् । नु । आ । अगन् । अप । एतत् । ऊह । यत् । इह । अबिभः । पुरा ॥ इष्टापूर्तम् । अनु-संक्राम । विद्वान् । यत्र । ते । दत्तम् । बहु-धा । वि-बन्धुषु ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—(एतत्) यह (प्रथमम्) मुख्य (वासः) वस्त्र (त्वा) तुझे (नु) अब (आ अगन्) प्राप्त हुआ है, (एतत्) इस [वस्त्र] को (अप ऊह) छोड़ (यत्) जो (इह) यहां पर (पुरा) पहिले (अबिभः) तू ने धारण किया है। (विद्वान्) विद्वान् तू (इष्टापूर्तम्) यज्ञ, वेदाध्ययन और अन्नदान आदि पुण्य कर्म के (अनुसंक्राम) पीछे पीछे चल, (यत्र) जिस [पुण्य कर्म] में (ते) तेरा (दत्तम्) दान (बहुधा) बहुत प्रकार से (विबन्धुषु) बिना बन्धु वालों [दीन, अनाथों] में है ॥ ५७ ॥

भावार्थ—जैसे नवीन वस्त्र पाने पर जीर्ण वस्त्र छोड़ दिया जाता है, वैसे ही ज्ञान की प्राप्ति पर अज्ञान त्यागा जाता है। मनुष्य को चाहिये कि वेदाध्ययन आदि शुभकर्म करता हुआ निष्काम होकर परोपकार करे ॥ ५७ ॥

५७—(एतत्) इदं दृश्यमानम् (त्वा) त्वाम् (वासः) वस्त्रम् (प्रथमम्) मुख्यम् (नु) इदानीम् (आगन्) आगमत्। प्राप्नोत् (अप ऊह) ऊह वितर्के। परित्यज (एतत्) वस्त्रम् (यत्) वस्त्रम् (इह) अत्र संसारे (अबिभः) बिभर्त्तेर्लङ्। अधारयः (पुरा) पूर्वकाले (इष्टापूर्तम्) अ० २। १२। १४। यज्ञवेदाध्ययनान्नप्रदानादि पुण्यकर्म (अनुसंक्राम) अनुलक्ष्य गच्छ (विद्वान्) (यत्र) यस्मिन् पुण्यकर्मणि (ते) तव (दत्तम्) दानम् (बहुधा) बहुप्रकारेण (विबन्धुषु) विगतबान्धवेषु। दीनेषु ॥

अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व मेदसा पीवसा च।
नेत् त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग् विधक्षन् परीङ्खयातै ५८

अग्नेः। वर्म। परि। गोभिः। व्ययस्व। सम्। प्र। ऊर्णुष्व। मेदसा। पीवसा। च॥ न। इत्। त्वा। धृष्णुः। हरसा। जर्हृषाणः। दधृक्। वि-धक्षन्। परि-ईङ्खयातै॥ ५८॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य!] (अग्नेः) ज्ञानमय परमेश्वर के (वर्म) कवच [समान आश्रय] को (गोभिः) वेदवाणियों द्वारा (परि) सब ओर से (व्ययस्व) तू पहिन और (मेदसा) ज्ञान से (च) और (पीवसा) वृद्धि से [अपने को] (सम्) सब प्रकार (प्र ऊर्णुष्व) ढके रख। (न इत्) नहीं तौ (धृष्णुः) साहसी, (जर्हृषाणः) अत्यन्त हर्ष मनाने वाला, (दधृक्) निर्भय परमात्मा (त्वा) तुझ को (हरसा) [अपने] तेज से (विधक्षन्) विविध प्रकार सन्ताप देता हुआ (परीङ्खयातै) इधर उधर चला देगा॥ ५८॥

भावार्थ—सब मनुष्य वेदों के मनन से परमात्मा का आश्रय ले बुद्धि बढ़ाकर उन्नति करें, नहीं तौ सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर के नियम से दुष्ट मूर्ख नरक भोगेगा॥ ५८॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१०। १६। ७। और महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है॥

५८—(अग्नेः) ज्ञानमयस्य परमात्मनः (वर्म) कवचरूपमाश्रयम् (परि) सर्वतः (गोभिः) वेदवाग्भिः (व्ययस्व) व्येञ् संवरणे। संवृणु (सम्) सम्यक् (प्र) प्रकर्षेण (ऊर्णुष्व) आच्छादय (मेदसा) मेदृ मेधायाम्—असुन्। मेधया। ज्ञानेन (पीवसा) पीव स्थौल्ये-असुन्। वृद्ध्या (च) (न इत्) नो चेत् (त्वा) (धृष्णुः) धर्षकः। अविभविता (हरसा) स्वतेजसा (जर्हृषाणः) अत्यन्तं हृष्यन् (दधृक) ऋत्विग्दधृक्स्रग्०। पा०। ३। २। ५६। धृष्णोतेः क्विन् द्वित्वमन्तोदात्तत्वं च। धृष्टः। प्रगल्भः (विधक्षन्) विविधं दग्धुं तापयितुमिच्छन् (परीङ्खयातै) ईखि गतौ—लेट्। ईङ्खत इति गतिकर्मा—निघ० २। १४। सर्वथा चालयेत्॥

दण्डं हस्तादाददानो गतासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन ।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम ॥५८॥

दण्डम् । हस्तात् । आ-ददानः । गत-असोः । सह । श्रोत्रेण ।
वर्चसा । बलेन ॥ अत्र । एव । त्वम् । इह । वयम् । सु-वीराः
विश्वाः । मृधः । अभि-मातीः । जयेम ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—(गतासोः) प्राण छोड़े हुये [मृतक समान निरुत्साही] पुरुष के (हस्तात्) हाथ से (श्रोत्रेण) [अपने] श्रवण सामर्थ्य [विद्याबल], (वर्चसा) तेज और (बलेन सह) बल के साथ (दण्डम्) दण्ड [शासन पद] को (आददानः) लेता हुआ (त्वम्) तू (अत्र एव) यहां पर और (वयम्) हम (इह) यहां पर (सुवीराः) बड़े वीरों वाले होकर (विश्वाः) सब (मृधः) संग्रामों और (अभिमातीः) अभिमानी शत्रुओं को (जयेम) जीतें ॥ ५८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धर्म में निरुत्साही हो, सब धर्मात्मा पुरुष उस दुराचारी को पदच्युत करके परास्त करें ॥ ५८ ॥

मन्त्र ५८ का उत्तरार्द्ध और मन्त्र ६० का पूर्वार्द्ध कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १८ । ६ ॥

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।
समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम् ॥६०॥(१२)

धनुः । हस्तात् । आ-ददानः । मृतस्य । सह । क्षत्रेण । वर्चसा ।

५८—(दण्डम्) शासनाधिकारम् (हस्तात्) अधिकारात् (आददानः) गृह्णानः (गतासोः) विगतप्राणस्य । मृतकसदृशस्य (सह) (श्रोत्रेण) श्रवणसामर्थ्येन । विद्याबलेन (वर्चसा) तेजसा (बलेन) सामर्थ्येन (अत्र) अस्मिन् संसारे (एव) (त्वम्) (इह) (वयम्) पुरुषार्थिनः (सुवीराः) सुवीरवन्तः (विश्वाः) सर्वाः (मृधः) संग्रामान् (अभिमातीः) अभिमन्यमानान् शत्रून् (जयेम) अभिभवेम ॥

बलेन ॥ सम्-आगृभाय । वसु । भूरि । पुष्टम् । अर्वाङ् । त्वम् । आ । इहि । उप । जीव-लोकम् ॥ ६० ॥ (१२)

भाषार्थ—(मृतस्य) मरे हुये [मरे हुये के समान दुर्बलेन्द्रिय पुरुष] के (हस्तात्) हाथ से (धनुः) धनुष [शासनशक्ति] को (क्षत्रेण) [अपने] क्षत्रियपन, (वर्चसा) तेज और (बलेन सह) बल के साथ (आददानः) लेता हुआ तू (भूरि) बहुत (पुष्टम्) पुष्ट [पुष्टिकारक] (वसु) धन (समागृभाय) यथावत् संग्रह कर और (अर्वाङ्) सामने होता हुआ (त्वम्) तू (जीवलोकम्) जीवते हुये [पुरुषार्थी] मनुष्यों के समाज में (उप) आदर से (आ इहि) आ ॥ ६० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धर्मके पालने में पुरुषार्थ न करता हो , उस को अधिकार से हटाकर पुरुषार्थी पुरुष धर्मसे धन का संग्रह करके सब लोगो की वृद्धि करे ॥ ६० ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३ [मन्त्राः १-७३] ॥

मन्त्राः १—४ ॥ नारी देवता ॥ १,२,३ त्रिष्टुप्, ४ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

नियोगविधानोपदेशः—नियोग विधान का उपदेश ॥

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् ।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥ १ ॥

६०— (धनुः) चापम् । शासनचिह्नम् (हस्तात्) अधिकारात् (आददानः) गृह्णानः (मृतस्य) मृतकतुल्यस्य दुर्बलेन्द्रियस्य (सह) (क्षत्रेण) क्षत्रियत्वेन (वर्चसा) (बलेन) (समागृभाय) ग्रह उपादाने-श्नाप्रत्ययस्य शायजादेशः, हस्य भः । संग्रहेण प्राप्नुहि (वसु) धनम् (भूरि) बहुलम् (पुष्टम्) पोषकम् (अर्वाङ्) अभिमुखः सन् (त्वम्) (एहि) आगच्छ (उप) पूजायाम् (जीवलोकम्) जीवानां जीवितानां पुरुषार्थिनां लोकं समाजम् ॥

इयम् । नारी । पति-लोकम् । वृणाना । नि । पद्यते । उप । त्वा । मर्त्य । प्र-इतम् ॥ धर्मम् । पुराणम् । अनु-पालयन्ती । तस्यै । प्र-जाम् । द्रविणम् । च । इह । धेहि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मर्त्य) हे मनुष्य ! (इयम्) यह (नारी) नारी (पतिलोकम्) पति के लोक [गृहाश्रम के सुख] को (वृणाना) चाहती हुयी और (पुराणम्) पुराने [सनातन] (धर्मम्) धर्म को (अनुपालयन्ती) निरन्तर पालती हुयी (प्रेतम्) मरे हुये [पति] की (उप) स्तुति करती हुयी (त्वा) तुझको (निपद्यते) प्राप्त होती है, (तस्यै) उस [स्त्री] को (प्रजाम्) सन्तान (च) और (द्रविणम्) बल (इह) यहां पर (धेहि) धारण कर ॥१ ॥

भावार्थ—यदि विधवा स्त्री मृत पति के गुण गाती हुयी सन्तान उत्पन्न करना चाहे, वह मृतस्त्रीक पुरुष के साथ यथाविधि नियोग करके अपने कुल की वृद्धि के लिये सन्तान उत्पन्न करे। इसी प्रकार मृतस्त्रीक पुरुष अपने कुलकी बढ़ती के लिये सन्तान उत्पन्न करने को विधवा स्त्री से विधिवत् नियोग करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका नियोग विषय में व्याख्यात है ॥

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ २ ॥

१—(इयम्) दृश्यमाना विधवा (नारी) ऋतोऽञ् । पा० ४ । ४ । ४९ । नराच्चेति वक्तव्यम् । इति तत्रैव वार्त्तिकं च । नृ, नर—अञ् । शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् । पा० ४ । १ । ७३ । इति ङीन् । नुर्नरस्य वा धर्माचारोऽस्यां सा । स्त्री (पतिलोकम्) पतिगृहम् । गृहाश्रमसुखम् (वृणाना) वाञ्छन्ती (निपद्यते) प्राप्नोति (उप) पूजायाम् । उपगच्छन्ती । स्तुवाना (त्वा) त्वाम् मृतस्त्रीकम् (मर्त्य) हे मनुष्य (प्रेतम्) प्र+इण् गतौ-क्त । मृतं पतिम् (धर्मम्) धारणीयं नियमम् (पुराणम्) पुरा अग्रे नीयते । णीञ्—ड । सनातनम् (अनुपालयन्ती) निरन्तरं रक्षन्ती (तस्यै) विधवायै (प्रजाम्) सन्तानम् (द्रविणम्) बलम्—निघ० २ । ९ (च) (इह) गृहाश्रमे (धेहि) धारय ॥

उत् । ई॒र्ष्व॒ । ना॒रि॒ । अ॒भि । जी॒व॒-लो॒कम् । ग॒त-अ॑सुम् । ए॒तम् । उप॑ । शे॒षे॒ । आ । इ॒हि॒ ॥ ह॒स्त॒-ग्रा॒भस्य॑ । द॒धि॒षोः । तव॑ । इ॒दम् । पत्युः॑ । ज॒नि॒-त्वम् । अ॒भि । सम् । ब॒भू॒थ॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(नारि) हे नारी ! (जीवलोकम् अभि) जीवते पुरुषों के समाज की ओर (उत्) उठकर (ईर्ष्व) चल, (एतम्) इस (गतासुम्) गये प्राण वाले [मरे वा रोगी पति] को (उप) सराहती हुयी (शेषे) तू पड़ी है, (आ इहि) आ (दधिषोः) वीर्यदाता [नियुक्त पति] से (ते) अपने (हस्तग्राभस्य) [विवाह में] हाथ पकड़ने वाले (पत्युः) पति के (जनित्वम्) सन्तान को (इदम्) अब (अभि) सब प्रकार (सम्) यथावत् [शास्त्रानुसार] (बभूथ) तू प्राप्त हो ॥ २ ॥

भावार्थ—विपत्ति काल में अर्थात् सन्तान न होने पर पति के बड़े रोगी होने वा मर जाने पर स्त्री मृतस्त्रीक पुरुष से नियोग कर सन्तान उत्पन्न करके पति के वंश को चलावे । इसी प्रकार जिस पुरुष की स्त्री बड़ी रोगिनी हो वा मर गई हो वह विधवा से नियोग कर सन्तान उत्पन्न करके अपना वंश चलावे ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १८ । ८, वहां पर (दधिषोः) के स्थान पर (दिधिषोः) पद है और ऋग्वेद पाठ ही महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि

२—(उत्) उत्थाय (ईर्ष्व) गच्छ (नारि) म० १ । हे स्त्रि (अभि) अभिलक्ष्य (जीवलोकम्) जीवितानां समाजम् (गतासुम्) विगतप्राणम् । मृतं रोगिणं वा (एतम्) दृश्यमानम् (उप) पूजायाम् । उपगच्छन्ती । स्तुवाना (शेषे) शीङ् स्वप्ने । भूमौ वर्तसे (एहि) आगच्छ (हस्तग्राभस्य) ग्रह उपादाने—कर्मण्यण् , हस्य भः । विवाहे गृहीतहस्तस्य (दधिषोः) दधातेर्द्वित्वमित्वं षुक् च । उ० ३ । ६७ । इति दर्शनात् । कुभ्रश्च । उ० १ । २२ । दधातेः कु, इत्वं षुगागमश्च । दधिषुरेव दिधिषुः । नियुक्तायां स्त्रियां गर्भस्थापकात् पुरुषात् (तव) स्वकीयायाः (इदम्) इदानीम् (पत्युः) स्वामिनः (जनित्वम्) सन्तानम् (अभि) सर्वतः (सम्) सम्यक् । यथाविधि (बभूथ) भू सत्तायां प्राप्तौ च । छन्दसि लुङ्लङ्लिटः । पा० ३ । ४ । ६ । लोडर्थे लिट् । बभूविथ । प्राप्नुहि ॥

भाष्य भूमिका के और सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास के नियोग विषय में में व्याख्यात है ॥

मनुस्मृति अध्याय ६ श्लोक ५८ आदि में नियोग विषय का वर्णन है, यहां दो श्लोक लिखे जाते हैं—

देवराद् वा सपिण्डाद् वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥ १ ॥

विधवायां नियोगार्थे निर्वृते तु यथाविधि ।

गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥ २ ॥

मनुस्मृति अध्याय ६ श्लोक ५९, ६२ ॥

देवर [पति के छोटे वा बड़े भाई] से अथवा सपिण्ड से [पति की छह पीढ़ियों के भीतर वाले से] यथाविधि [पति आदि बड़े लोगों द्वारा] नियुक्त की हुयी स्त्री को सन्तान के सर्वथा नाश होने पर यथेष्ट सन्तान उत्पन्न करनी चाहिये ॥ १ ॥

विधवा [आदि] में नियोग का प्रयोजन यथाविधि पूरा हो जाने पर दोनों [पुरुष और स्त्री] गुरु के समान और पुत्र बधू के समान आपस में बर्ताव करें ॥ २ ॥

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम् । अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम् ३

अपश्यम् । युवतिम् । नीयमानाम् । जीवाम् । मृतेभ्यः । परि-नीयमानाम् ॥ अन्धेन । यत् । तमसा । प्रावृता । आसीत् । प्राक्तः । अपाचीम् । अनयम् । तत् । एनाम् ॥३॥

भाषार्थ—(जीवाम्) जीवती हुयी [पुरुषार्थ युक्त] (युवतिम्) युवा स्त्री (नीयमानाम्) ले जायी गयी और (मृतेभ्यः) मरे हुओं से [मृतक वा महारोगियों से] (परिणीयमानाम्) पृथक् ले जायी गयी (अपश्यम्) मैं ने देखी है । (यत्) क्योंकि वह (अन्धेन तमसा) गहरे अन्धकार से [सन्तान न

३—(अपश्यम्) अहं दृष्टवानस्मि (युवतिम्) यौवनवतीं स्त्रियम् (नीयमानाम्) प्राप्यमाणाम् (जीवाम्) जीवन्तीम् प्राणवतीम् (मृतेभ्यः) गतप्राणपुरुषेभ्यः सकाशात् (परिणीयमानाम्) पृथक् प्राप्यमाणाम् (अन्धेन) गाढेन (यत्) यस्मात् कारणात् (तमसा) अन्धकारेण सन्तानाभावशोकेन

होने के शोक से] (प्रावृता) ढकी हुयी (आसीत्) थी, (तत्) इसी से (एनाम्) उस (अपाचीम्) अलग पड़ी हुयी स्त्री को (प्राकः) सामने (अनयम्) मैं लाया हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—यदि स्त्री का पति मर गया हो वा महारोगी हो और स्त्री सन्तान के न होने से दुःखित हो, तो बुद्धिमान् लोग उस को धैर्य देकर नियोग विधि से सन्तान उत्पन्न करा के प्रसन्न करें ॥ ३ ॥

प्रजानत्यघ्न्ये जीवलोकं देवानां पन्थामनुसंचरन्ती ।
अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम् ॥ ४ ॥

प्र-जानती । अघ्न्ये । जीव-लोकम् । देवानाम् । पन्थाम् । अनु-संचरन्ती ॥ अयम् । ते । गो-पतिः । तम् । जुषस्व । स्वः-गम् । लोकम् । अधि । रोहय । एनम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अघ्न्ये) हे निष्पाप स्त्री ! तू (जीवलोकम्) जीवित मनुष्यों के समाज को (प्रजानती) अच्छे प्रकार जानती हुई और (देवानाम्) विद्वानों के (पन्थाम्) मार्ग पर (अनुसंचरन्ती) निरन्तर चलती हुई है। (अयम्) यह [नियुक्त पति] (ते) तेरी (गोपतिः) वाणी का रक्षक [वंश चलाने की बात निबाहने वाला] है, (तम्) उसको (जुषस्व) सेवन कर (एनम्) इसको (स्वर्गम् लोकम्) स्वर्ग लोक [सुख के समाज] में (अधि) अधिकार पूर्वक (रोहय) प्रकट कर ॥ ४ ॥

(प्रावृता) अतिशयेन वेष्टिता (आसीत्) (प्राकः) आभिमुख्येन (अपाचीम्) अपीच्यमपचितमपगतमपिहितमन्तर्हितं वा—निरु० ४ । २५ । अपगताम् । पृथग् गताम् (अनयम्) आनीतवानस्मि (तत्) तस्मात् कारणात् (एनाम्) युवतिम् ॥

४—(प्रजानती) प्रकर्षेण जानाना (अघ्न्ये) हे अहन्तव्ये । निष्पापे (जीवलोकम्) जीवितानां समाजम् (देवानाम्) विदुषाम् (पन्थाम्) पन्थानम् (अनुसंचरन्ती) निरन्तरं गच्छन्ती (अयम्) नियुक्तः पतिः । दधिषुः (ते) तव (गोपतिः) वाचो रक्षकः (जुषस्व) सेवस्व । प्रीणीहि (स्वर्गम्) सुखप्रापकम् (लोकम्) समाजम् (अधि) अधिकृत्य (रोहय) प्रादुर्भावय । प्रापय (एनम्) पुरुषम् ॥

भावार्थ—कुल की वृद्धि के मर्म को जानने हारी धर्मशीला स्त्री नियुक्त पति से यथेष्ट कुल वर्धक सन्तान अपने लिये और उस पुरुष के लिये उत्पन्न करे और इस प्रकार वे दोनों अपने अपने कुलों को बढ़ाकर अपने वचन की रक्षा करें ॥ ४ ॥

मन्त्राः ५—६ ॥

अग्निर्देवता ॥ ५ निचृद् गायत्री ; ६ अनुष्टुप् ; ७, ६ त्रिष्टुप् ; ८ भुरिगार्षी पङ्क्तिः ॥

उन्नतिकरणोपदेशः—उन्नति करने का उपदेश ॥

उप द्यामुप वेतसमवत्तरो नदीनाम् । अग्ने पित्तमपामसि ॥५॥

उप । द्याम् । उप । वेतसम् । अवत्-तरः । नदीनाम् ॥
अग्ने । पित्तम् । अपाम् । असि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (द्याम्) विद्या प्रकाश को (उप) पाकर और (नदीनाम्) स्तुतियों के (वेतसम्) विस्तार को (उप) आदर से (अवत्तरः) अधिक रक्षा करता हुआ तू (अपाम्)प्राणों के (पित्तम्) तेज (असि) है ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या प्राप्त करके स्तुति योग्य व्यवहारों की रक्षा करता हुआ सब प्राणियों का बल बढ़ावे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो यजुर्वेद १७ । ६ ॥

५—(उप) उपेत्य । प्राप्य (द्याम्) विद्याप्रकाशम् (उप) पूजायाम् (वेतसम्) वेञस्तुट् च । उ० ३ । ११८ । वेञ् तन्तुसन्ताने—असच् तुट् च । विस्तारम् (अवत्तरः) अव रक्षणे—शतृ, तरप् । अतिशयेन अवन् रक्षन् (नदीनाम्) णद अव्यक्ते शब्दे भाषायां स्तुतौ च—अच्, ङीप् । नदतिरर्चतिकर्मा —निघ० ३ । १४ । ऋषिर्नदो भवति नदतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० ५।२।स्तुतीनाम् (अग्ने) हे विद्वन् पुरुष (पित्तम्) अपि+देङ् पालने—क्त । अच उपसर्गात्तः । पा० ७ । ४ । ४७ । इति तादेशः । अपिदीयते रक्ष्यते शरीरं येन तत् । तेजः (अपाम्) प्राणानाम (असि) ॥

यं त्वम॑ग्ने स॒मद॑ह॒स्तमु॒ निर्वा॑पया॒ पुन॑: ।
क्याम्बू॒रत्र॑ रोहतु शाण्डदू॒र्वा व्य॑ल्कशा ॥ ६ ॥

यम् । त्वम् । अ॒ग्ने॒ । स॒म्-अद॑हः । तम् । ऊँ॒ इति॑ । निः । वा॒प॒य॒ । पुन॑: ॥ क्याम्बू॒: । अत्र॑ । रो॒ह॒तु॒ । शा॒ण्ड॒-दू॒र्वा । वि-अ॑ल्कशा ६

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (त्वम्) तू ने (यम्) जिस [ब्रह्मचारी] को (समदहः) यथाविधि तपाया है [ब्रह्मचर्य तप कराया है] (तम् उ) उस को (पुनः) अवश्य (निः) निश्चय करके (वापय) बीज के समान फैला । (अत्र) यहां [संसार में] (क्याम्बूः) ज्ञान उपदेश करने वाली, (शाण्डदूर्वा) दुःख नाश करने वाली और (व्यल्कशा) विविध प्रकार शोभा वाली [शक्ति] (रोहतु) प्रकट होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—माता पिता आचार्य आदि विद्वान् लोग ब्रह्मचर्य आदि तप करा के सन्तानों को ऐसी शिक्षा देवें कि जिस से वे शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति कर सकें ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है १० । १६ । १३ और वही पाठ महर्षि दयानन्दकृत संस्कार विधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

इ॒दं त॒ एकं॑ पु॒र ऊँ॑ त॒ एकं॑ तृ॒तीये॑न॒ ज्योति॑षा॒ सं वि॑शस्व ।
सं॒वेश॑ने त॒न्वा॒३॑ चारु॑रेधि प्रि॒यो दे॒वानां॑ पर॒मे स॒धस्थे॑ ॥७॥

६—(यम्) ब्रह्मचारिणम् (त्वम्) (अग्ने) हे विद्वन् (समदहः) समन्ताद् ब्रह्मचर्यादि तपः कारितवानसि (तम्) ब्रह्मचारिणम् (उ) पादपूर्त्तौ (निः) निश्चयेन (वापय) डु वप बीजसन्ताने—णिच् । बीजवद् विस्तारय (पुनः) अवधारणे (क्याम्बूः) वातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । कि कित वा ज्ञाने-इण्प्रत्ययः, डित् । णित्कशिपद्यर्त्तेः । उ० १ । ८५ । अबि शब्दे-ऊप्रत्ययो णित् । ज्ञानस्य शब्दयित्री ज्ञापयित्री (अत्र) संसारे (रोहतु) प्रादुर्भवतु (शाण्डदूर्वा) शडि संघाते रोगे च—घञ्+दुर्व दूर्व हिंसायाम्—अच्, टाप्, दुःखस्य नाशयित्री (व्यल्कशा) कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः । उ० ३ । ४० । वि+अल भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणेषु—कप्रत्ययः शो मत्वर्थीयः । विविधभूषणोपेता शक्तिः ॥

इदम् । ते । एकम् । परः । ऊं इति । ते । एकम् । तृतीयेन । ज्योतिषा । सम् । विशस्व ॥ सम्-वेशने । तन्वा । चारुः । एधि । प्रियः । देवानाम् । परमे । सध-स्थे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् पुरुष !] (ते) तेरे लिये (इदम्) यह [कार्य रूप जगत्] (एकम्) एक [ज्योति तुल्य] है, (उ) और (परः) परे [आगे बढ़कर] (ते) तेरे लिये (एकम्) एक [कारण रूप जगत् ज्योति समान] है, (तृतीयेन) तीसरी (ज्योतिषा) ज्योति [प्रकाशस्वरूप परब्रह्म] के साथ (सम्)मिलकर (विशस्व) प्रवेश कर । (संवेशने) यथावत् प्रवेशविधि में (तन्वा) [अपनी] उपकार क्रिया से (चारुः) शोभायमान और (परमे) बड़े ऊंचे (सधस्थे) समाज में (देवानाम्) विद्वानों का (प्रियः) प्रिय (एधि) हो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य स्थूल और सूक्ष्म जगत् के तत्त्व को परमात्मा के ज्ञान के साथ जान कर विद्या द्वारा उपकार करता हुआ विद्वानों में उच्च पद प्राप्त करे ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ५६ । १ । और सामवेद में पू० १ । ७ । ३ ॥

उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवौकः कृणुष्व सलिले सधस्थे । तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सं सोमेन मदस्व सं स्वधाभिः ॥ ८ ॥

उत् । तिष्ठ । प्र । इहि । प्र । द्रव । ओकः । कृणुष्व ।

७—(इदम्) दृश्यमानं कार्यरूपं जगत् (ते) तुभ्यम् (एकम्) ज्योतिर्वत् (परः) परस्तात् । अग्रे (उ) चार्थे (ते) तुभ्यम् (एकम्) कारणरूपं सूक्ष्मं जगत्, ज्योतिः समानम् (तृतीयेन) कार्यकारणरूपसंसारात् परेण (ज्योतिषा) प्रकाशस्वरूपेण परब्रह्मणा (सम्)संगत्य (विशस्व) प्रवेशं कुरु (संवेशने) सम्यक् प्रवेशविधाने (तन्वा) तन उपकारे, तनु विस्तारे-ऊ । उपकारक्रियया (चारुः) शोभनः (एधि) अस भुवि—लोट् । भव (प्रियः) प्रीतिकरः (देवानाम्) विदुषाम् (परमे) उत्कृष्टे (सधस्थे) समाजे ॥

सलिले । सध-स्थे ॥ तत्र । त्वम् । पितृ-भिः । सम्-विदानः । सम् । सोमेन । मदस्व । सम् । स्वधाभिः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (उत् तिष्ठ) उठ, (प्र इहि) आगे बढ़ (प्र द्रव) आगे को दौड़ और (सलिले) चलते हुये जगत् में (सधस्थे) समाज के बीच (ओकः) घर (कृणुष्व) बना। (तत्र) वहां (त्वम्) तू (पितृभिः) पितरों [पिता आदि रक्षक महात्माओं] के साथ (संविदानः) मिलता हुआ (सोमेन) ऐश्वर्य से (सम्) मिलकर और (स्वधाभिः) आत्मधारण शक्तियों से (सम्) मिल कर (मदस्व) आनन्द पा ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य सदा पुरुषार्थ करके विद्वानों के सत्संग से प्रतिष्ठित होकर ऐश्वर्य प्राप्त करे और आत्मावलम्बन करता हुआ सुखी रहे ॥ ८ ॥

प्र च्यवस्व तन्वं१ सं भरस्व मा ते गात्रा वि हायि मो शरीरम् । मनो निविष्टमनुसंविशस्व यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ ॥ ९ ॥

प्र । च्यवस्व । तन्वम् । सम् । भरस्व । मा । ते । गात्रा । वि । हायि । मो इति । शरीरम् ॥ मनः । नि-विष्टम् । अनु-संविशस्व । यत्र । भूमेः । जुषसे । तत्र । गच्छ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (तन्वम्) [अपने] शरीर को (प्र) आगे (च्यवस्व) चला और (सम्) मिलकर (भरस्व) पोषण कर, [जिस से] (मा) न तौ (ते) तेरे (गात्रा) अङ्ग (मो) और न (शरीरम्) [तेरा]

८—(उत्तिष्ठ) ऊर्ध्वं तिष्ठ (प्रेहि) अग्रे गच्छ (प्र द्रव) अग्रे धाव (ओकः) गृहम् (कृणुष्व) कुरु (सलिले) षल गतौ—इलच् । संगते जगति यथा सायणः—ऋग्० १० । १२९ । ३ (सधस्थे) समाजे (तत्र) समाजे (त्वम्) (पितृभिः) रक्षकैर्महात्मभिः (संविदानः) संगच्छमानः (सम्) संगत्य (सोमेन) ऐश्वर्येण (मदस्व) तृप्तो भव (सम्) संगत्य (स्वधाभिः) स्वधारणशक्तिभिः । आत्मावलम्बनैः ॥

९—(प्र) प्रकर्षेण । अग्रे (च्यवस्व) च्यावय । गमय (तन्वम्) शरीरम् (सम्) संगत्य (भरस्व) पोषय (मा) निषेधे (ते) तव (गात्रा)

शरीर (वि) विचल होकर (हायि) छूटे । (निविष्टम्) जमे हुये (मनः) मन के (अनुसंविशस्व) पीछे पीछे प्रवेश कर, और (यत्र) जहां (भूमेः) भूमि की (जुषसे) तू प्रीति करता है, (तत्र) वहां (गच्छ) जा ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शरीर से सदा उद्योग करके सब के पोषण में अपनी शरीर रक्षा करे और दृढ़ संकल्पी होकर आगे बढ़ता हुआ दुष्टों से शिष्टों की रक्षा करे ॥ ९ ॥

मन्त्राः १०—२४ ॥

पितरो देवताः ॥ १०, १२—१४, १६,१७,२०—२२,२४ त्रिष्टुप् ; ११ भुरिगार्षी पङ्क्तिः ; १५ आर्ची त्रिष्टुप् ; १८ पादनिचृज् जगती ; १९ भुरिक् त्रिष्टुप् ; २३ आर्षी पङ्क्तिः ॥

पितृकर्तव्योपदेशः—पितरों के कर्तव्य का उपदेश ॥

वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन ।
चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु ।१०।(१३)

वर्चसा । माम् । पितरः । सोम्यासः । अञ्जन्तु । देवाः । मधुना । घृतेन ॥ चक्षुषे । मा । प्र-तरम् । तारयन्तः । जरसे । मा । जरत्-अष्टिम् । वर्धन्तु ॥ १० ॥ (१३)

भाषार्थ—(सोम्यासः) ऐश्वर्य वाले, (देवाः) विद्वान्, (पितरः) पितर [रक्षक महात्मा] (माम्) मुझ को (वर्चसा) तेज से, (मधुना) विज्ञान और (घृतेन) प्रकाश से (अञ्जन्तु) प्रसिद्ध करें । (चक्षुषे) सूक्ष्म दृष्टि के लिये (मा) मुझे (प्रतरम्) आगे को (तारयन्तः) पार करते हुये [वे लोग]

त्यक्तं भवेत् (मा) नैव (शरीरम्) (मनः) चित्तम् (निविष्टम्) अवस्थितम् (अनुसंविशस्व) अनुसृत्य प्रविष्टो भव (यत्र) स्थाने (भूमेः) पृथिव्याः (जुषसे) प्रीतिं करोषि (तत्र) स्थाने (गच्छ) ॥

१०—(वर्चसा) तेजसा (माम्) (पितरः) रक्षका महात्मानः (सोम्यासः) ऐश्वर्यवन्तः (अञ्जन्तु) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु । व्यक्तीकुर्वन्तु । विख्यातं कुर्वन्तु (देवाः) विद्वांसः (मधुना) विज्ञानेन (घृतेन) प्रकाशेन (चक्षुषे) सूक्ष्मदर्शनाय (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् । अधिकतरम् (तारयन्तः) पारयन्तः (जरसे)

(जरदष्टिम्) स्तुति के साथ प्रवृत्ति वाले (मा) मुझ को (जरसे) स्तुति के लिये (वर्धन्तु) बढ़ावें ॥ १० ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग ऐसी शिक्षा प्रणाली चलावें कि जिस से सब लोग बलवान्, विज्ञानवान्, तेजस्वी और सूक्ष्मदर्शी होकर संसार में कीर्ति पावें ॥ १० ॥

वर्चसा मां समनक्त्वग्निर्मेधां मे विष्णुर्न्यनक्त्वासन् । रयिं मे विश्वे नि यच्छन्तु देवाः स्योना मापः पवनैः पुनन्तु ॥११॥

वर्चसा । माम् । सम् । अनक्तु । अग्निः । मेधाम् । मे । विष्णुः । नि । अनक्तु । आसन् ॥ रयिम् । मे । विश्वे । नि । यच्छन्तु । देवाः । स्योनाः । मा । आपः । पवनैः । पुनन्तु ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) ज्ञानमय परमेश्वर (वर्चसा) तेज के साथ (मा) मुझे (सम्) यथावत् (अनक्तु) विख्यात करे, (विष्णुः) विष्णु [सर्वव्यापक जगदीश्वर] (मे) मेरे (आसन्) मुख में (मेधाम्) बुद्धि को (नि) नियम से (अनक्तु) प्रसिद्ध करे । (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण (रयिम्) धन (मे) मुझ को (नि) निरन्तर (यच्छन्तु) देवें, (स्योनाः) सुख देने वाले (आपः) आप्त विद्वान् (मा) मुझे (पवनैः) शुद्ध व्यवहारों से (पुनन्तु) शुद्ध करें ॥ ११ ॥

जॄ स्तुतौ-असुन् । जरतिरर्चतिकर्मा-निघ० ३ । १४ । स्तुतये (मा) माम् (जरदष्टिम्) अ० २ । २८ । ५ । जॄ स्तुतौ—अतृन्+अशू व्याप्तौ—क्तिन् । जरता स्तुत्या सह अष्टिः कार्यव्याप्तिर्यस्य तम् (वर्धन्तु) वर्धयन्तु उन्नयन्तु ॥

११—(वर्चसा) तेजसा (माम्) (सम्) सम्यक् (अनक्तु)विख्यातं करोतु (अग्निः) ज्ञानमयः परमेश्वरः (मेधाम्) प्रज्ञाम् (विष्णुः) सर्वव्यापकः परमात्मा (नि) नियमेन (अनक्तु) प्रसिद्धं करोतु (आसन्)आसनि । आस्ये । मुखे (मे) मह्यम् (विश्वे) सर्वे (नि) निरन्तरम् (यच्छन्तु) दाण् दाने । ददतु (देवाः) उत्तमगुणाः (स्योनाः) सुखप्रदाः (मा) माम् (आपः) सर्वविद्याव्यापिनो विपश्चितः-दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । १७ । आप्ता विद्वांसः (पवनैः) शुद्धव्यवहारैः (पुनन्तु) शोधयन्तु ॥

भावार्थ— मनुष्य परमात्मा की आराधना से तेजस्वी होकर विद्या का प्रकाश करें और धर्म से धन प्राप्त करके आप्त विद्वानों द्वारा अपना आचरण शुद्ध रक्खें ॥ ११ ॥

मित्रावरुणा परि मामधातामादित्या मा स्वरवो वर्धयन्तु।
वर्चो म इन्द्रो न्यनक्तु हस्तयोर्जरदष्टिं मा सविता कृणोतु॥१२

मित्रावरुणा। परि। माम्। अधाताम्। आदित्याः। मा।
स्वरवः। वर्धयन्तु॥ वर्चः। मे। इन्द्रः। नि। अनक्तु।
हस्तयोः। जरत्-अष्टिम्। मा। सविता। कृणोतु॥ १२॥

भाषार्थ—(मित्रावरुणा) स्नेही और श्रेष्ठ दोनों [माता पिता] ने (माम्) मुझे (परि) सब ओर से (अधाताम्) पुष्ट किया है, (आदित्याः) पृथिवी के (स्वरवः) जयस्तम्भ (मा) मुझे (वर्धयन्तु) बढ़ावें। (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (मे) मेरे (हस्तयोः) दोनों हाथों के (वर्चः) बल को (नि) नियम से (अनक्तु) प्रसिद्ध करे, (सविता) सर्वप्रेरक परमात्मा (मा) मुझे (जरदष्टिम्) स्तुति के साथ प्रवृत्ति वाला(कृणोतु) करे ॥ १२ ॥

भावार्थ—जिन लोगों के माता पिता आदि बड़े लोग श्रेष्ठ और सच्चे प्रेमी होते हैं, वे ही विजयी हो कर संसार में कीर्ति पाते हैं और परमात्मा के अनुग्रह से अपने भुजबल द्वारा श्रेष्ठ कामों में प्रवृत्ति करते हैं ॥ १२ ॥

१२—(मित्रावरुणा) स्नेहिश्रेष्ठपुरुषौ मातापितरौ (परि) सर्वतः (माम्) विद्यार्थिनम् (अधाताम्) धृतवन्तौ। पोषितवन्तौ (आदित्याः) अदिति-एय । अदितिः पृथिवीनाम—निघ० १ । १ । अदितेः पृथिव्या एते (मा) माम् (स्वरवः) शॄस्निहि० । उ० १ । १० । स्वृ शब्दोपतापयोः—उप्रत्ययः । जयस्तम्भाः (वर्धयन्तु) उन्नयन्तु (वर्चः) शुक्रम् । बलम् (मे) मम (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः (नि) नियमेन (अनक्तु) प्रसिद्धं करोतु (हस्तयोः) करयोः (जरदष्टिम्) म० ११ । स्तुत्या सह प्रवृत्तिमन्तम् (मा) माम् (सविता) सर्वप्रेरकः परमात्मा (कृणोतु) करोतु ॥

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥१३॥

यः । ममार । प्रथमः । मर्त्यानाम् । यः । प्र-इयाय । प्रथमः । लोकम् । एतम् ॥ वैवस्वतम् । सम्-गमनम् । जनानाम् । यमम् । राजानम् । हविषा । सपर्यत ॥ १३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (यः) जो [मनुष्य] (मर्त्यानाम्) मनुष्यों के बीच (प्रथमः) मुख्य होकर (ममार) मर गया, और (यः) जो (प्रथमः) मुख्य होकर (एतम् लोकम्) इस लोक में (प्रेयाय) आगे बढ़ा। (वैवस्वतम्) उस मनुष्यों के हितकारी, (जनानाम्) मनुष्यों के (संगमनम्) मेल कराने वाले (यमम्) न्यायकारी (राजानम्) राजा को (हविषा) भक्ति के साथ (सपर्यत) तुम पूजो ॥ १३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सब के हित के लिये आत्मसमर्पण करके उन्नति करता जावे, सब मनुष्य उस के साथ सदा प्रीति करें ॥ १३ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आ चुका है—अ० १८ ॥ १ ॥ ४६ ॥

परा यात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः ।
दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात ।१४।

परा । यात । पितरः । आ । च । यात । अयम् । वः । यज्ञः । मधुना । सम्-अक्तः ॥ दत्तो इति । अस्मभ्यम् । द्रविणा ।

१३—(यः) मनुष्यः (ममार) मरणं प्राप्तवान्। आत्मानं समर्पितवान् (प्रथमः) मुख्यः सन् (मर्त्यानाम्) मनुष्याणां मध्ये (यः) (प्रेयाय) अग्रे गतवान्। प्राप्तवान् (प्रथमः) मुख्यः (लोकम्) संसारम् (एतम्) (वैवस्वतम्) विवस्वन्तो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इत्यण्। विवस्वद्भ्यो मनुष्येभ्यो हितम् (संगमनम्) संगमयितारम् (जनानाम्) मनुष्याणाम् (यमम्) न्यायकारिणं मनुष्यम् (राजानम्) शासकम् (हविषा) भक्तिदानेन (सपर्यत) पूजयत ॥

इह । भद्रम् । रयिम् । च । नः । सर्व-वीरम् । दधात ॥१४॥

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो ! [पिता आदि रक्षक महात्माओ] (परा) धानता से (यात) चलो, (च) और (आ यात) आओ, (वः) तुम्हारा (अयम्) ह (यज्ञः) पूजनीय व्यवहार (मधुना) विज्ञान के साथ (समक्तः) सर्वथा ख्यात है । (अस्मभ्यम्) हमको (इह) यहां पर (द्रविणा) अनेक धन और भद्रम्) कल्याण (दत्तो) अवश्य देओ, (च) और (नः) हमें (सर्ववीरम्) ब वीरों को रखने वाला (रयिम्) धन (दधात) धारण करो ॥ १४ ॥

भावार्थ—विद्वान् माता पिता आदि महापुरुष सन्तान आदि गृहस्थों मिलकर उन को उपदेश करें कि जिस से वे लोग अनेक धनों को प्राप्त होकर र पुरुषों का आदर करते रहें ॥ १४ ॥

ण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्च्-
नानाः । विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः॥१५॥

ण्वः । कक्षीवान् । पुरु-मीढः । अगस्त्यः । श्याव-अश्वः ।
भरी । अर्चनानाः ॥ विश्वामित्रः । अयम् । जमत्-अग्निः ।
त्रिः । अवन्तु । नः । कश्यपः । वाम-देवः ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (कण्वः) बुद्धिमान् , (कक्षीवान्) शासन रने वाला, (पुरुमीढः) बड़ा धनी, (अगस्त्यः) पाप नाशक, (श्यावाश्वः) न में व्याप्ति वाला (सोभरी) ऐश्वर्य धारण करने वाला, (अर्चनानाः)

१४—(परा) प्राधान्येन (यात) गच्छत (पितरः) हे पित्रादिमहात्मानः च) (आयात) आगच्छत (अयम्) उपस्थितः (वः) युष्माकम् (यज्ञः) जनीयव्यवहारः (मधुना) विज्ञानेन (समक्तः) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्ति— तिषु—क्त । सम्यग् व्यक्तीकृतः (दत्तो) दत्त—उ । प्रयच्छतैव (अस्मभ्यम्) द्रविणा) धनानि (इह) (भद्रम्) कल्याणम् (रयिम्) धनम् (च) (नः) स्मभ्यम् (सर्ववीरम्) सर्ववीरैरुपेतम् (दधात) धारयत ॥

१५—(कण्वः) अ० ६ । ५२ । ३ । मेधावी (कक्षीवान्) अ० ४ । २६ । ५। ासनशीलः (पुरुमीढः) अ० ४ । २६ । ४ । बहुधनः (अगस्त्यः) अ० ४ । ७ । १ । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । अग + स्त्यै ष्ट्यै शब्दसंघातयोः—

पूजनीय जीवन वाला, (विश्वामित्रः) सब का मित्र, (जमदग्निः) [शिल्प और यज्ञ आदि में] अग्नि प्रकाश करने वाला, (अत्रिः) सदा प्राप्ति योग्य, (कश्यपः) सूक्ष्मदर्शी, (वामदेवः) उत्तम व्यवहार वाला, [ये सब गुणी पुरुष] (नः) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें ॥ १५ ॥

भावार्थ—कर्मवीर बुद्धिमान् पुरुष संसार की रक्षा करने में सदा तत्पर रहें ॥ १५ ॥

विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव । शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः ॥ १६ ॥

विश्वामित्र । जमत्-अग्ने । वसिष्ठ । भरत्-वाज । गोतम । वाम-देव ॥ शर्दिः । नः । अत्रिः । अग्रभीत् । नमः-भिः । सु-संशासः । पितरः । मृडत । नः ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(विश्वामित्र) हे सब के मित्र ! (जमदग्ने) हे अग्नि के प्रकाश करने वाले ! [शिल्प और यज्ञ में] (वसिष्ठ) हे अत्यन्त श्रेष्ठ ! (भरद्वाज) हे विज्ञान बल के धारण करने वाले ! (गोतम) हे अतिशय स्तुति करने वाले वा विद्या की कामना करने वाले ! (वामदेव) हे श्रेष्ठ व्यवहार वाले !

कप्रत्ययः । अगस्य पापस्य संहन्ता नाशकः (श्यावाश्वः) अ० ४ । २९ । ४ । श्यैङ् गतौ—व + अशू व्याप्तौ—क्वन् । श्यावे ज्ञाने अश्वो व्याप्तिर्यस्य सः (सोभरी) षु प्रसवैश्वर्ययोः—विच् + भर—इनि । सोः ऐश्वर्यस्य भरो भरणं धारणं यस्य सः (अर्चनानाः) अर्चन + अन प्राणने—असुन् । अर्चनमर्चनीयम् अनो जीवनं यस्य सः (विश्वामित्रः) सर्वेषां मित्रम् (अयम्) (जमदग्निः) अ० ४ । २९ । ३ । जमन्तः प्रज्वलन्तोऽग्नयो यज्ञे शिल्पसिद्धौ वा यस्य सः (अत्रिः) अ० १३ । २ । ४ । अत सातत्यगमने—त्रिप् । सदा प्रापणीयो विज्ञानवान् (अवन्तु) रक्षन्तु (नः) अस्मान् (कश्यपः) अ० २ । ३३ । ७ । पश्यकः सूक्ष्मदर्शी (वामदेवः) वामः प्रशस्यो देवो व्यवहारकुशलः ॥

१६—(विश्वामित्र) हे सर्वमित्र (जमदग्ने) हे अग्निप्रकाशक (वसिष्ठ) वसु—इष्ठन् । हे अतिशयेन श्रेष्ठ (भरद्वाज) हे विज्ञानधारक (गोतम) अ० ४ । २९ । ६ । गो—तमप् । गौः स्तोतृनाम—निघ० ३ । १६ । अतिशयेन स्तोता । यद्वा

[यह तुम सब] (सुसंशासः) उत्तम रीति से सर्वथा शासन करने वाले (पितरः) पितरो ! [रक्षक महात्माओ] (नः) हमें (मृडत) सुखी करो, (शर्द्धिः) विजयी (अत्रिः) प्राप्ति योग्य ज्ञानी पुरुष ने (नमोभिः) अन्नों के साथ (नः) हमें (अग्रभीत्) ग्रहण किया है ॥ १६ ॥

भावार्थ—शूर वीर ज्ञानी महात्मा लोग ही अन्न आदि से वृद्धि करके सब जीवों को सुख पहुंचावें ॥ १६ ॥

कस्ये मृजाना अति यन्ति रिप्रमायुर्दधानाः प्रतरं नवीयः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध स्याम सुरभयो गृहेषु ॥ १७ ॥

कस्ये । मृजानाः । अति । यन्ति । रिप्रम् । आयुः । दधानाः । प्र-तरम् । नवीयः ॥ आ-प्यायमानाः । प्र-जया । धनेन । अध । स्याम । सुरभयः । गृहेषु ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(कस्ये) [अपने] शासन में (मृजानाः) शुद्ध करते हुये, (प्रतरम्) अधिक श्रेष्ठ और (नवीयः) अधिक नवीन (आयुः) जीवन (दधानाः) धारण करते हुये लोग (रिप्रम्) पाप को (अति) उलांघ कर (यन्ति) चलते हैं (अध) फिर (प्रजया) प्रजा [सन्तान आदि] से और

गौर्वाङ् नाम—निघ० १ । ११ । गो+तमु काङ्क्षायाम्—पचाद्यच् । हे विद्याभिलाषिन् (वामदेव) हे प्रशस्यव्यवहारकुशल (शर्द्धिः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । शृधु शब्दकुत्सायाम्, उन्दने प्रसहने च—इन् धस्य दः । शर्धोबलम्—निघ० २ । ६ । प्रसोढा । अभिभविता । विजेता (अत्रिः) म० १५ । प्राप्तियोग्यो विद्वान् (अग्रभीत्) अग्रहीत् । गृहीतवान् (नमोभिः) अन्नैः (सुसंशासः) सु+सम्+शासु अनुशिष्टौ—विट् । सुष्ठु सम्यक् शासकाः (पितरः) (मृडत) सुखयत (नः) अस्मान् ॥

१७—(कस्ये) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । कस गतिशासनयोः—यक् । ज्ञाने । शासने (मृजानाः) शोधकाः (अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य (यन्ति) गच्छन्ति (रिप्रम्) लीरीङोर्ह्रस्वः पुट् च तरौ श्लेषणकुत्सनयोः । उ० । ५ । ५५ । रीङ् स्रवणे—रप्रत्ययः कुत्सने धातोर्ह्रस्वत्वं पुट् च प्रत्ययस्य । रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः—निरु० ४ । २१ । पापं कष्टम् (आयुः)

(धनेन) धन से (आप्यायमानाः) बढ़ते हुये (गृहेषु) घरों में हम (सुरभयः) ऐश्वर्यवान् (स्याम) होवें ॥ १७ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि शासक शुद्धाचारी निष्पाप महात्माओं के जीवन को विचार कर अपने को और अपनी प्रजा अर्थात् सन्तान और राज्य जनों को धनी और ऐश्वर्यवान् बनावें ॥ १७ ॥

अ॒ञ्जते॒ व्य॑ञ्जते॒ सम॑ञ्जते॒ क्रतुं॑ रिहन्ति॒ मधु॑ना॒भ्य॑ञ्जते ।
सिन्धो॑रुच्छ्वा॒से प॒तय॑न्तमु॒क्षणं॑ हिरण्यपा॒वाः प॒शुमा॑सु गृह्णते॥१८॥

अ॒ञ्जते॑ । वि । अ॒ञ्जते॒ । सम् । अ॒ञ्जते॒ । क्रतु॑म् । रि॒ह॒न्ति॒ । मधु॑ना । अ॒भि । अ॒ञ्जते॒ ॥ सिन्धोः॑ । उ॒त्ऽश्वा॒से । प॒तय॑न्तम् । उ॒क्षण॑म् । हि॒र॒ण्य॒ऽपा॒वाः । प॒शुम् । आ॒सु॒ । गृ॒ह्ण॒ते॒ ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(हिरण्यपावाः) तेज [वा सुवर्ण आदि धन] के रक्षक लोग (क्रतुम्) कर्म [वा बुद्धि] को (मधुना) विज्ञान के साथ (अञ्जते) शुद्ध करते हैं, (वि अञ्जते) विख्यात करते हैं, (सम्) मिलकर (अञ्जते) प्राप्त करते हैं, (अभि अञ्जते) सब ओर फैलाते हैं और (रिहन्ति) सराहते हैं। (सिन्धोः) समुद्र के (उच्छ्वासे) बढ़ाव में (पतयन्तम्) जाते हुये

जीवनम् (दधानाः) धारयन्तः (प्रतरम्) अधिकश्रेष्ठम् (नवीयः) नव-ईयसुन्। नवीनतरम् (आप्यायमानाः) प्रवर्धमानाः (प्रजया) सन्तानराज्य-जनरूपया (धनेन) (अध) अथ (स्याम) (सुरभयः) अ० १२। १। २३। षुर ऐश्वर्यदीप्त्योः—अभिच्। ऐश्वर्यवन्तः (गृहेषु) निवासेषु ॥

१८—(अञ्जते) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु । शोधयन्ति (व्यञ्जते) विख्यातं कुर्वन्ति (सम्) संगत्य (अञ्जते) गच्छन्ति। प्राप्नुवन्ति (क्रतुम्) कर्म—निघ० २ । १। प्रज्ञाम्—निघ० ३ । ६ (रिहन्ति) अर्चन्ति—निघ० ३। १४। स्तुवन्ति (मधुना) विज्ञानेन (अभि) सर्वतः (अञ्जते) विस्तारयन्ति। प्रकटयन्ति (उच्छ्वासे) उद्गमे (पतयन्तम्) पत गतौ चुरादिरदन्तः—शतृ । गच्छन्तम् (उक्षणम्) उक्ष वृद्धौ—कनिन्। उक्षा उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः—निरु० १२। ६। वृद्धिकर्तारम् (हिरण्यपावाः) कॄगॄशॄदॄभ्यो वः। उ० १। १५५। हिरण्य+पा रक्षणे-वप्रत्ययः। हिरण्यस्य तेजसः सुवर्णादिधनस्य वा रक्षकाः (पशुम्)

(उक्षणम्) वृद्धि करने वाले (पशुम्) दृष्टि वाले प्राणी को (आसु) इन [प्रजाओं] के बीच (गृह्णते) गहते हैं [सहारा देते हैं] ॥ १८ ॥

भावार्थ—प्रतापी, धनी, विज्ञानी, महात्मा पुरुष शुभ कर्मों और ज्ञानों को संसार में फैलावें और समुद्र वा आकाश आदि कठिन स्थानों में जाने वाले उद्योगी दृष्टिमान् पुरुषों को सब लोगों के बीच सहाय करें ॥ १८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—४ । ८६ । ४३ । और सामवेद में है- पू० ६ । ७ । ११ तथा उ० ७ । ३ । २१ ॥

यद् वो मुद्रं पितरः सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयशसो हि भूत ।
ते अर्वाणः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः ॥१९॥

यत् । वः । मुद्रम् । पितरः । सोम्यम् । च । तेनो इति । सचध्वम् । स्व-यशसः । हि । भूत ॥ ते । अर्वाणः । कवयः । आ । शृणोत । सु-विदत्राः । विदथे । हूयमानाः ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो ! [रक्षक महात्माओ] (यत्) जो कुछ [कर्म] (वः) तुम्हारा (मुद्रम्) हर्षदायक (च) और (सोम्यम्) सोम्य [प्रियदर्शन उत्तम गुणयुक्त] है, (तेनो) उस से ही [हमें] (सचध्वम्) तुम सींचो [बढ़ाओ] और (हि) अवश्य (स्वयशसः) अपने आप यश वाले (भूत) होओ । (अर्वाणः) शीघ्रगामी, (कवयः) बुद्धिमान्, (सुविदत्राः) बड़े धनी और (विदथे) ज्ञान समाज में (हूयमानाः) पुकारे गये (ते) वे तुम (आ) आकर (शृणोत) सुनो ॥ १९ ॥

अर्जिदृशिकम्यमि० । उ० । १ । २७ । दृशिर् प्रेक्षणे—कु । पशुः पश्यतेः—निरु० ३ । १६ । द्रष्टारं जीवम् (आसु) दृश्यमानासु प्रजासु (गृह्णते) गृह्णन्ति ॥

१९— (यत्) यत् किञ्चित् कर्म (वः) युष्माकम् (मुद्रम्) स्फायितञ्चि- वञ्चि० । उ० २ । १३ । मुद हर्षे—रक् । हर्षकरम् (पितरः) हे रक्षकाः पित्रादयः (सोम्यम्) प्रियदर्शनम् । उत्तमगुणविशिष्टम् (च) (तेनो) तेन-उ । तेनैव कर्मणा (सचध्वम्) षच समवाये सेचने च । संगच्छध्वम् । सिञ्चत (स्वयशसः) आत्मयशस्विनः (हि) अवश्यम् (भूत) भवत (ते) ते यूयम् (अर्वाणः) ऋ गतौ—वनिप् । विज्ञानिनः । शीघ्रगामिनः (कवयः) मेधाविनः (आ) आगत्य (शृणोत) शृणुत (सुविदत्राः) बहुधनाः (विदथे) ज्ञानसमाजे (हूयमानाः)

भावार्थ—विद्वान् महात्मा लोग अपने शान्तिदायक कर्मों से संसार की रक्षा करके यशस्वी होवें ॥ १९ ॥

ये अत्र॑यो अङ्गि॑रसो नव॑ग्वा इ॒ष्टाव॑न्तो राति॒षाचो॒ दधा॑नाः । दक्षि॑णावन्तः सु॒कृतो॒ य उ॒ स्थास॒द्या॒स्मिन् ब॒र्हिषि॑ माद॑यध्वम् ॥ २० ॥ (१४)

ये । अत्र॑यः । अङ्गि॑रसः । नव॑-ग्वाः । इ॒ष्ट-व॑न्तः । राति॒-साचः॑ । दधा॑नाः ॥ दक्षि॑णा-वन्तः । सु-कृतः॑ । ये । ऊं॒ इति॑ । स्थ । आ-सद्य॑ । अ॒स्मिन् । ब॒र्हिषि॑ । मा॒द॒य॒ध्व॒म् ॥ ॥२०॥(१४)

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अत्रयः) सदा प्राप्ति योग्य, (अङ्गिरसः) ज्ञानवान्, (नवग्वाः) स्तुति योग्य चलने वाले, (इष्टवन्तः) यज्ञ, तप, वेदाध्ययन आदि वाले, (रातिषाचः) दानों की वर्षा करने वाले और (दधानाः) पोषण करने वाले [हो] । (उ) और (ये) जो तुम (दक्षिणावन्तः) दक्षिणा [प्रतिष्ठा के दान] वाले (सुकृतः) सुकर्मी जन (स्थ) हो, वे तुम (अस्मिन्)) इस (बर्हिषि) उत्तम आसन पर (आसद्य) बैठकर (मादयध्वम्) आनन्द करो । २० ।

भावार्थ—जो विद्वान् महर्षि विद्याप्रचारक धर्मात्मा और बहु प्रतिष्ठित होवें, गृहस्थ आदि लोग सत्कार करके उनको प्रसन्न करें ॥२०॥

अधा॒ यथा॑ नः पि॒तरः॒ परा॑सः प्र॒त्नासो॑ अग्न ऋ॒तमा॑शशा॒नाः । शुचीद॑य॒न् दीध्य॑त उक्थ॒शासः॒ क्षामा॑ भि॒न्दन्तो॑ अरु॒णीरप॑ व्रन् २१

२०—(ये) यूयम् (अत्रयः) सदा प्राप्तव्याः (अङ्गिरसः) अगि गतौ—असि, इरुडागमः । ज्ञानिनः (नवग्वाः) अ० १४ । १ । ५६ । णु स्तुतौ—अप्+गम्लृ गतौ-ड्वप्रत्ययः । स्तोतव्यचरित्राः (इष्टवन्तः) अ ० २ । १२ । ३ । यज्ञतपोवेदाध्ययनादिमन्तः (रातिषाचः) भजो ण्विः । पा० ३ । २ । ६२ । इति बाहुलकात् षच सेचने- ण्वि । धनानां वर्षयितारः (दधानाः) पोषणं कुर्वाणाः (दक्षिणावन्तः) प्रतिष्ठादानोपेताः (सुकृतः) सुकर्माणः (ये)(उ)चार्थे (स्थ) भवथ (आसद्य) उपविश्य (अस्मिन्) (बर्हिषि) उत्तमासने (मादयध्वम्) हृष्टा भवत ॥

अधं । यथा । नः । पितरः । परासः । प्रत्नासः । अग्ने । ऋतम् । आ-शुशानाः ॥ शुचि । इत् । अयन् । दीध्यतः । उक्थ-शसः। क्षाम । भिन्दन्तः । अरुणीः। अप । व्रन् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (अध) फिर (यथा) जैसे (नः) हमारे (परासः) उत्तम (प्रत्नासः) प्राचीन (पितरः) पितर [रक्षक महात्मा] (ऋतम्) सत्य धर्म को (आशशानाः) अच्छे प्रकार सूक्ष्म करने वाले [हुये हैं] [वैसे ही] (दीध्यतः) प्रकाशमान, (उक्थशासः) प्रशंसनीय कर्मों की स्तुति करने वालों ने (शुचि) पवित्र कर्म को (इत्) ही (अयन्) प्राप्त किया है, और (क्षाम) हानि को (भिन्दन्तः) तोड़ते हुये उन्होंने (अरुणीः) प्राप्ति योग्य क्रियाओं को वैसेही (अपव्रन्) खोला है ॥ २१ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पहिले विद्वान् लोग पिता आदि महात्माओं का अनुकरण करके विघ्नों को हटा कर उपकारी कामों का प्रचार करते आये हैं, वैसे ही सब विद्वानो को करना चाहिये ॥ २१ ॥

मन्त्र २१-२३ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं-४ । २ । १६-१८ और यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में भी है- १६ । ६६ ॥

२१—(अध) अथ । अनन्तरम् (यथा) येन प्रकारेण (नः) अस्माकम् (पितरः) (परासः) पराः । उत्कृष्टाः (प्रत्नासः) प्रत्नाः । प्राचीनाः (अग्ने) हे विद्वन् (ऋतम्) सत्यधर्मम् (आशशानाः) आङ्+शो तनूकरणे यद्वा शश प्लुतगतौ—कानच् । सूक्ष्मीकुर्वाणाः (शुचि) पवित्रं कर्म (इत्) एव (अयन्) इण् गतौ—लङ् । प्राप्तवन्तः (उक्थशासः) मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन् । पा० ३ । २ । ७१ । उक्थ+शंसु स्तुतौ-ण्विन् , नकारलोपः, पदकाले ह्रस्वश्छान्दसः । उक्थ्यानां प्रशंसनीयकर्मणां शंसितारः स्तोतारः (क्षाम) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । क्षै क्षये—मनिन् । क्षयम् । हानिम् (भिन्दन्तः) छिन्दन्तः । विदारयन्तः (अरुणीः) अर्तेश्च । उ० ३ । ६० । ऋ गतौ—उनन् चित् , ङीप् । प्राप्तव्याः क्रियाः (अप व्रन्) वृणोतेर्लुङ् । मन्त्रे घसह्वरणशवृ० । पा० २ । ४ । ८० । इति च्लेर्लुक् । अपावृण्वन् । प्रकाशितवन्तः ॥

सुकर्माणः सुरुचौ देवयन्तो अयो न देवा जनिमा धमन्तः ।
शुचन्तो अग्निं वावृधन्त इन्द्रमुर्वीं गव्यां परिषदं नो अक्रन्॥२२

सु-कर्माणः । सु-रुचः । देव-यन्तः । अयः । न । देवाः ।
जनिम । धमन्तः ॥ शुचन्तः । अग्निम् । ववृधन्तः । इन्द्रम् ।
उर्वीम् । गव्याम् । परि-सदम् । नः । अक्रन् ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(सुकर्माणः) पुण्यकर्म करने वाले, (सुरुचः) बड़ी प्रीति वाले, (देवयन्तः) उत्तम गुणों को चाहने वाले, (अयः न) सुवर्ण के समान (जनिम) जन्म [जीवन] को (धमन्तः) [धमन रूप तप से] शुद्ध करते हुये, (अग्निम्) अग्नि [शारीरिक और आत्मिक बल] को (शुचन्तः) प्रकाशित करते हुये और (इन्द्रम्) ऐश्वर्य को (ववृधन्तः) बढ़ाते हुये (देवाः) विद्वानों ने (नः) हमारे लिये (उर्वीम्) विस्तृत, (गव्याम्) वाणीमय (परिषदम्) परिषद [सभा] (अक्रन्) बनाई है ॥ २२ ॥

भावार्थ—पवित्र वेदों के विचार से पुण्यात्मा पुरुषों ने ब्रह्मचर्य आदि तप द्वारा संसार में हमारी उन्नति के अनेक मार्ग दिखाये हैं, उसी प्रकार हम लोग भी स्वाध्याय आदि से अपना जन्म उच्च बनावें ॥ २२ ॥

आ यथेव क्षुमति पश्वो अख्यद् देवानां जनिमान्त्युग्रः ।
मर्तानांश्चिदुर्वशीरकृप्रन् वृधे चिदर्य उपरस्यायोः ॥ २३ ॥

आ । यथा-इव । क्षु-मति । पश्वः । अख्यत् । देवानाम् ।

२२—(सुकर्माणः) पुण्यकर्मकर्तारः (सुरुचः) बहुप्रीतयः (देवयन्तः) देवान् शुभगुणान् कामयमानाः (अयः) अयो हिरण्यनाम—निघ० १ । २ । सुवर्णम् (न) यथा (देवाः) विद्वांसः (जनिम) जन्म । जीवनम् (धमन्तः) ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः—शतृ । धमनेन शोधयन्तः । तपसा निर्मलीकृतवन्तः (शुचन्तः) दीपयन्तः (अग्निम्) तेजः । शारीरिकात्मिकबलमित्यर्थः (ववृधन्तः) वर्धयन्तः (इन्द्रम्) ऐश्वर्यम् (उर्वीम्) विस्तृताम् (गव्याम्) वाङ्मयाम् । विद्यायुक्ताम् (परिषदम्) सभाम् (नः) अस्मभ्यम् (अक्रन्) करोतेर्लुङ् । मन्त्रे घसह्वरणशवृ० । पा० २ । ४ । ८० । इति च्लेर्लुक् । अकार्षुः ॥

जनिम । अन्ति । उग्रः ॥ मर्तासः । चित् । उर्वशीः । अकृप्रन् । वृधे । चित् । अर्यः । उपरस्य । आयोः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(उग्रः) तेजस्वी पुरुष ने (तुमति) अन्न [घास आदि] वाले स्थान में (पश्वः) पशुओं के (यूथा इव) यूथों के समान (देवानाम्) विद्वानों के (जनिम) जन्म [जीवन] को (अन्ति) समीप से (आ) सब प्रकार (अख्यत्) देखा है । (मर्तासः) मनुष्यों ने (चित्) भी (उर्वशीः) बहुत फैली हुयी क्रियाओं को (अकृप्रन्) विचारा है, (चित्) जैसे (अर्यः) वैश्य (उपरस्य) समीपस्थ (आयोः) आय की (वृधे) बढ़ती के लिये [विचारता है] ॥ २३ ॥

भावार्थ—प्रतापी बुद्धिमान् पुरुष विद्वानों के आचरणों को इस प्रकार ध्यान से देखता है, जैसे ग्वाला चरते हुये पशुओं को इधर उधर जाने से रोक कर देखता रहता है । और जैसे वैश्य अपने आय की उन्नति सोचता है, वैसे ही सब मनुष्य उत्तम विद्याओं और क्रियाओं का प्रचार करें ॥ २३ ॥

अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः ।
विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवा बृहद् वदेम विदथे सुवीराः ।२४
अकर्म । ते । सु-अपसः । अभूम । ऋतम् । अवस्रन् । उषसः ।

२३—(आ) समन्तात् (यूथा) यूथानि । समूहान् (तुमति) तु, अन्नम्-निघ० २ । ७ । अन्नवति । तृणयुक्ते स्थाने (पश्वः) बहुवचनस्यैकवचनम् । पशोः । पशूनाम् (अख्यत्) चक्षिङ् दर्शने । अदर्शत् (देवानाम्) विदुषाम् (जनिम) जन्म । जीवनम् (अन्ति) अन्तिके । समीपे (उग्रः) तेजस्वी मनुष्य; (मर्तासः) मनुष्याः (चित्) अपि (उर्वशीः) उरु+अशूङ् व्याप्तौ—क, गौरादित्वाद् ङीष् । उर्वशी पदनाम—निघ० ४ । २। तथा ५ । ५ । बहुव्यापिकाः क्रियाः (अकृप्रन्) कृपू सामर्थ्ये कल्पने च—लुङि च्लेः अङ् आदेशः । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । ८ । इति रुडागमः । कल्पनया समर्थितवन्तः । विचारितवन्तः (वृधे) वर्धनाय (चित्) यथा (उपरस्य) उप+रमु क्रीडायाम्—ड । समीपस्थस्य (अर्यः) अर्यः स्वामिवैश्ययोः । पा० ३ । १। १०३। ऋ गतौ-यत् । वैश्यः (आयोः) छन्दसीणः । उ० १। २ । इण् गतौ—उण् । गतस्य । लब्धस्य । आयस्य॥

वि-भातीः ॥ विश्वम् । तत् । भद्रम् । यत् । अवन्ति । देवाः । बृहत् । वदेम । विदथे । सु-वीराः ॥ २४ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (ते) तेरे लिये [उत्तम कर्म] (अकर्म) हम ने किये है, (स्वपसः) अच्छे कर्म वाले (अभूम) हम हुये हैं, (विभातीः) प्रकाश करती हुयी (उषसः) प्रभात वेलाओं ने (ऋतम्) सत्य धर्म में (अवस्रन्) निवास किया है । (यत्) जो कुछ (भद्रम्) कल्याण कारक कर्म है, (तत्) उस (विश्वम्) सब की (देवाः) विद्वान् लोग (अवन्ति) रक्षा करते हैं, (सुवीराः) अच्छे वीरों वाले हम (विदथे) ज्ञान सामाज में (बृहत्) बढ़ती करने वाला [वचन] (वदेम) बोलें ॥ २४ ॥

भावार्थ—जैसे प्रभात बेलायें अन्धकार नाश करके प्रकाश करती हैं, वैसे ही सत्य धर्म असत्य का नाश करके प्रकाशमान होता है, विद्वान् लोग उस सत्य का ग्रहण करके और सभाओं में बैठकर सर्ववृद्धि का विचार करें ॥२४ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध ऋग्वेद में है— ४ । २ । १६ और उत्तरार्द्ध ऋग्वेद— २ । २३ । १६ और यजुर्वेद–३४ । ५८ ॥

मन्त्राः २५—२६ ॥

प्रजापतिर्देवता ॥ २५ निचृदार्षी जगती; २६, २८ भुरिगार्षी जगती; २७ आर्षी जगती; २६ विराडार्षी जगती ॥

सर्वदिक्षु रक्षोपदेशः—सब दिशाओं में रक्षा का उपदेश ॥

इन्द्रो मा मरुत्वान् प्राच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी

२४—(अकर्म) मन्त्रे घसह्वर० । पा०२ । ४ । ८० । च्लेर्लुक् । वयं कृतवन्तः श्रेष्ठकर्माणि (ते) तुभ्यम् (स्वपसः) अपः कर्मनाम–निघ० २ । १ । धार्मिककर्माणः (अभूम (ऋतम्) सत्यधर्मम् (अवस्रन्) वस निवासे— लङ्, रुडागमः । निवसन्ति स्म (उषसः) प्रभातवेलाः (विभातीः) विभात्यः । प्रकाशमानाः (विश्वम्) सर्वम् (तत्) (भद्रम्) शुभं कर्म (यत्) अवन्ति) रक्षन्ति (देवाः) विद्वांसः (बृहत्) वृद्धिकरं वचनम् (वदेम)ब्रूयाम (विदथे) ज्ञानसमाजे (सुवीराः) श्रेष्ठवीरैरुपेताः ॥

द्यामिवोपरि। लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हतभागा इह स्थ ॥ २५ ॥

इन्द्रः। मा। मरुत्वान्। प्राच्याः। दिशः। पातु। बाहु-च्युता। पृथिवी। द्याम्-इव। उपरि॥ लोक-कृतः। पथि-कृतः। यजामहे। ये। देवानाम्। हुत-भागाः। इह। स्थ २५

भाषार्थ—(मरुत्वान्) शूरों का स्वामी (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर (प्राच्याः) पूर्व वा सामने वाली (दिशः) दिशा से (मा) मेरी (पातु) रक्षा करे (बाहुच्युता) भुजाओं से उत्साह दी गयी (पृथिवी) पृथिवी (इव) जैसे (द्याम् उपरि) सूर्य पर [सूर्य के आकर्षण, प्रकाश आदि के सहारे पर, प्राणियों की रक्षा करती है] (लोककृतः) समाजों के करने वाले, (पथिकृतः) मार्गों के बनाने वाले [तुम लोगों] को (यजामहे) हम पूजते हैं (ये) जो तुम (देवानाम्) विद्वानों के बीच (हुतभागाः) भाग लेने वाले (इह) यहां पर (स्थ) हो ॥ २५ ॥

भावार्थ—परमात्मा पूर्व आदि और सामने वाली आदि दिशाओं में शूरों को बल देकर रक्षा करता है, जैसे चतुर लोगों के उद्योग से पृथिवी सूर्य के आकर्षण और प्रकाश आदि द्वारा वृष्टि ताप आदि पाकर अन्न आदि उत्पन्न करके रक्षा करती है, सब मनुष्य हितैषी विद्वानों का आश्रय लेकर उस जगदीश्वर की भक्ति करें ॥ २५ ॥

२५—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (मा) माम् (मरुत्वान्) अ० १।२०।१। मरुतां शूराणां स्वामी (प्राच्याः) पूर्वायाः। अभिमुखीभूतायाः सकाशात् (पातु) रक्षतु (बाहुच्युता) च्यु सहने हसने च, अन्तर्गतणिजर्थः। बाहुभिर्भुजैश्च्याविता उत्साहिता (पृथिवी) (द्याम्) सूर्यम्। सूर्यस्याकार्षणप्रकाशादिकमित्यर्थः (इव) यथा (उपरि) उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु०) वा० पा० २।३।२। इत्यनाम्रेडितान्ते ऽपि उपरियोगे द्यामित्यस्य द्वितीया। आश्रित्येत्यर्थः (लोककृतः) लोकानां समाजानां कर्तॄन् (पथिकृतः) सन्मार्गाणां कर्तॄन् दर्शकान् (यजामहे) पूजयामहे (ये) पुरुषाः (देवानाम्) विदुषां मध्ये (हुतभागाः) हु दानादानादनेषु—क्त। हुता आप्ता गृहीता भागा यैस्ते (इह) संसारे (स्थ) भवथ ॥

धाता मा निर्ऋत्या दक्षिणाया दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि। लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २६ ॥

धाता। मा। निः-ऋत्याः। दक्षिणायाः। दिशः। पातु। बाहु-च्युता। पृथिवी। द्याम्-इव। उपरि ॥ लोक-कृतः। पथि-कृतः। यजामहे। ये। देवानाम्। हुत-भागाः। इह। स्थ २६

भाषार्थ—(धाता) धारण करने वाला परमात्मा (दक्षिणायाः) दक्षिण वा दाहिनी (दिशः) दिशा की (निर्ऋत्याः) महाविपत्ति से (मा) मेरी (पातु) रक्षा करे, (बाहुच्युता) भुजाओं से उत्साह दी गयी......[मन्त्र २५] ॥ २६ ॥

भावार्थ—मन्त्र २५ के समान है ॥ २६ ॥

अदितिर्मादित्यैः प्रतीच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि। लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुत-भागा इह स्थ ॥ २७ ॥

अदितिः। मा। आदित्यैः। प्रतीच्याः। दिशः। पातु। बाहु-च्युता। पृथिवी। द्याम्-इव। उपरि ॥ लोक-कृतः। पथि-कृतः। यजामहे। ये। देवानाम्। हुत-भागाः। इह। स्थ ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(अदितिः) अखण्ड परमात्मा (आदित्यैः) अखण्डव्रती ब्रह्मचारियों द्वारा (प्रतीच्याः) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशः) दिशा से (मा)

२६—(धाता) सर्वधारकः परमात्मा (निर्ऋत्याः) कृच्छ्रापत्तेः सकाशात् (दक्षिणायाः) दक्षिणस्याः। दक्षिणहस्तस्थायाः (दिशः) दिक् सम्बन्धिन्याः। अन्यत् पूर्ववत्–म० २५ ॥

२७—(अदितिः) अखण्डपरमात्मा (आदित्यैः) अखण्डव्रतिब्रह्म-

मेरी (पातु) रक्षा करे, (बाहुच्युता) भुजाओं से उत्साह दी गयी ....[म० २५] ॥ २७ ॥

भावार्थ—मन्त्र २५ के समान है ॥ २७ ॥

सोमो॑ मा॒ विश्वै॑र्दे॒वैरुदी॑च्या दि॒शः पा॑तु बाहु॒च्युता॑ पृथि॒वी द्यामि॑वो॒परि॑। लो॒क॒कृतः॑ पथि॒कृतो॑ यजामहे॒ ये दे॒वानां॑ हु॒तभा॑गा इ॒ह स्थ ॥ २८ ॥

सोमः॑। मा॒। विश्वैः॑। दे॒वैः। उदी॑च्याः। दि॒शः। पा॒तु॒। बा॒हु॒-च्युता॑। पृ॒थि॒वी। द्याम्-इ॑व। उ॒परि॑ ॥ लो॒क॒-कृतः॑। प॒थि॒-कृतः॑। य॒जा॒म॒हे॒। ये। दे॒वाना॑म्। हु॒त-भा॑गाः। इ॒ह। स्थ ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(सोमः) सर्वजनक परमात्मा (विश्वैः) सब (देवैः) उत्तम गुणों के साथ (उदीच्याः) उत्तर वा बाईं ओर वाली (दिशः) दिशा से (मा) मेरी (पातु) रक्षा करे (बाहुच्युता) भुजाओं से उत्साह दी गयी ...... [मन्त्र २५] ॥ २८ ॥

भावार्थ—मन्त्र २५ के समान है ॥ २८ ॥

ध॒र्ता ह॑ त्वा ध॒रुणो॑ धारयाता ऊ॒र्ध्वं भा॒नुं स॑वि॒ता द्यामि॑वो॒परि॑। लो॒क॒कृतः॑ पथि॒कृतो॑ यजामहे॒ ये दे॒वानां॑ हु॒तभा॑गा इ॒ह स्थ ॥ २९ ॥

ध॒र्ता। ह॒। त्वा॒। ध॒रुणः॑। धा॒र॒या॒तै॒। ऊ॒र्ध्वम्। भा॒नुम्। स॒वि॒ता। द्याम्-इ॑व। उ॒परि॑ ॥ लो॒क॒-कृतः॑ प॒थि॒-कृतः॑।

चारिभिः (प्रतीच्याः) पश्चिमायाः। पश्चाद्भागस्थायाः (दिशः) दिक्सकाशात्। अन्यत् पूर्ववत्—म० २५ ॥

२८—(सोमः) सर्वोत्पादकः परमेश्वरः (विश्वैः) सर्वैः (देवैः) उत्तमगुणैः (उदीच्याः) उत्तरायाः। वामभागस्थायाः। अन्यत् पूर्ववत्—म० २५ ॥

यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(धर्ता) पोषण करने वाला (धरुणः) स्थिर स्वभाव वाला परमात्मा (ह) निश्चय करके (त्वा) तुझे (ऊर्ध्वम्) ऊंचा (धारयातै) रक्खे, (इव) जैसे (सविता) सर्वप्रेरक परमेश्वर (भानुम्) सूर्य को (द्याम् उपरि) आकाश पर [रखता है] । (लोककृतः) समाजों के करने वाले, (पथिकृतः) मार्गों के बनाने वाले [तुम लोगों] को (यजामहे) हम पूजते हैं, (ये) जो तुम (देवानाम्) विद्वानों के बीच (हुतभागाः) भाग लेने वाले (इह) यहां (स्थ) हो ॥ २९ ॥

भावार्थ—परमात्मा सर्वपोषक, दृढ़ स्वभाव वाले पुरुषार्थी जनों को उच्च स्थान देता है, जैसे वह अनेक लोकों के आकर्षक, पोषक सूर्य को आकाश में ऊंचा रखता है । सब मनुष्य सर्वहितैषी विद्वानों का आश्रय लेकर उस जगदीश्वर की भक्ति करें ॥ २९ ॥

मन्त्राः ३०—३७ ॥

ईश्वरो देवता ॥ ३० अतिजगती ; ३१ विराट् शक्वरी ; ३२—३५ भुरिगतिजगती ; ३६ आसुर्यनुष्टुप् ३७ आसुरी गायत्री ॥

सर्वत्रपरमेश्वरधारणोपदेशः—सर्वत्र परमेश्वर के धारण का उपदेश ॥

प्राच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३० ॥ (१५)

प्राच्याम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्-वृतः । स्वधायाम् । आ । दधामि । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि ॥

२९—(धर्ता) पोषकः (ह) निश्चयेन (त्वा) (धरुणः) कृवृदारिभ्य उनन् । उ० ३ । ५३ । धृङ् अवस्थाने—उनन् । स्थिरस्वभावः परमात्मा (धारयातै) लेटि रूपम् । धारयेत् (ऊर्ध्वम्) उन्नतम् (भानुम्) सूर्यम् (सविता) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (द्याम्) आकाशम् (इव) यथा (उपरि) म० २५ । आश्रित्येत्यर्थः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ ३० ॥ (१५)

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (प्राच्याम्) पूर्व वा सामने वाली (दिशि) दिशा में (त्वा) तुझे (स्वधायाम्) आत्मधारण शक्ति के बीच (पुरा) पूर्ति के साथ (संवृतः) घिरा हुआ मैं (आ) सब ओर से (दधामि) मैं [मनुष्य अपने में] धारण करता हूं, (बाहुच्युता) भुजाओं से उत्साह दी गयी (पृथिवी) पृथिवी (इव) जैसे (द्याम् उपरि) सूर्य पर [सूर्य के आकर्षण, प्रकाश आदि के सहारे पर], [अपने में तुझे धारण करती है] । (लोककृतः) समाजों के करने वाले, (पथिकृतः) मार्गों के बनाने वाले, [तुम लोगों] को (यजामहे) हम पूजते हैं, (ये) जो तुम (देवानाम्) विद्वानों के बीच (हुतभागाः) भाग लेने वाले (इह) यहां पर (स्थ) हो ॥ ३० ॥

भावार्थ—सर्वथा परिपूर्ण परमेश्वर से पूर्व आदि और सामने वाली आदि दिशाओं में मनुष्य अपने में आत्मशक्ति पाकर पुरुषार्थ करता है, जैसे पृथिवी सूर्य के आकर्षण आदि में रह कर परमेश्वर की दी हुई आत्मशक्ति से उपकार करती है । सब मनुष्य हितैषी विद्वानों का आश्रय लेकर उस जगदीश्वर की भक्ति करें ॥ ३० ॥

दक्षिणायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३१ ॥

दक्षिणायाम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्-वृतः । स्वधायाम् । आ । दधामि । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि ॥

३०—(प्राच्याम्) पूर्वस्याम् । अभिमुखीभूतायाम् (दिशि) (पुरा) पॄ पालनपूरणयोः—क्विप् । उदोष्ठ्यपूर्वस्य । पा० ७ । १ । १०२ । इत्युत्वम् । पूर्त्या (संवृतः) सम्यग् वेष्टितः (स्वधायाम्) आत्मधारणशक्तौ (आ) समन्तात् (दधामि) धारयामि । अन्यत् पूर्ववत्—म० २५ ॥

लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—(दक्षिणायाम्) दक्षिण वा दाहिनी (दिशि) दिशा में (त्वा) तुझे [मन्त्र ३०] ॥ ३१ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३० के समान है ॥ ३१ ॥

प्रतीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३२ ॥

प्रतीच्याम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्-वृतः । स्वधायाम् । आ । दधामि । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—(प्रतीच्याम्) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशि) दिशा में (त्वा) तुझे...... [म० ३०] ॥ ३२ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३० के समान है ॥ ३२ ॥

उदीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः । पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३३ ॥

उदीच्याम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्-वृतः । स्वधायाम् । आ । दधामि । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि ॥

३१—(दक्षिणायाम्) दक्षिणहस्तस्थितायाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३२—(प्रतीच्याम्) पश्चिमायाम् । पश्चाद्भागे वर्तमानायाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(उदीच्याम्) उत्तर वा बायीं (दिशि) दिशा में (त्वा) तुझे......[म० ३०] ॥ ३३ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३० के समान है ॥ ३३ ॥

ध्रुवायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३४ ॥

ध्रुवायाम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्-वृतः । स्वधायाम् । आ । दधामि । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—(ध्रुवायाम्) स्थिर वा नीचे वाली (दिशि) दिशा में (त्वा) तुझे......[मन्त्र ३०] ॥ ३४ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३० के समान है ॥ ३४ ॥

ऊर्ध्वायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३५ ॥

ऊर्ध्वायाम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्-वृतः । स्वधायाम् । आ । दधामि । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि ॥

३३—(उदीच्याम्) उत्तरस्याम् । वामहस्तवर्तमानायाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३४—(ध्रुवायाम्) स्थिरायाम् । अधो वर्त्तमानायाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (ऊर्ध्वायाम्) ऊपर वाली (दिशि) दिशा में (त्वा) तुझे (स्वधायाम्) आत्मधारण शक्ति के बीच (पुरा) पूर्ति के साथ (संवृतः) घिरा हुआ मैं [मनुष्य] (आ) सब ओर से (दधामि) धारण करता हूं, (बाहुच्युता) भुजाओं से उत्साह दी गयी (पृथिवी) पृथिवी (इव) जैसे (द्याम् उपरि) सूर्य पर [सूर्य के आकर्षण, प्रकाश आदि के सहारे पर, [अपने में तुझे धारण करती है] (लोककृतः) समाजों के करने वाले, (पथिकृतः) मार्गों के बनाने वाले, [तुम लोगों] को (यजामहे) हम पूजते हैं, (ये) जो तुम (देवानाम्) विद्वानों के बीच (हुतभागाः) भाग लेने वाले (इह) यहां पर (स्थ) हो ॥ ३५ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३० के समान है ॥ ३५ ॥

धर्तासि धरुणोऽसि वंसगोऽसि ॥ ३६ ॥

धर्ता । असि । धरुणः । असि । वंसगः । असि ॥ ३६ ॥

उदपूरसि मधुपूरसि वातपूरसि ॥ ३७ ॥

उद-पूः । असि । मधु-पूः । असि । वात-पूः । असि ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] (धर्ता) तू धारण करने वाला (असि) है, (धरुणः) तू स्थिर स्वभाव वाला (असि) है और (वंसगः) तू सेवनीय व्यवहारों का प्राप्त कराने वाला (असि) है ॥ ३६ ॥ (उदपूः) तू जल से शोधने वाला [वा जल से अग्रगामी] (असि) है, (वातपूः) तू वायु से

३५—(ऊर्ध्वायाम्) उपरि स्थितायाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३६—(धर्ता) धारकः परमेश्वरः (असि) (धरुणः) म० २८ स्थिरस्वभावः (असि) (वंसगः) वृतॄवदिवचि० । उ० ३ । ६२ । वन संभक्तौ—सप्रत्ययः + गमयतेर्डः । वंसानां सेवनीयानां व्यवहाराणां गमयिता प्रापयिता (असि) ॥

३७—(उदपूः) उदक + पूञ शोधने—क्विप्, वा पुर अग्रगमने—क्विप् । जलेन शोधयिता जलादग्रगामी वा (असि) (मधुपूः) मधु + पॄ पालन पूर-

पालने वाला [वा वायु से अग्रगामी] (असि) है, (मधुपूः) तू मधुर [स्वास्थ्य वर्धक] रस से पूर्ण करने वाला [वा ज्ञान से अग्रगामी] (असि] है ॥ ३७ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि पूर्वोक्त प्रकार से परमात्मा को सब दिशाओं में व्यापक जानकर दृढ़ स्वभाव होवें और शुद्ध जल, वायु, अन्न आदि से शरीर के धातुरसों को पुष्ट करें। वह सर्वपोषक परमात्मा जल आदि स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों से और ज्ञानियों के ज्ञान से अधिक आगे है ॥ ३६, ३७ ॥

मन्त्राः ३८—४१ ॥

स्त्रीपुरुषौ देवते ॥ ३८ विराट् त्रिष्टुप् ; ३९ भुरिक् पङ्क्तिः ; ४० त्रिष्टुप्; ४१ भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्यों के कर्तव्य का उपदेश ॥

इतश्च मामुतश्चावतां यमे इव यतमाने यदैतम् । प्र वां भरन् मानुषा देवयन्तो आ सीदतां स्वमु लोकं विदाने ॥३८॥

इतः । च । मा । अमुतः । च । अवताम् । यमे इवेति यमेऽइव । यतमाने इति । यत् । एतम् ॥ प्र । वाम् । भरन् । मानुषाः । देव-यन्तः । आ । सीदताम् । स्वम् । ऊं इति । लोकम् । विदाने इति ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री पुरुषो ! आप दोनों] (इतः) यहां से [समीप में वा इस जन्म में] (च च) और (अमुतः) वहां से [दूर में वा परजन्म में] (मा) मुझे (अवताम्) बचावें, (यत्) क्योंकि (यमे इव) दो नियम

णयोः—क्विप्, वा पुर—क्विप्। मधुरस्य स्वास्थ्यवर्धकस्य रसस्य पूरयिता मधुनो ज्ञानादग्रगामी वा (असि) (वातपूः) वात+पॄ—क्विप्, वा पुर—क्विप्। वातेन वायुना पालयिता वायोः सकाशादग्रगामी वा (असि) ॥

३८—(इतः) अस्मात् स्थानाल्लोकाद् वा (च) (मा) माम् (अमुतः) तस्माद् दूरदेशात् परलोकाद् वा (च) (अवताम्) रक्षतां भवन्तौ (यमे) सुपां सुलुक्०। पा० ७ । १ । ३९ । इति सुपः शे । इत्यादेशः । यमौ । नियमवन्तौ

वालों के समान (यतमाने) यत्न करते हुये तुम दोनों (ऐतम्) चले हो। (देवयन्तः) उत्तम गुण चाहने वाले (मानुषाः) मनन शील मनुष्यों ने (वाम्) तुम दोनों को (प्र) अच्छे प्रकार (भरन्) पाला है, (स्वम्) अपने (लोकम्) स्थान को (उ) अवश्य (विदाने) जानते हुये [आप दोनों] (आ) आकर (सीदताम्) बैठें ॥ ३८ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष जितेन्द्रिय होकर समीप और दूर में तथा लोक और परलोक में सुख के लिये यत्न करके परस्पर अपनी सत्ता को उच्च बनावें ॥ ३८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १३ । २ ॥

स्वासस्थे भवतमिन्दवे नो युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः । वि श्लोक एति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतास एतत् ॥३९॥

स्वासस्थे इति सु-आसस्थे । भवतम् । इन्दवे । नः । युजे । वाम् । ब्रह्म । पूर्व्यम् । नमः-भिः ॥ वि । श्लोकः । एति । पथ्या-इव । सूरिः । शृण्वन्तु । विश्वे । अमृतासः । एतत् ॥३९॥

भाषार्थ—(नः) हमारे (इन्दवे) ऐश्वर्य के लिये (स्वासस्थे) अच्छे आसन पर बैठने वाले (भवतम्) तुम दोनों होओ, (वाम्) तुम दोनों के लिये (पूर्व्यम्) पहिले [योगियों] करके प्रत्यक्ष किये (ब्रह्म) बड़े परमेश्वर का (नमोभिः) सत्कारों के साथ (युजे) मैं ध्यान करता हूं । (श्लोकः)

(इव) यथा (यतमाने) सुपः शे । यतमानौ व्याप्रियमाणौ (यत्) यतः (ऐतम्) आगच्छतं युवाम् (प्र) प्रकर्षेण (वाम्) युवाम् (भरन्) अभरन् । पालितवन्तः (मानुषाः) मननशीलाः पुरुषाः (देवयन्तः) दिव्यगुणान् कामयमानाः (आ) आगत्य (सीदताम्) उपविशतां भवन्तौ (स्वयम्) स्वकीयम् (उ) अवश्यम् (लोकम्) स्थानम् (विदाने) सुपः शे । विदानौ । जानन्तौ ॥

३९—(स्वासस्थे) सु+आस उपवेशने—घञ्+तिष्ठतेः—क । सुपः शे । स्वासस्थौ । सुखासने तिष्ठन्तौ युवाम् (भवतम्) (इन्दवे) ऐश्वर्याय (नः) अस्माकम् (युजे) आत्मनि समादधे (वाम्) युवयोर्हिताय (ब्रह्म) बृहन्तं व्यापकं परमात्मानम (पूर्व्यम्) पूर्वयोगिभिः प्रत्यक्षीकृतम् (नमोभिः)

वेदवाणी में कुशल (सूरिः) विद्वान् (पथ्या इव) सुन्दर मार्ग के समान (वि) विविध प्रकार से (एति) चलता है, (विश्वे) सब (अमृतासः) अमर [पुरुषार्थी] लोग (एतत्) यह (शृण्वन्तु) सुनें ॥ ३९ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष पूर्वज योगियों के समान योगाभ्यास से आत्मशुद्धि करके परमात्मा को प्राप्त होवें, और जैसे विद्वानों का बनाया मार्ग सब यात्रियों को सुख दायक होता है, वैसे ही वेद कुशल विद्वानों का विद्या प्रचार सब को आनन्द देता है ॥ ३९ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १३ । १, २ तथा यजुर्वेद में—११ । ५ ॥

त्रीणि पदानि रूपो अन्वरोहच्चतुष्पदीमन्वैतद्व्रतेन । अक्षरेण प्रति मिमीते अर्कमृतस्य नाभावभि सं पुनाति ॥ ४० ॥ (१६)

त्रीणि । पदानि । रुपः । अनु । अरोहत् । चतुः-पदीम् । अनु । एतत् । व्रतेन ॥ अक्षरेण । प्रति । मिमीते । अर्कम् । ऋतस्य । नाभौ । अभि । सम् । पुनाति ॥ ४० ॥ (१६)

भाषार्थ—(रुपः) गतिमान् पुरुष (त्रीणि) तीनों [भूत, भविष्यत् और वर्तमान] (पदानि) पदों [अधिकारों] के (अनु) पीछे पीछे (अरोहत्) प्रसिद्ध हुआ है, और (व्रतेन) व्रत [ब्रह्मचर्य आदि नियम] के साथ (चतुष्पदीम्) चारों [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष] में अधिकार वाली वेद-

---

सत्कारैः (वि) विविधम् (श्लोकः) श्लोक—अर्श आद्यच् । श्लोको वाङ् नाम—निघ० १ । ११ । वेदवाणीकुशलः (एति) गच्छति (पथ्या) पथे मार्गाय हिता । सुगमा सृतिः (इव) यथा (शृण्वन्तु) आकर्णयन्तु (विश्वे) सर्वे (अमृतासः) अमराः । पुरुषार्थिनः । यशस्विनः पुरुषाः (एतत्) इदं वचनम् ॥

४०—(त्रीणि) त्रिसंख्याकानि (पदानि) प्राप्तव्यानि भूतभविष्यद्-वर्तमानवस्तूनि (रुपः) च्युवः किच्च । उ० ३ । २४ । रुङ् गतिरेषणयोः, रु शब्दे वा—पप्रत्ययः, कित् । गतिमान् । स्तोतव्यः पुरुषः (अनु) अनुसृत्य (अरोहत्) प्रादुरभवत् (चतुष्पदीम्) चतुर्वर्गे धर्मार्थकाममोक्षेषु पुरुषार्थेषु

वाणी के (अनु) पीछे पीछे (ऐतत्) चला है। वह (अक्षरेण) व्यापक वा अविनाशी [ओ३म् परमात्मा] के साथ (अर्कम्) पूजनीय विचार को (प्रति) प्रत्यक्ष (मिमीते) कर्ता है, और (ऋतस्य) सत्य धर्म की (नाभौ) नाभि में [सब को] (अभि) सब ओर से (सम्) यथावत् (पुनाति) शुद्ध करता है ॥ ४० ॥

भावार्थ—चलते फिरते उद्योगी स्त्री पुरुष भूत, भविष्यत् और वर्तमान का विचार करके वेदद्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को प्राप्त होवें और परमात्मा की आज्ञा का पालन करके सब मनुष्यों को शुभ मार्ग पर चलावें ॥ ४० ॥

१—मन्त्र ४० और ४१ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १३ । ३, ४ ॥

२—संहिता के (ऐतत्) पद के स्थान पर पदपाठ में (एतत्) पद विचारणीय है ॥

देवेभ्यः कर्मवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत ।
बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्व१मा रिरेच ॥४१॥

देवेभ्यः । कम् । अवृणीत । मृत्युम् । प्र-जायै । किम् । अमृ-तम् । न । अवृणीत ॥ बृहस्पतिः । यज्ञम् । अतनुत । ऋषिः । प्रियाम् । यमः । तन्वम् । आ । रिरेच ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—[जिस ने] (देवेभ्यः) उत्तम गुणों के लिये (कम्) सुख से (मृत्युम्) मृत्यु [अहङ्कारत्याग] को (अवृणीत) अङ्गीकार किया है, उस ने (प्रजायै) प्रजा के लिये (किम्) क्या (अमृतम्) अमृत [अमरपन

पदमधिकारो यस्यास्तां वेदवाणीम् (अनु) अनुसृत्य (ऐतत्) इण् गतौ—लङ्, तकारश्छान्दसः । ऐत् । प्राप्नोत् (व्रतेन) ब्रह्मचर्यादितपश्चरणेन (अक्षरेण) अ० ६ । १० । २ । अशू व्याप्तौ—सर । यद्वा नञ्+क्षर संचलने-अच् । व्यापकेन विनाशरहितेन, ओ३म् इति प्रणवेन सह (प्रति) प्रत्यक्षम् (मिमीते) माङ् माने । करोति (अर्कम्) कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः । उ० ३ । ४० । अर्च पूजायाम्—क, यद्वा, अर्च—घञ्, कुत्वम् । अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति—निरु० ५ । ४ । पूजनीयं विचारम् (ऋतस्य) सत्यधर्मस्य (नाभौ) मध्यस्थाने (अभि) सर्वतः (सम्) सम्यक् (पुनाति) शोधयति सर्वान् ॥

४१—(देवेभ्यः) उत्तमगुणानां प्राप्तये (कम्) सुखेन (अवृणीत) अङ्गीकृतवान् (मृत्युम्) मरणम् । अहंकारत्यागम् । आत्मसमर्पणम् (प्रजायै) मनुष्या-

मोक्षपद] को (न) नहीं (अवृणीत) अङ्गीकार किया ? । (बृहस्पतिः) उस बड़े बड़े व्यवहारों के रक्षक (ऋषिः) सन्मार्गदर्शक, (यमः) नियम वाले पुरुष ने (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार को (अतनुत) फैलाया है और (प्रियाम्) हित करने वाली (तन्वम्) उपकार क्रिया को (आ) सब ओर से (रिरेच) संयुक्त किया है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति के लिये अहङ्कार, अर्थात् आपा छोड़ आत्मदान करते हैं, वे ही संसार को मोक्षपद देते और पूजनीय व्यवहारों को फैलाकर अवश्य महान् उपकार करते हैं ॥ ४१ ॥

मन्त्राः ४२—४८ ॥

पितरो देवताः ॥ ४२, ४३, ४८ त्रिष्टुप् ; ४४, ४६ निचृज् जगती; ४५ निचृत् त्रिष्टुप् ; ४७ भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

पितृसन्तानकर्तव्योपदेशः—पितरों और सन्तानों के कर्तव्य का उपदेश ॥

त्वमग्न ईडितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वा । प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥४२॥

त्वम् । अग्ने । ईडितः । जात-वेदः । अवाट् । हव्यानि । सुरभीणि । कृत्वा ॥ प्र । अदाः । पितृ-भ्यः । स्वधया । ते । अक्षन् । अद्धि । त्वम् । देव । प्र-यता । हवींषि ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे बड़े धनी (अग्ने) विद्वान् ! (ईडितः) प्रशंसित (त्वम्) तू ने (हव्यानि) ग्रहण करने योग्य पदार्थों को (सुरभीणि)

द्विरूपायै (किम्) (अमृतम्) अमरणम् । मोक्षपदम् (न) निषेधे (अवृणीत) स्वीकृतवान् (बृहस्पतिः) बृहतां व्यवहाराणां रक्षकः (यज्ञम) पूजनीयं व्यवहारम् (अतनुत) विस्तारितवान् (यमः) सन्मार्गदर्शकः (प्रियाम्) हितकरीम् (यमः) नियमवान् । जितेन्द्रियः पुरुषः (तन्वम्) उपकारक्रियाम् (आ) समन्तात् (रिरेच) रिचिर् विरेचने, रिच वियोजनसंम्पर्चनयोः—लिट् । संयोजितवान् ॥

४२—(त्वम्) (अग्ने) हे विद्वन् (ईडितः) प्रशंसितः (जातवेदः) जातानि प्रसिद्धानि वेदांसि धनानि यस्य तत्सम्बुद्धौ (अवाट्) वहतेर्लुङ् , इडागमाभावे

ऐश्वर्य युक्त (कृत्वा) करके (अवाट्) पहुंचाया है। (पितृभ्यः) पितरों [पिता आदि रक्षक महात्माओं] को (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (प्रयता) शुद्ध [वा प्रयत्न से सिद्ध किये] (हवींषि) ग्रहण करने योग्य भोजन (प्र) अच्छे प्रकार (अदाः) तू ने दिये हैं, (ते) उन्होंने (अक्षन्) खाये हैं, (देव) हे विद्वान्! (त्वम्) तू [भी] (अद्धि) खा ॥ ४२ ॥

भावार्थ—पुत्रादि सन्तान उत्तम उत्तम पदार्थों से पितरों की सेवा करें और प्रयत्न से शुद्ध बनाये हुये भोजन उन्हें खिलावें और आप खावें, जिस से सब स्वस्थ रहकर आनन्द भोगें ॥ ४२ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १५ । १२ और यजुर्वेद में—१६ । ६६ तथा उत्तरार्द्ध आगे है—अ० १८ । ४ । ६५ ॥

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ॥४३॥

आसीनासः । अरुणीनाम् । उप-स्थे । रयिम् । धत्त । दाशुषे । मर्त्याय ॥ पुत्रेभ्यः । पितरः । तस्य । वस्वः । प्र । यच्छत । ते । इह । ऊर्जम् । दधात ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो! (अरुणीनाम्) पाने योग्य क्रियाओं [वा विद्याओं] की (उपस्थे) गोद में (आसीनासः) बैठे हुये तुम (दाशुषे) दाता (मर्त्याय) मनुष्य के लिये (रयिम्) धन (धत्त) धरो, (ते) वे तुम

सिचो लोपे रूपसिद्धिः । अवाक्षीः । प्रापितवानसि (हव्यानि) ग्राह्यवस्तूनि (सुरभीणि) म० १७ । ऐश्वर्ययुक्तानि (कृत्वा) विधाय (प्र) प्रकर्षेण (अदाः) ददातेर्लङ् । दत्तवानसि (पितृभ्यः) (स्वधया) स्वधारणशक्त्या (ते) पितरः (अक्षन्) घस्लृ अदने—लुङ् । भक्षितवन्तः (अद्धि) अद भक्षणे—लोट् । भक्षय (त्वम्) (देव) हे विद्वन् (प्रयता) यमु उपरमे—क्त, यद्वा यती प्रयत्ने—अप् । शुद्धानि । प्रयत्नसाधितानि (हवींषि) ग्राह्यभोजनानि ॥

४३—(आसीनासः) आसीनाः । उपविशन्तः (अरुणीनाम्) म० २१ । प्राप्तव्यानां क्रियाणां विद्यानां वा (उपस्थे) उत्सङ्गे (रयिम्) धनम् (धत्त) धरत (दाशुषे) दात्रे (मर्त्याय) मनुष्याय (पुत्रेभ्यः) सन्तानेभ्यः (पितरः)

(इह) यहां पर (पुत्रेभ्य) पुत्रों को (तस्य) उस (वस्वः) धन का (प्र यच्छत) दान करो, और (ऊर्जम्) पराक्रम (दधात) धारण करो ॥ ४३ ॥

भावार्थ—वृद्ध पितर लोग उत्तम क्रियाओं और विद्याओं द्वारा धन का संग्रह कर के सुपात्र विद्या आदि देने वाले पुरुष को धन का दान देवें और सन्तानों को यथा योग्य दाय भाग कर के पराक्रमी बनावें ॥ ४३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१०। १५। ७ ।और यजुर्वेद १९।६३॥

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्तो हवींषि प्रयतानि बर्हिषि रयिं च नः सर्ववीरं दधात ४४

अग्नि-स्वात्ताः । पितरः । आ । इह । गच्छत । सदः-सदः । सदत । सु-प्रनीतयः ॥ अत्तो इति । हवींषि । प्र-यतानि । बर्हिषि । रयिम् । च । नः । सर्व-वीरम् । दधात ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—(अग्निष्वात्ताः) हे अग्निविद्या [वा शारीरिक और आत्मिक तेज] के ग्रहण करने वाले (पितरः) पालन करने वाले पितरो ! (इह) यहां (आ गच्छत) आओ और (सुप्रणीतयः) अत्युत्तम नीतों वाले तुम (सदः-सदः) सभा सभा में (सदत) बैठो। और (बर्हिषि) वृद्धि कारक व्यवहार के बीच (प्रयतानि) शुद्ध [वा प्रयत्न से शुद्ध किये] (हवींषि) खाने योग्य अन्नों को (अत्तो) अवश्य खाओ, (च) और (नः) हमारे लिये (सर्ववीरम्) सब वीर पुरुषों के प्राप्त कराने हारे (रयिम्) धन को (धत्त) धारण करो ॥४४॥

(तस्य) (वस्वः) वसुनो धनस्य (प्र यच्छत) दानं कुरुत (ते) तादृशा यूयम् (इह) अस्मिंल्लोके (ऊर्जम्) पराक्रमम् (दधात) धरत ॥

४४—(अग्निष्वात्ताः) अग्नि+सु+आङ्+ददातेः–क्त । अग्निः सूर्यविद्युदग्निविद्या शारीरिकात्मिकतेजो वा आत्तं गृहीतं यैस्ते (पितरः) (इह) अस्मिन् काले (आ गच्छत) (सदःसदः) सदसि सदसि (सदत) सीदत । उपविशत (सुप्रणीतयः) अत्युत्तमनीतिमन्तः (अत्तो) अत्त–उ। भक्षयतैव (हवींषि) अदनीयानि भोजनानि (प्रयतानि) म० ४२। शुद्धानि। प्रयत्नेन साधितानि (बर्हिषि) वृद्धिकरे व्यवहारे (रयिम्) धनम् (च) (नः) अस्मभ्यम् (सर्ववीरम्) सर्वे वीराः प्राप्यन्ते यस्मात् तम् (दधात) धरत ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सभाओं में उपदेश करके अग्नि अर्थात् सूर्य, बिजुली और अग्नि आदि विद्याओं द्वारा मनुष्यों का शारीरिक तथा आत्मिक बल बढ़ावें और श्रद्धा से दिये हुये अन्न आदि को ग्रहण करके उन्हें पुरुषार्थी, श्रीमान् और वीर सेनापति बनावें ॥ ४४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १५ । ११ और यजुर्वेद में—१६ । ५६ तथा महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पितृयज्ञ विषय में व्याख्यात है ॥

उप॑हूता नः पि॒तरः॑ सो॒म्यासो॑ ब॒र्हि॒ष्ये॑षु नि॒धिषु॑ प्रि॒येषु॑ ।
त आ ग॑मन्तु॒ त इ॒ह श्रु॑व॒न्त्वधि॑ ब्रुवन्तु॒ तेऽव॑न्त्व॒स्मान् ॥४५॥

उप॑-हूताः । नः॒ । पि॒तरः॑ । सो॒म्यासः॑ । ब॒र्हि॒ष्ये॑षु । नि॒-धिषु॑ । प्रि॒येषु॑ ॥ ते । आ । ग॒म॒न्तु॒ । ते । इ॒ह । श्रु॒व॒न्तु॒ । अधि॑ । ब्रु॒व॒न्तु॒ । ते । अ॒व॒न्तु॒ । अ॒स्मान् ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—(सोम्यासः) ऐश्वर्य के योग्य [वा प्रियदर्शन] (पितरः) पितर लोग (नः) हमारे (बर्हिष्येषु) वृद्धि योग्य, (प्रियेषु) प्रिय (निधिषु) [रत्न सुवर्ण आदि के] कोशों के निमित्त (उपहूताः) बुलाये गये हैं । (ते) वे (आ गमन्तु) आवें, (ते) वे (इह) यहां (श्रुवन्तु) सुनें, (ते) वे (अधि) अधिकार पूर्वक (ब्रुवन्तु) उपदेश करें और (अस्मान्) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें ॥ ४५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध विद्वानों का सत्कार करते रहें और उनसे उत्तम उत्तम उपदेश प्राप्त करके महाधनी और यशस्वी होवें ॥ ४५ ॥

४५—(उपहूताः) निमन्त्रिताः (नः) अस्माकम् (पितरः) पितृवत्पालकाः (सोम्यासः) सोम्याः । ऐश्वर्यार्हाः । प्रियदर्शनाः (बर्हिष्येषु) वृद्धियोग्येषु (निधिषु) निमित्ते सप्तमी । रत्नसुवर्णादिकोशनिमित्ते (प्रियेषु) प्रीतिविषयेषु (ते) पितरः (आ गमन्तु) आगच्छन्तु (ते) (इह) अस्मिन् यज्ञदेशे (श्रुवन्तु) विकरणस्य लुक् । शृण्वन्तु (अधि) अधिकृत्य (ब्रुवन्तु) उपदिशन्तु (ते) (अवन्तु) रक्षन्तु (अस्मान्) धार्मिकान् ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१०।१५।५ तथा यजुर्वेद–१६।५७ और महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पितृयज्ञ विषय में व्याख्यात है ॥

ये नः॑ पि॒तुः पि॒तरो॒ ये पि॑ताम॒हा अ॑नूजहि॒रे सो॑मपी॒थं वसि॑ष्ठाः। तेभि॑र्य॒मः सं॑र॒राणो ह॒वींष्यु॒शन्नु॒शद्भिः॑ प्रतिका॒मम॑त्तु ॥ ४६ ॥

ये। नः॒। पि॒तुः। पि॒तरः॑। ये। पि॒ता॒म॒हाः। अ॒नु॒-ज॒हि॒रे। सो॒म॒-पी॒थम्। वसि॑ष्ठाः ॥ तेभिः॑। य॒मः। स॒म्-र॒रा॒णः। ह॒वींषि॑। उ॒शन्। उ॒शत्-भिः॑। प्र॒ति॒-का॒मम्। अ॒त्तु ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—(ये) जिन (नः) हमारे (पितुः) पिता के (पितरः) पालन करने हारे पिता आदि ने और (ये) जिन (पितामहाः) दादा आदि वयोवृद्धों ने (वसिष्ठाः) अत्यन्त श्रेष्ठ होकर (सोमपीथम्) ऐश्वर्य की रक्षा को (अनुजहिरे) निरन्तर स्वीकार किया है। (संरराणः) अच्छे प्रकार दान करने हारा, (उशन्) कामना करने हारा (यमः) संयमी सन्तान (तेभिः) उन (उशद्भिः) कामना करने हारों के साथ (हवींषि) देने लेने योग्य भोजनों को (प्रतिकामम्) प्रत्येक कामना में (अत्तु) खावे ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जैसे पूर्वज वृद्धों ने धार्मिक आचरणों से ऐश्वर्यवान् होकर सन्तानों से प्रीति की है, वैसे ही सब सन्तान जितेन्द्रिय होकर उत्तम व्यवहारों से उनकी सेवा करते रहें ॥ ४६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१०। १५। ८ और यजुर्वेद में १६। ५१ और इसका पहिला पाद आ चुका है—अ० १८। २। ४६ ॥

४६—(ये) (नः) अस्माकम् (पितुः) जनकस्य (पितरः) पितृवत् पालकाः (ये) (पितामहाः) जनकस्य पितृवद् वृद्धाः (अनु- जहिरे) हञ् स्वीकारादिषु—लिट्। अनुजहिरे। निरन्तरं स्वीचक्रुः (सोमपीथम्) निशीथ-गोपीथावगथाः। उ० २।६। सोम + पा रक्षणे—थक्। ऐश्वर्यरक्षणम् (वसिष्ठाः) वसुतमाः। अतिशयेन श्रेष्ठाः सन्तः (तेभिः) तैः (यमः) न्यायी। संयमी सन्तानः (संरराणः) रा दाने—कानच्। सम्यक्सुख- दाता (हवींषि) दातव्य ग्राह्यभोजनानि (उशन्) कामयमानः (उशद्भिः) कामयमानैः (प्रतिकामम्) कामं कामं प्रति (अत्तु) भक्षयतु ॥

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविद स्तोमतष्टासो अर्कैः ।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः सत्यैः कविभिर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः ४७

ये । ततृषुः । देव-त्रा । जेहमानाः । होत्रा-विदः । स्तोम-तष्टासः । अर्कैः ॥ आ । अग्ने । याहि । सहस्रम् । देव-वन्दैः । सत्यैः । कवि-भिः । ऋषि-भिः । घर्मसत्-भिः ॥ ४७ ॥

भाषार्थ–(ये) जिन (जेहमानाः) प्रयत्न करते हुये, (होत्राविदः) वेदवाणी जानने वाले, (स्तोमतष्टासः) स्तुति योग्य कर्मों में ढाले हुये पुरुषों ने (अर्कैः) पूजनीय व्यवहारों से (देवत्रा) उत्तम गुणों की (ततृषुः) तृष्णा की है । (अग्ने) हे विद्वान् ! (सहस्रम्) सहस्र प्रकार से (देववन्दैः) विद्वानों से वन्दना किये गये, (सत्यैः) सत्य शील वाले, (कविभिः) बुद्धिमान्, (घर्मसद्भिः) यज्ञ में बैठने वाले (ऋषिभिः) उन ऋषियों के साथ (आ याहि) तू आ ॥ ४७ ॥

भावार्थ–जो महात्मा लोग उत्तम विचार वाले सत्यशील प्रतिष्ठित वेदवेत्ता होवें, विद्वान् पुरुष उन से मिलकर सत्कार पूर्वक उन्नति का विचार करें ॥ ४७ ॥

मन्त्र ४७, ४८ कुछ पद भेद और पाद भेद से ऋग्वेद में है—१० । १५ । ९, १० ॥

४७—(ये) विद्वांसः (ततृषुः) ञि तृषा पिपासायाम्—लिट् । तृष्यन्ति स्म । उत्कण्ठितवन्तः (देवत्रा) देवमनुष्यपुरुष० । पा० ५ । ४ । ५६ । इति द्वितीयार्थे त्रा । देवान् । दिव्यगुणान् (जेहमानाः) जेहृ प्रयत्ने—शानच् । प्रयतमानाः । व्याप्रियमाणाः (होत्राविदः) होत्रा वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । वेदवाग्ज्ञातारः (स्तोमतष्टासः) तक्षू तनूकरणे—क्त, असुगागमः । स्तोमैः स्तुतिकर्मभिस्तनूकृतः (अर्कैः) म० ४० । पूजनीयविचारैः (अग्ने) हे विद्वन् (आ याहि) आगच्छ (सहस्रम्) सहस्रप्रकारेण (देववन्दैः) विद्वद्भिर्वन्दना नमस्कारो येषां तैः (सत्यैः) सत्यशीलैः (कविभिः) मेधाविभिः (ऋषिभिः) वेदार्थदर्शकैः (घर्मसद्भिः) घर्म यज्ञनाम—निघ० ३ । १७ । यज्ञे सदनशीलैः ॥

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेण ।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् परैः पूर्वैर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः ॥४८॥

ये । सत्यासः । हविः-अदः । हविः-पाः । इन्द्रेण । देवैः ।
स-रथम् । तुरेण ॥ आ । अग्ने । याहि । सु-विदत्रेभिः ।
अर्वाङ् । परैः । पूर्वैः । ऋषि-भिः । घर्मसत्-भिः ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (सत्यासः) सत्यशील, (हविरदः) ग्राह्य अन्न खाने वाले, (हविष्पाः) देने लेने योग्य पदार्थों के रक्षक पुरुष (देवैः) विजयी पुरुषों के सहित (तुरेण) वेगवान् (इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्य वाले जन के साथ (सरथम्) एकरथ में [चलते हैं] । (अग्ने) हे विद्वान् ! (सुविदत्रेभिः) बड़े धनी, (परैः) श्रेष्ठ (पूर्वैः) पूर्वज, (घर्मसद्भिः) यज्ञ में बैठने वाले, (ऋषिभिः) उन ऋषियों के साथ (अर्वाङ्) सन्मुख होकर (आ याहि) तू आ ॥ ४८॥

भावार्थ—विद्वान् लोग, प्रतापी पुरुष के सहायक, शूरवीरों के नायक पूजनीय महापुरुषों से मिलकर सदा उन्नति का उपाय सोचें ॥ ४८ ॥

मन्त्राः ४६–५२ ॥

पृथिवी देवता ॥ ४६, ५१, ५२ भुरिक् त्रिष्टुप्, ५० प्रस्तारपङ्क्तिः ॥
पृथिव्या उपकारोपदेशः—पृथिवी के उपकार का उपदेश ॥

उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम् ।
ऊर्णम्रदाः पृथिवी दक्षिणावत एषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ४६

उप । सर्प । मातरम् । भूमिम् । एताम् । उरु-व्यचसम् ।

४८—(सत्यासः) सत्याः । सत्यशीलाः (हविरदः) हविषां ग्राह्यान्नानां भक्षयितारः (हविष्पाः) हविषां दातव्यग्राह्यपदार्थानां रक्षकाः (इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता पुरुषेण सह (देवैः) विजयिपुरुषैः सह (सरथम्) यथा तथा । समाने रथे वर्तमानाः (त्वरेण) त्वरमाणेन (अग्ने) हे विद्वन् (आयाहि) आगच्छ (सुविदत्रेभिः) बहुधनयुक्तैः (अर्वाङ्) अभिमुखः सन् (परैः) उत्कृष्टैः (पूर्वैः) पूर्वपुरुषैः । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४७ ॥

पृथिवीम् । सु-शेवाम् ॥ ऊर्ण-म्रदाः । पृथिवी । दक्षिणा-वते । एषा । त्वा । पातु । प्र-पथे । पुरस्तात् ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—(मातरम्) माता [के समान] (भूमिम्) आधार वाली (एताम्) इस (उरुव्यचसम्) बड़े फैलाव वाली, (सुशेवाम्) बड़ी सुख देने वाली (पृथिवीम्) पृथिवी को (उप) आदर से (सर्प) तू प्राप्त कर। (पृथिवी) पृथिवी (दक्षिणावते) दक्षिणा [प्रतिष्ठा] वाले पुरुष के लिये (ऊर्णम्रदाः) ऊन के समान मृदुल है, (एषा) यह [पृथिवी] (प्रपथे) बड़े मार्ग में (पुरस्तात्) सामने से (त्वा) तेरी (पातु) रक्षा करे ॥ ४९ ॥

भावार्थ—जो जिज्ञासु पुरुष इस पृथिवी को खोजते रहते हैं, वे प्रतिष्ठा के साथ सुख भोगते हुये आगे बढ़ते जाते हैं ॥ ४९ ॥

मन्त्र ४९-५२ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १८ । १०—१३ ॥

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपसर्पणा । माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ५०॥ (१७)

उत् । श्वञ्चस्व । पृथिवि । मा । नि । बाधथाः । सु-उपायना । अस्मै । भव । सु-उपसर्पणा ॥ माता । पुत्रम् । यथा । सिचा । अभि । एनम् । भूमे । ऊर्णुहि ॥ ५० ॥ (१७)

भाषार्थ—(पृथिवि) हे पृथिवी तू (उत् श्वञ्चस्व) फूल जा [फूल के समान खिल जा], (मानि बाधथाः) मत दबी जा; (अस्मै) इस [पुरुष] के लिये (सूपायना) अच्छे प्रकार पाने योग्य और (सूपसर्पणा) भले प्रकार चलने

४९—(उप) पूजायाम् (सर्प) गच्छ। प्राप्नुहि (मातरम्) मातृतुल्याम् (भूमिम्) आधारभूताम् (एताम्) दृश्यमानाम् (उरुव्यचसम्) बहुव्याप्तिकाम् (पृथिवीम्) (सुशेवाम्) बहुसुखकरीम् (ऊर्णम्रदाः) गतिकारकोप० । उ० ४ । २२७ । ऊर्ण+म्रद क्षोदे-असि । ऊर्णवन्मृदुला (पृथिवी) भूमिः (दक्षिणावते) प्रतिष्ठायुक्ताय मनुष्याय (एषा) (त्वा) (पातु) रक्षतु (पुरस्तात्) अग्रतः ॥

५० —(उच्छ्वञ्चस्व) श्वचि गतौ—लोट् । उदेहि । पुलकिता भव (पृथिवि) (मा नि बाधथाः) संपीडिता मा भूः (सूपायना) सु + उप + अयना । सुखेन प्राप्तव्या (अस्मै) (भव) (सूपसर्पणा) सु + उप + सर्पणा । सुखेन

योग्य (भव) हो। (यथा) जैसे (माता) माता (पुत्रम्) पुत्र को (सिचा) अपने आंचल से, [वैसे] (भूमे) हे भूमि ! (एनम्) इस [पुरुष] को [अपने रत्नों से] (अभि) सब ओर से (ऊर्णुहि) ढक ले ॥ ५० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विज्ञान पूर्वक पृथिवी के पदार्थों और गुणों का प्रकाश करते हैं, वे अनेक रत्नों को पाकर ऐसे सुखी होते हैं जैसे माता से रक्षित बालक आनन्द पाता है ॥ ५० ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध आ चुका है—अथ० १८ । २ । ५० ॥

उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम् । ते गृहासो घृतश्चुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र ॥ ५१ ॥

उत्-श्वञ्चमाना । पृथिवी । सु । तिष्ठतु । सहस्रम् । मितः। उप । हि । श्रयन्ताम् ॥ ते । गृहासः । घृत-श्चुतः । स्योनाः । विश्वाहा । अस्मै । शरणाः । सन्तु । अत्र ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—(उच्छ्वञ्चमाना) फूलती हुयी (पृथिवी) पृथिवी (सु) अच्छे प्रकार (तिष्ठतु) ठहरी रहे, (सहस्रम्) सहस्र प्रकार से (मितः) फैले हुये स्थान [दुर्ग आदि] (हि) अवश्य (उप श्रयन्ताम्) आश्रय लेवें । (ते) यह (गृहासः) घर (घृतश्चुतः) घी से सींचने वाले, (स्योनाः) सुख करने हारे और (शरणाः) शरण देने वाले (विश्वाहा) सब दिन (अत्र) यहां पर (अस्मै) इस पुरुष के लिये (सन्तु) होवें ॥ ५१ ॥

गन्तव्या (माता) जननी (पुत्रम्) सन्तानम् (यथा) (सिचा) चेलाञ्चलेन (अभि) सर्वतः (एनम्) जिज्ञासुम् (भूमे) हे पृथिवि (ऊर्णुहि) आच्छादय स्वरत्नैः ॥

५१—(उच्छ्वञ्चमाना) म० ५० । पुलकितावयवा (पृथिवी) (सु) (तिष्ठतु) (सहस्रम्) सहस्रप्रकारेण (मितः) डु मिञ् प्रक्षेपणे—क्विप्, तुक् । प्रक्षिप्ता विस्तृता दुर्गादिनिवासाः (हि) निश्चयेन (उपश्रयन्ताम्) आश्रिता भवन्तु (ते) दृश्यमानाः (गृहासः) गृहाः (घृतश्चुतः) श्चुतिर् क्षरणे—क्विप् । घृतेन क्षारयितारः । सेक्तारः (स्योनाः) सुखकराः (विश्वाहा) सर्वाण्यहानि (अस्मै) पुरुषाय (शरणाः) शरण—अर्शआद्यच् । आश्रयभूताः (सन्तु) (अत्र) अस्मिंल्लोके ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि पृथिवी को भले प्रकार उपकारी करके अच्छे अच्छे दृढ़ सुखदायक स्थान बनावें ॥ ५१ ॥

उत् ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्। एतां स्थूणां पितरो धारयन्ति ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु ॥ ५२ ॥

उत्। ते। स्तभ्नामि। पृथिवीम्। त्वत्। परि। इमम्। लोगम्। नि-दधत्। मो इति। अहम्। रिषम् ॥ एताम्। स्थूणाम्। पितरः। धारयन्ति। ते। तत्र। यमः। सदना। ते। कृणोतु ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (पृथिवीम्) पृथिवी को (उत्) उत्तमता से (स्तभ्नामि) मैं [गृहस्थ] थांभता हूं, (त्वत् परि) तेरे सब ओर (इमम्) इस (लोगम्) निवास स्थान को (निदधत्) दृढ़ जमाता हुआ (अहम्) मैं (मो रिषम्) कभी न दुःख पाऊं। (एताम्) इस (स्थूणाम्) नीव [घर की मूल] को (पितरः) पितर [रक्षक महात्मा लोग] (ते) तेरे लिये (धारयन्ति) धरते हैं, (तत्र) उस [नीव] पर (यमः) संयमी [शिल्पी जन] (ते) तेरे लिये (सदना) घरों को (कृणोतु) बनावे ॥ ५२ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य भूमि को सुथरी सुडौल बनाकर बड़े लोगों के

५२—(उत्) उत्तमतया (ते) तुभ्यम् (स्तभ्नामि) ष्टभि गतिप्रतिबन्धे—श्ना। धारयामि। स्थापयामि (पृथिवीम्) भूमिम् (त्वत् परि) तव परितः (इमम्) (लोगम्) लुज लुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु—घञ्। चजोः कु घिण्यतोः। पा० ७।३।५२। इति कुत्वं घिति प्रत्यये। निवासस्थानम् (निदधत्) दृढं धारयन् (अहम्) गृहस्थः (मो रिषम्) मैव हिंसितो भूवम् (एताम्) (स्थूणाम्) रास्नासास्नास्थूणावीणाः। उ० ३।१५। ष्ठा गतिनिवृत्तौ—नप्रत्ययः, आकारस्य ऊ इत्यादेशः। तिष्ठति गृहं यस्यां ताम्। गृहमूलम् (पितरः) पालका महात्मानः (धारयन्ति) धरन्ति (ते) तुभ्यम् (तत्र) गृहमूले (यमः) संयमी। शिल्पी (सदना) गृहाणि (ते) तुभ्यम् (कृणोतु) करोतु ॥

हाथों से नींव जमवा कर अच्छे अच्छे शिल्पियों से दृढ़ स्थान बनवावें जिससे रहने वाले सदा सुखी रहें ॥ ५२ ॥

मन्त्राः ५३—६० ॥

अग्निर्देवता ॥ ५३ आर्षी त्रिष्टुप्; ५४ भुरिगार्षी पङ्क्तिः; ५५, ५७ त्रिष्टुप्; ५६ अनुष्टुप् ; ५८ भुरिग् विराट् छन्दः; ५९ भुरिक् त्रिष्टुप्; ६० षट्पदा जगती ॥

गृहरक्षणोपदेशः—घर की रक्षा का उपदेश ॥

इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम् । अयं यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ताम् ॥५३॥

इमम् । अग्ने । चमसम् । मा । वि । जिह्वरः । प्रियः । देवानाम् । उत । सोम्यानाम् ॥ अयम् । यः । चमसः । देव-पानः । तस्मिन् । देवाः । अमृताः । मादयन्ताम् ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (इमम्) इस (चमसम्) खाने योग्य अन्न को (वि) बिगाड़ कर (मा जिह्वरः) मत नष्ट कर, वह [अन्न] (देवानाम्) विद्वानों का (उत) और (सोम्यानाम्) ऐश्वर्य वालों का (प्रियः) प्रिय है। (अयम्) यह (यः) जो (चमसः) अन्न (देवपानः) इन्द्रियों का रक्षक है, (तस्मिन्) उस में (अमृताः) अमर [न मरे हुये पुरुषार्थी] (देवाः) व्यवहार कुशल लोग (मादयन्ताम्) [सब को] तृप्त करें ॥ ५३ ॥

भावार्थ—मनुष्य शुद्ध अन्न आदि पदार्थ के सेवन से विद्वान् और ऐश्वर्यवान् होकर शरीर रक्षा करके सब को सुखी रक्खें ॥ ५३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १६ । ८ ॥

५३—(इमम्) उपस्थितम् (चमसम्) अत्यविचमि० । उ० ३ । ११७ । चमु अदने—असच् । भक्षणीयं पदार्थम् (वि) विकृत्य (मा जिह्वरः) ह्वृ कौटिल्ये—णिचि चङि लुङि रूपम् । कुटिलं नष्टं मा कार्षीः (प्रियः) प्रीतिकरः (देवानाम्) विदुषाम् (उत) अपि च (सोम्यानाम्) ऐश्वर्ययोग्यानाम् (अयम्) (यः) (चमसः) भक्षणीयपदार्थः (देवपानः) पा रक्षणे-ल्युट् । इन्द्रियरक्षणः (तस्मिन्) पदार्थे (देवाः) व्यवहारकुशलाः (अमृताः) अमराः । पुरुषार्थवन्तः (मादयन्ताम्) तर्पयन्तु सर्वान् ॥

अथर्वा पूर्णं चमसं यमिन्द्रायाबिभर्वाजिनीवते । तस्मिन् कृणोति सुकृतस्य भक्षं तस्मिन्निन्दुः पवते विश्वदानीम् ॥५४॥

अथर्वा । पूर्णम् । चमसम् । यम् । इन्द्राय । अबिभः । वाजिनी-वते ॥ तस्मिन् । कृणोति । सु-कृतस्य । भक्षम् । तस्मिन् । इन्दुः । पवते । विश्व-दानीम् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—(अथर्वा) निश्चल परमात्मा ने (यम्) जिसे (पूर्णम्) पूरे (चमसम्) अन्न को (वाजिनीवते) विज्ञान युक्त क्रिया वाले (इन्द्राय) बड़े ऐश्वर्यवान् पुरुष के लिये (अबिभः) भरा है। (तस्मिन्) उस [अन्न] में (इन्दुः) ऐश्वर्यवान् पुरुष (सुकृतस्य) सुकर्म का (भक्षम्) सेवन [वा भोग] (कृणोति) करता है, और (तस्मिन्) उसी [अन्न] में वह (विश्वदा· नीम्) समस्त दानों की क्रिया को (पवते) शुद्ध करता है ॥ ५४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने संसार को अन्न आदि सुखदायक पदार्थों से भर दिया है, मनुष्य पुरुषार्थ से धर्म के साथ उन्हें प्राप्त कर के सब को सुख देवें ॥ ५४ ॥

यत् ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः। अग्निष्टद् विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश ॥५५

यत् । ते । कृष्णः । शकुनः । आ-तुतोद । पिपीलः । सर्पः ।

५४—(अथर्वा) अ० ४ । १ । ७ । थर्वतिश्चरतिकर्मा—निरु० ११ । १८ । स्नामदिपद्यर्ति० । उ० ४ । ११३ । अ+थर्व चरणे—वनिप् , वलोपः । निश्चलः परमेश्वर. (पूर्णम्) पर्याप्तम् (चमसम्) म० ५३ । भक्षणीयपदार्थम् (यम्) (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते पुरुषाय (अबिभः) बिभर्तेर्लङि प्रथमैक-वचनम् । भृतवान् (वाजिनीवते) विज्ञानवतीक्रियायुक्ताय (तस्मिन्) चमसे (कृणोति) करोति (सुकृतस्य) पुण्यकर्मणः । धर्मस्य (भक्षम्) वृतॄवदिवचि० । उ० ३ । ६२ । भज सेवायाम्—सप्रत्ययः । सेवनम् । भोगम् (तस्मिन्) (इन्दुः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (पवते) शोधयति (विश्वदानीम्) अ० ७ । ७३ । ११ । विश्वानि सर्वाणि दानानि यस्यां तां क्रियाम् ॥

उत । वा । श्वापदः ॥ अग्निः । तत् । विश्व-अत् । अगदम् । कृणोतु । सोमः । च । यः । ब्राह्मणान् । आ-विवेश ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यत्) जो कुछ (ते) तेरा [अङ्ग] (कृष्णः) काले (शकुनः) पक्षी [काक आदि], (पिपीलः) चीउंटा, (सर्पः) सर्प, (उत वा) अथवा (श्वापदः) कुत्ते समान पांव वाले, जङ्गली पशु [व्याघ्र शृगाल आदि] ने (आतुतोद) घायल कर दिया है, (तत्) उस [घायल अङ्ग] को (विश्वात्) सर्वरोगभक्षक (अग्निः) आग (अगदम्) नीरोग (कृणोतु) करे, (च) और (यः) जिस (सोमः) ऐश्वर्य [प्रभाव] ने (ब्राह्मणान्) बड़े विद्वानों में (आविवेश) प्रवेश किया है, [वह भी उसे नीरोग करे] ॥ ५५ ॥

भावार्थ—यदि विषैला पक्षी, पशु सर्प, कीट आदि काट खावे, तो मनुष्य थोड़े विषैले के काटे को आग से सेक दें और बड़े विषैले के काटे को आग से जलावें तथा और विद्वान् वैद्यों से भी औषध करावें, यह गृहस्थों को जानना चाहिये ॥ ५५ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १६ । ६ ॥

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं पयः ।
अपां पयसो यत् पयस्तेन मा सह शुम्भतु ॥ ५६ ॥

पयस्वतीः । ओषधयः । पयस्वत् । मामकम् । पयः ॥
अपाम् । पयसः । यत् । पयः । तेन । मा । सह । शुम्भतु ॥५६

भाषार्थ—(ओषधयः) ओषधियां [अन्न सोम लता आदि] (पयस्वतीः)

५५—(यत्) अङ्गम् (ते) तव (कृष्णः) कृष्णवर्णः (शकुनः) पक्षी काकादिः (आतुतोद) तुद व्यथने । सर्वतो व्यथितं व्याकुलं कृतवान् (पिपीलः) अपि + पील रोधने—अच् । विषदंष्ट्रः पिपीलकादिः (सर्पः) भुजङ्गः (उत वा) अथवा (श्वापदः) शुनः पादानीव पादानि यस्य सः । व्याघ्रशृगालादिहिंस्रपशुः (अग्निः) भौतिकोऽग्निः (तत्) व्यथितमङ्गम् (विश्वात्) सर्वरोगभक्षकः (अगदम्) नीरोगम् (कृणोतु) करोतु (सोमः) ऐश्वर्यम् । प्रभावः (यः) (ब्राह्मणान्) विदुषः पुरुषान् (आविवेश) सम्यक् प्रविष्टवान् ॥

५६—(पयस्वतीः) रपेरत एच्च । उ० ४ । १९० । पा पाने—असुन्

सार वाली [होवें], (मामकम्) मेरा (पयः) ज्ञान (पयस्वत्) सार वाला [होवे]। और (अपाम्) जलों के (पयसः) सार का (यत्) जो (पयः) सार है, (तेन सह) उस के साथ (मा) मुझे (शुम्भतु) वह [विद्वान्] शोभायमान करे ॥ ५६ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य विचार पूर्वक सारयुक्त ओषधियों का सेवन शुद्ध उत्तम जल के साथ करके शरीर को पुष्ट करें ॥ ५६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद स ऋग्वेद में है—१० । १७ । १४ । इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध का मिलान करो—अ० ३ । २४ । १ ॥

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् । अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥५७॥

इमाः। नारीः। अविधवाः। सु-पत्नीः। आ-अञ्जनेन । सर्पिषा । सम् । स्पृशन्ताम् ॥ अनश्रवः । अनमीवाः । सु-रत्नाः । आ । रोहन्तु । जनयः । योनिम् । अग्रे ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—(इमाः) यह [विदुषी] (नारीः) नारियां (अविधवाः) सधवा [मनुष्यों वाली] और (सुपत्नीः) धार्मिक पतियों वाली होकर (आञ्जनेन) यथावत् मेल से और (सर्पिषा) घी आदि [सारपदार्थ] से (सं स्पृशन्ताम्) संयुक्त रहें । (अनश्रवः) बिना आंसुओं वाली, (अनमीवाः) बिना रोगों वाली, (सुरत्नाः) सुन्दर सुन्दर रत्नों वाली (जनयः) मातायें (अग्रे) आगे आगे (योनिम्) मिलने के स्थान [घर, सभा आदि] में (आ रोहन्तु) चढ़ें ॥ ५७ ॥

भावार्थ—जो विदुषी स्त्रियां ब्रह्मचर्य आदि शुभ गुण वाली होती हैं, वे अपने विद्वान् सुयोग्य कुटुम्बियों पतियों और पुत्र आदि के साथ शरीर और

मतुप्, ङीप् धातोरीत्वम् । सारवत्यः (ओषधयः) अन्नसोमलतादयः (पयस्वत्) सारयुक्तम् (मामकम्) मदीयम् (पयः) पय गतौ—असुन् । ज्ञानम् (अपाम्) जलानाम् (पयसः) सारस्य (यत्) (पयः) सारः (तेन) पयसा (मा) माम् (सह) (शुम्भतु) शोभनं करोतु ॥

५७—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० १२ । २ । ३१ ॥

आत्मा से स्वस्थ रहकर बहुत धनवती और सुखवती होकर अग्रगामिनी बनती हैं ॥ ५७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-१० । १८ । ७ । और ऊपर आचुका है-अ० १२ । २ । ३१ ॥

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।
हित्वावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥ ५८ ॥

सम् । गच्छस्व । पितृ-भिः । सम् । यमेन । इष्टापूर्तेन । परमे । वि-ओमन् ॥ हित्वा । अवद्यम् । पुनः । अस्तम् । आ । इहि । सम् । गच्छताम् । तन्वा । सु-वर्चाः ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यमेन सम्) नियम [ब्रह्मचर्य आदि व्रत] के साथ (इष्टापूर्तेन) यज्ञ, वेदाध्ययन तथा अन्नदान आदि पुण्य कर्म से (परमे) सब से ऊंचे (व्योमन्) विशेष रक्षा पद में [वर्तमान] (पितृभिः) पितरों [पालक महात्माओं] से (सं गच्छस्व) तू मिल । (अवद्यम्) निन्दित कर्म [अज्ञान] को (हित्वा) छोड़कर (पुनः) फिर (अस्तम्) घर (आ इहि) तू आ और (सुवर्चाः) बड़ा तेजस्वी होकर (तन्वा) उपकार शक्ति के साथ (सं गच्छताम्) आप मिलें ॥ ५८ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्य आदि तप के साथ बड़े विद्वान् महाशयों से विद्या प्राप्त करके गृहाश्रम में प्रवेश कर प्रतापी होवें ॥ ५८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १४ । ८ । और इस का चौथा पाद ऊपर आचुका है-अ० १८ ।२ । १० तथा ऋग्वेद पाठ महर्षि दयानन्द कृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

५८—(सं गच्छस्व) संगतो भव (पितृभिः) पालकैर्महात्मभिः (सम्) सह (यमेन) नियमेन । ब्रह्मचर्यादिव्रतेन (इष्टापूर्तेन) अ०२ । १२ । ४ । यज्ञ-वेदाध्ययनान्नदानादिकर्मणा (परमे) सर्वोत्कृष्टे (व्योमन्) अ० १ १७ । ६ । वि + अव रक्षणे—मनिन् । विशेषरक्षापदे (हित्वा) त्यक्त्वा (अवद्यम्) निन्द्यम् अज्ञानम् (पुनः) अज्ञानत्यागानन्तरम् (अस्तम्) गृहम् (एहि) आगच्छ (संगच्छताम्) संगतो भवतु भवान् (तन्वा) उपकारशक्त्या (सुवर्चाः) महा-

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्व१न्तरिक्षम्। तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ ५९ ॥

ये। नः। पितुः। पितरः। ये। पितामहाः। ये। आ-विविशुः। उरु। अन्तरिक्षम् ॥ तेभ्यः। स्व-राट्। असु-नीतिः। नः। अद्य। यथा-वशम्। तन्वः। कल्पयाति ॥ ५९ ॥

भाषार्थ—(ये) जो पुरुष (नः) हमारे (पितुः) पिता के (पितरः) पिता के समान हैं, और (ये) जो [उस के] (पितामहाः) दादे के तुल्य हैं, और (ये) जो (उरु) चौड़े (अन्तरिक्षम्) आकाश में [विद्याबल से विमान आदि द्वारा] (आविविशुः) प्रविष्ट हुये हैं, (तेभ्यः) उन [पितरों] के लिये (स्वराट्) स्वयं राजा (असुनीतिः) प्राण दाता परमेश्वर (नः) हमारे (तन्वः) शरीरों को (अद्य) अब (यथावशम्) [हमारी] कामना के अनुकूल (कल्पयाति) समर्थ करे ॥ ५९ ॥

भावार्थ—जो पितर लोग विद्या के भंडार परोपकारी होवें, सब मनुष्य परमेश्वर की प्रार्थना द्वारा विद्या आदि शुभ गुण प्राप्त कर के उन महात्माओं के उद्देश्य पूरे करने में समर्थ होवें ॥ ५९ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १५ । १४ तथा यजुर्वेद में—१९ । ६० और पूर्वार्द्ध ऊपर आया है—अ० १८ । २ । ४९ ॥

शं ते नीहारो भवतु शं ते प्रुष्वाव शीयताम्।
शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति।
मण्डूक्य१प्सु शं भुव इमं स्व१ग्निं शमय ॥ ६० ॥ (१८)

शम्। ते। नीहारः। भवतु। शम्। ते। प्रुष्वा। अव।

५९—पूर्वार्द्धो व्याख्यातः—अ० १८। २। ४९। (तेभ्यः) पितृभ्यः (स्वराट्) स्वयमेव राजा शासकः (असुनीतिः) असूनां प्राणानां नेता प्रापकः परमेश्वरः (नः) अस्माकम् (अद्य) इदानीम् (यथावशम्) यथाकामम् (तन्वः) शरीराणि (कल्पयाति) कल्पयेत्। समर्थयेत् ॥

शीयताम् ॥ शीतिके । शीतिका-वति । ह्लादिके । ह्लादिका-वति ॥ मण्डूकी । अप्-सु । शम् । भुवः । इमम् । सु । अग्निम् । शमय ॥ ६० ॥ (१८)

भाषार्थ—(ते) तेरे लिये (नीहारः) कुहरा (शम्) शान्तिदायक (भवतु) होवे, (ते) तेरे लिये (प्रुष्वा) वृष्टि (शम्) शान्ति से (अवशीयताम्) नीचे गिरे । (शीतिके) हे शीतल स्वभाव वाली (शीतिकावति) हे शीतल क्रियाओं वाली (ह्लादिके) हे आनन्द देने वाली (ह्लादिकावति) हे आनन्द युक्त क्रियाओं वाली ! [प्रजा अर्थात् प्रत्येक स्त्री पुरुष] (अप्सु) जल में (मण्डूकी) मेंडुकी [के समान] तू (शम्) शान्त (भुवः) हो, और (इमम्) इस (अग्निम्) आग [महासन्ताप] को (सु) अच्छे प्रकार (शमय) शान्त कर ॥ ६० ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष कुहरे, वृष्टि आदि का सहन कर के और जल में मेंडुकी के समान शान्त स्वभाव और प्रसन्न चित्त रहकर सन्ताप अर्थात् विघ्नों का नाश करें ॥ ६० ॥

इस मन्त्र का भाग (शीतिके......शमय) कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १६ । १४ ॥

मन्त्राः ६१—६४ ॥

विवस्वान् यमो वा देवता ॥ ६१ त्रिष्टुप् ; ६२ आर्षी त्रिष्टुप् ; ६३ निचृत्

६०—(शम्) सुखकरः (ते) तुभ्यम् (नीहारः) घनीभूतशिशिरम् (भवतु) (शम्) शान्तिप्रदः (ते) (प्रुष्वा) शीङ्क्रुशिरुहि० । उ० ४ । ११४ । प्रुष स्नेहनसेवनपूरणेषु—क्वनिप् । वृष्टिपातः (अवशीयताम्) शीङ् स्वप्ने—भावे लोट् । अधो वर्तताम् । अधः पततु (शीतिके) स्वार्थे कन् , टाप् । उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः । पा० ७ । ३ । ४६ । अत इत्त्वम् । हे शीतलस्वभावे प्रजे (शीतिकावति) हे शीतलक्रियायुक्ते (ह्लादिके) ह्लादी सुखे—ण्वुल् । प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः । पा० ७ । ३ । ४४ । अत इत्त्वम् । हे सुखकारिणि (ह्लादिकावति) हे सुखवतीक्रियायुक्ते (मण्डूकी) मण्डूकस्त्री यथा (अप्सु) जलेषु (शम्) शान्ता (भुवः) लेटि रूपम् । भवेः (इमम्) (सु) सुष्ठु (अग्निम्) सन्तापम् । विघ्नम् (शमय) शान्तं कुरु ॥

त्रिष्टुप् ; ६४ भुरिक् पथ्या पङ्क्तिः ॥

अभयप्राप्त्युपदेशः—अभय पाने का उपदेश ॥

विवस्वान् नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् ॥६१॥

विवस्वान् । नः । अभयम् । कृणोतु । यः । सु-त्रामा । जीर-दानुः । सु-दानुः ॥ इह । इमे । वीराः । बहवः । भवन्तु । गो-मत् । अश्व-वत् । मयि । अस्तु । पुष्टम् ॥ ६१ ॥

भाषार्थ—(विवस्वान्) प्रकाशमय परमेश्वर (नः) हमारे लिये (अभयम्) अभय (कृणोतु) करे, (यः) जो [परमात्मा] (सुत्रामा) बड़ा रक्षक (जीरदानुः) वेग का देने वाला, (सुदानुः) बड़ा उदार है (इह) यहां पर (इमे) यह सब (वीराः) वीर लोग (बहवः) बहुत (भवन्तु) होवें, (गोमत्) उत्तम गौओं से युक्त और (अश्ववत्) उत्तम घोड़ों से युक्त (पुष्टम्) पोषण (मयि) मुझ में (अस्तु) होवे ॥ ६१ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा का आश्रय लेकर प्रयत्नशाली वेगवान् और उदार होकर संसार में शान्ति करें और सब लोगों को वीर बनाकर समृद्ध होवें ॥ ६१ ॥

यह मन्त्र महर्षिदयानन्दकृत संस्कारविधि जात कर्म प्रकरण में उद्धृत है और इस का तीसरा पाद ऊपर आया है—अ० १२ । २ । २१ ॥

विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु ।
इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मो ष्वेषामसवो यमं गुः ।६२।

६१—(विवस्वान्) प्रकाशमयः परमेश्वरः (नः) अस्मभ्यम् (अभयम्) भयराहित्यम् (कृणोतु) करोतु (यः) परमेश्वरः (सुत्रामा) सु+त्रैङ् पालने मनिन् । बहुरक्षकः (जीरदानुः) अ० ७ । १८ । २ । जोरी च । उ० २ । २३ । जु गतौ–रक् , ईकारादेशः, जीराः क्षिप्रनाम—निघ० २ । १५, ददातेर्नु । वेगदाता (सुदानुः) महोदारः (इह) अत्र संसारे (इमे) (वीराः) शूराः (बहवः) बहुसंख्याकाः (भवन्तु) (गोमत्) उत्तमगोभिर्युक्तम् (अश्ववत्) श्रेष्ठाश्वोपेतम् (मयि) (अस्तु) (पुष्टम्) पोषणम् । वर्धनम् ॥

विवस्वान् । नः । अमृत-त्वे । दधातु । परा । एतु । मृत्युः । अमृतम् । नः । आ । एतु ॥ इमान् । रक्षतु । पुरुषान् । आ । जरिम्णः । मो इति । सु । एषाम् । असवः । यमम् । गुः ॥६२॥

भाषार्थ—(विवस्वान्) प्रकाशमय परमेश्वर (नः) हमें (अमृतत्वे) अमरपन [यश] के बीच (दधातु) रक्खे, (मृत्युः) [निर्धनता आदि दुःख] (परा) दूर (एतु) जावे, (अमृतम्) अमरण [धनाढ्यता] (नः) हम में (आ एतु) आवे। वह [परमेश्वर] (इमान्) इन (पुरुषान्) पुरुषों को (जरिम्णः) जीवन की हानि से (आ) सब प्रकार (रक्षतु) बचावे, (एषाम्) इन के (असवः) प्राण (यमम्) मृत्यु को (सु) कष्ट के साथ (मो गुः) कभी न जावें ॥ ६२ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी लोग परमात्मा के नियम से कभी भूखे प्यासे नहीं रहते, वे धनवान् होकर अपना जीवन सुख से बिताते हैं ॥ ६२ ॥

यो दध्रे अन्तरिक्षे न मह्ना पितृणां कविः प्रमतिर्मतीनाम् । तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥६३॥

यः । दध्रे । अन्तरिक्षे । न । मह्ना । पितृणाम् । कविः । प्र-मतिः । मतीनाम् ॥ तम् । अर्चत । विश्व-मित्राः । हविः-भिः । सः । नः । यमः । प्र-तरम् । जीवसे । धात् ॥ ६३ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस [परमात्मा] ने (पितृणाम्) पितरों [पालक-

६२—(विवस्वान्) प्रकाशमयः परमात्मा (नः) अस्मान् (अमृतत्वे) अमरत्वे । यशसि (दधातु) धारयतु (परा) दूरे (एतु) गच्छतु (मृत्युः) मरणम् । निर्धनतादिदुःखम् (अमृतम्) अमरणम् । धनाढ्यत्वम् (नः) अस्मान् (ऐतु) आगच्छतु (इमान्) उपस्थितान् (रक्षतु) पातु (पुरुषान्) (आ) समन्तात् (जरिम्णः) जरा-इमनिच् । वयोहानेः सकाशात् (मो गुः) इण् गतौ, माङि लुङि रूपम् । मैव गच्छन्तु (सु) कृच्छ्रेण । कष्टेन (एषाम्) पुरुषाणाम् (असवः) प्राणाः (यमम्) मृत्युम् ॥

६३—(यः) परमात्मा (दध्रे) धृञ् धारणे-लिट् । धृतवान् (अन्तरिक्षे)

महात्माओं] में (कविः) बुद्धिमान् और (मतीनाम्) बुद्धिमानों में (प्रमतिः) बड़ा बुद्धिमान् होकर (अन्तरिक्षे) आकाश के बीच (न) प्रबन्ध के साथ (मह्ना) अपनी महिमा से [सब लोकों को] (दध्रे) धारण किया है। (तम्) उस [परमात्मा] को (विश्वमित्राः) सब के मित्र होकर तुम (हविर्भिः) आत्मसमर्पणों से (अर्चत) पूजो, (सः) वह (यमः) न्यायकारी परमेश्वर (नः) हमें (प्रतरम्) अधिक उत्तमता से (जीवसे) जीने के लिये (धात्) धारण करे ॥ ६३ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा आकाश के बीच सब लोगों को रचकर आकर्षण आदि नियम में रखता है, सब मनुष्य उस जगदीश्वर की उपासना कर के अपने जीवन को अधिक अधिक उच्च बनाते हैं ॥ ६३ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध आगे है, अ० १८ । ४ । ५४ ॥

आ रो॑हत॒ दिव॑मुत्त॒माम्ऋष॑यो॒ मा बि॑भीतन । सोम॑पाः सोम॑पायिन इ॒दं वः॑ क्रियते ह॒विरग॑न्म॒ ज्योति॑रुत्त॒मम् ॥ ६४ ॥

आ । रो॒ह॒त॒ । दिव॑म् । उ॒त्ऽत॒माम् । ऋष॑यः । मा । बि॒भी॒त॒न॒ ॥ सोम॑ऽपाः । सोम॑ऽपायिनः । इ॒दम् । व॒ः । क्रि॒य॒ते॒ । ह॒विः । अग॑न्म । ज्योतिः॑ । उ॒त्ऽत॒मम् ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (उत्तमाम्) उत्तम (दिवम्) विद्या में (आ रोहत) तुम ऊंचे होओ, (ऋषयः) हे ऋषियो ! [सन्मार्गदर्शको] (मा

आकाशे (न) णह बन्धने—ड । सुपां सुलुक्० । पा० । ७ । १ । ३६ । इति विभक्ते लुक् । नेन प्रबन्धेन । आकर्षणादिनियमेन (मह्ना) स्वमहिम्ना (पितॄणाम्) पालकमहात्मनां मध्ये (कविः) मेधावी (प्रमतिः) प्रकृष्टबुद्धियुक्तः (मतीनाम्) मतयो मेधाविनाम—निघ० ३ । १५ । मेधाविनां मध्ये (तम्) परमात्मानम् (अर्चत) पूजयत (विश्वमित्राः) सर्वेषां सखायः सन्तः (हविर्भिः) आत्मदानैः (सः) (नः) अस्मान् (यमः) नियामकः परमेश्वरः (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (जीव से) जीवनाय (धात्) दध्यात् । धारयेत् ॥

६४—(आ रोहत) आरूढा भवत (दिवम्) दिवु गतौ—डिवि । गतिम् । विद्याम् (उत्तमाम्) उत्कृष्टाम् (ऋषयः) सन्मार्गदर्शकाः (मा बिभीतन)

बिभीतन) मत भय करो । तुम (सोमपाः) शान्ति रस पीने वाले और (सोम-पायिनः) शान्ति रस पिलाने वाले हो, (वः) तुम्हारे लिये (इदम्) यह (हविः) देने लेने योग्य कर्म (क्रियते) किया जाता है, (उत्तमम्) सब से उत्तम (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर को (अगन्म) हम सब प्राप्त होवें ॥ ६४ ॥

भावार्थ—जो ऋषि महात्मा उत्तम विद्या प्राप्त कर के शान्तचित्त होकर संसार में शान्ति स्थापित करें, मनुष्य उन से सत्कार पूर्वक शिक्षा ग्रहण करके परमात्मा की आज्ञा पालने में आनन्द पावें ॥ ६४ ॥

इस मन्त्र का अन्तिमपाद (अगन्म ··) यजुर्वेद में है—२० । २१ ॥

मन्त्राः ६५—६७ ॥

अग्निरिन्द्रो वा देवता ॥ ६५, ६६ त्रिष्टुप् ; ६७ पथ्या बृहती ॥
राजकर्त्तव्योपदेशः—राजा के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

प्र केतुना बृहता भात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति ।
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥ ६५ ॥

प्र । केतुना । बृहता । भाति । अग्निः । आ । रोदसी इति । वृषभः । रोरवीति ॥ दिवः । चित् । अन्तात् । उप-माम् । उत् । आनट् । अपाम् । उप-स्थे । महिषः । ववर्ध ॥ ६५ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) अग्नि समान तेजस्वी राजा (बृहता) बड़ी (केतुना) बुद्धि के साथ (प्र भाति) चमकता जाता है, [जैसे] (वृषभः) वृष्टि कराने

घिभेतेर्लोटि तनादेशः । मा विभीत । भयं मा प्राप्नुत (सोमपाः) शान्तिरसस्य पानशीलाः (सोमपायिनः) शान्तिरसस्य पानकारयितारः (इदम्) (वः) युष्मभ्यम् (क्रियते) विधीयते (हविः) दातव्यग्राह्यकर्म (अगन्म) लिङर्थे लुङ् । वयं प्राप्नुयाम (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूपं परमात्मानम् (उत्तमम्) श्रेष्ठम् ॥

६५—(प्र) प्रकर्षेण (केतुना) प्रज्ञया—निघ० ३ । ९ (बृहता) महता

वाला [सूर्य का ताप] (रोदसी) आकाश और पृथिवी में (आ) व्यापकर (रोरवीति) [बिजुली, मेघ, वायु आदि द्वारा] सब ओर से गरजता है । और (दिवः) सूर्य लोक के (चित्) ही (अन्तात्) अन्त से (उपमाम्) [हमारी] निकटता को (उत्) उत्तमता से (आनट्) वह [सूर्य का ताप] व्यापता है, [वैसे ही] (महिषः) वह पूजनीय राजा (अपाम्) प्रजाओं की (उपस्थे) गोद में (ववर्ध) बढ़ता है ॥ ६५ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने ताप द्वारा पृथिवी से जल खींचकर और फिर बरसा कर आनन्द बढ़ाता है, वैसे ही जो प्रतापी राजा प्रजा से कर लेकर प्रजा को सुख देता है, वह प्रजाप्रिय होकर संसार में बढ़ाता है ॥ ६५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८ । १ तथा सामवेद में—पू० १ । ७ । ६ । दूसरा पाद ऋग्वेद में है—६ । ७३ । १ ॥

नाके सुपर्णमुप यत् पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा ।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥६६॥

नाके । सु-पर्णम् । उप । यत् । पतन्तम् । हृदा । वेनन्तः । अभि-अचक्षत । त्वा ॥ हिरण्य-पक्षम् । वरुणस्य । दूतम् । यमस्य । योनौ । शकुनम् । भुरण्युम् ॥ ६६ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (यत्) जैसे (नाके) आकाश में (उप

द्यावापृथिव्यौ (वृषभः)वर्षकः सूर्यतापः (रोरवीति) भृशं रौति । विद्युदादिना भृशं शब्दं करोति (दिवः) सूर्यलोकस्य (चित्) एव (अन्तात्) (उपमाम्) सामीप्यम् (उत) उत्तमतया (आनट्) अशूङ् व्याप्तौ लिटि, पश्त्वे, पशो लुक् छान्दसः, व्रश्चादिना षत्वम् । झलां जशोऽन्ते । पा० ८ । २ । ३९ । इति डकारः । वावसाने । पा० ८ । ४ । ५६ । डस्य टः । आनट्, व्याप्तिकर्मा—निघ० २ । १८ । आनशे । अश्नुते । व्याप्नोति (अपाम्) प्रजानाम् (उपस्थे) उपस्थाने । उत्सङ्गे (महिषः) महान्—निघ० ३ । ३ । पूजनीयो राजा (ववर्ध) लडर्थे लिट् । ववृधे । वर्धते ॥

६६—(नाके) पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । णीञ् प्रापणे-आकप्रत्ययः,

पतन्तम्) उड़ते हुये (सुपर्णम्) सुन्दर पंख वाले [गरुड़ आदि] पक्षी को, [वैसे ही] (हिरण्यपक्षम्) तेज ग्रहण करने वाले, (वरुणस्य) श्रेष्ठ गुण के (दूतम्) पहुंचाने वाले, (यमस्य) न्याय के (योनौ) घर में (शकुनम्) शक्तिमान् और (भुरण्युम्) पालन करने वाले (त्वा) तुझ को (हृदा) हृदय से (वेनन्तः) चाहने वाले पुरुषों ने (अभ्यचक्षत) सब ओर से देखते हैं ॥ ६६ ॥

भावार्थ—जो राजा महाप्रतापी, श्रेष्ठ गुणी, न्यायकारी और प्रजापालक होता है, मनुष्य उस वेगवान् तीव्रबुद्धि को ऐसी प्रीत से देखते हैं, जैसे आकाश में ऊंचे उड़ते हुये गरुड़ आदि को चाव से देखते हैं ॥ ६६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१० । १२३ । ५ और सामवेद में—पू० ४ । ३ । ८ तथा उ० ६ । २ । १३ ॥

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा । शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥ ६७ ॥

इन्द्र । क्रतुम् । नः । आ । भर । पिता । पुत्रेभ्यः । यथा ॥ शिक्ष । नः । अस्मिन् । पुरु-हूत । यामनि । जीवाः । ज्योतिः । अशीमहि ॥ ६७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले राजन् ! तू (नः) हमारे लिये (क्रतुम्) बुद्धि (आ भर) भर दे, (यथा) जैसे (पिता) पिता (पुत्रेभ्यः)

टिलोपः । लोकानां नेतरि आकाशे (सुपर्णम्) शोभनपक्षोपेतं गरुडादिविहङ्गम् (यत) यथा (उप पतन्तम्) उड्डीयमानम् (हृदा) हृदयेन (वेनन्तः) वेनतिः कान्तिकर्मा—निघ० २ । ६ । कामयमानाः (अभ्यचक्षत) सर्वतः पश्यन्ति (त्वा) त्वां राजानम् (हिरण्यपक्षम्) पक्ष परिग्रहे-अच् । तेजसो ग्रहीतारम् (वरुणस्य) श्रेष्ठगुणस्य (दूतम्) दुतनिभ्यां दीर्घश्च । उ० ३ । ९० । दुगतौ—क्त । प्रापकम् (यमस्य) न्यायस्य (योनौ) गृहे (शकुनम्) शकेरुनोन्तोन्त्युनयः । उ० ३ । ४९ । शक्लृ शक्तौ—उनप्रत्ययः । शक्तम् । समर्थम् (भुरण्युम्) यजिमनिशुन्धि० उ० ३ । २० । भुरण धारणपोषणयोः—युच् । भर्तारम् ॥

६७—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (क्रतुम्) प्रज्ञाम् (नः) अस्मभ्यम् (भर) पोषय (पिता) (पुत्रेभ्यः) भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् । पा० १ । २ ।

पुत्रों [सन्तानों] के लिये । (पुरुहूत) हे बहुत प्रकार बुलाये गये [राजन् !] (अस्मिन्) इस (यामनि) समय वा मार्ग में (नः) हमें (शिक्ष) शिक्षा दे, [जिस से] (जीवाः) हम जीव लोग (ज्योतिः) प्रकाश को (अशीमहि) पावें ॥ ६७ ॥

भावार्थ—राजा उत्तम उत्तम विद्यालय, शिल्पालय आदि खोलकर प्रजा का हित करे जैसे पिता सन्तानों का हित करता है, जिस से लोग अज्ञान के अन्धकार से छूट कर ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त होवें ॥ ६७ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—७ । ३२ । २६ और सामवेद में है—पू० ३ । ७ । ७ तथा उ० ६ । ३ । ६ ॥

मन्त्राः ६८—७३ ॥

प्रजापतिर्देवता ॥ ६८, ७०, ७२ अनुष्टुप् ; ६९, ७१ निचृदार्षी बृहती; ७३ त्रिष्टुप् ॥

गृहाश्रमे मनुष्यकर्तव्योपदेशः—गृहाश्रम में मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।

ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ ६८ ॥

अपूप-अपिहितान् । कुम्भान् । यान् । ते । देवाः । अधारयन् ॥

ते । ते । सन्तु । स्वधा-वन्तः । मधु-मन्तः । घृत-श्चुतः ॥ ६८ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यान्) जिन (अपूपापिहितान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों माल पूये पूड़ी आदि] को ढककर रखने वाले (कुम्भान्) पात्रों को (ते) तेरे लिये (देवाः) विद्वानों ने (अधारयन्) रक्खा है । (ते) वे

---

६८ । इत्येकशेषः । पुत्रदुहितृभ्यः । सन्तानेभ्यः (यथा) (शिक्ष) अनुशाधि । शिक्षां कुरु (नः) अस्मान् (पुरुहूत) बहुप्रकारेणाहूत (यामनि) समये मार्गे वा (जीवाः) प्राणिनो वयम् (ज्योतिः) प्रकाशम् (अशीमहि) प्राप्नुयाम ॥

६८—(अपूपापिहितान्) पानीविषिभ्यः पः । उ० ३ । २३ । नञ्+पूयी विशरणे दुर्गन्धे च—पप्रत्ययः, यलोपः । अविशीर्णा अक्षीणा अपूपाः सुसंस्कृतभोजनपदार्था अपिहिता आच्छादिता येषु तान् । सुसंस्कृतभोजनपदार्थपूर्णान् (कुम्भान्) घटान् (यान्) (ते) तुभ्यम् (देवाः) विद्वांसः (अधारयन्)

[भोजन पदार्थ] (ते) तेरे लिये (स्वधावन्तः) आत्मधारण शक्ति वाले, (मधुमन्तः) मधुर गुण वाले और (घृतश्चुतः) घी [सार रस] के सींचने वाले (सन्तु) होवें ॥ ६८ ॥

भावार्थ—गृहस्थों को योग्य है कि विद्वानों के स्थापित नियमों के अनुसार उत्तम भोजनों के सेवन से स्वस्थ रहें ॥ ६८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आगे है—अ० १८। ४। २५ और उत्तरार्ध उसी के मन्त्र म० ४२ में है ॥

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः । तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ ६९ ॥

याः । ते । धानाः । अनु-किरामि । तिल-मिश्राः । स्वधा-वतीः ॥ ताः । ते । सन्तु । वि-भ्वीः । प्र-भ्वीः । ताः । ते । यमः । राजा । अनु । मन्यताम् ॥ ६९ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (याः) जिन (तिलमिश्राः) उद्योग से मिली हुयी, (स्वधावतीः) आत्मधारण शक्ति वाली (धानाः) पोषण क्रियाओं को (अनुकिरामि) मैं अनुकूल रीति से फैलाता हूं । (ताः) वे [पोषण क्रियायें] (ते) तेरे लिये (विभ्वीः) सर्वव्यापिनी और (प्रभ्वीः) प्रभुता वाली (सन्तु) होवें, और (ताः) उन [पोषणक्रियाओं] को (ते) तेरे लिये (यमः) संयमी (राजा) राजा [शासक पुरुष] (अनु) अनुकूल

धारितवन्तः (ते) कुम्भाः (ते) तुभ्यम् (सन्तु) (स्वधावन्तः) आत्मधारण-शक्तियुक्ताः (मधुमन्तः) मधुरगुणोपेताः (घृतश्चुतः) श्चुतिर् क्षरणे-क्विप् । घृतस्य साररसस्य सेचकाः ॥

६९—(याः) (ते) तुभ्यम् (धानाः) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३। ६। डुधाञ् धारणपोषणदानेषु— नप्रत्ययः, टाप् । पोषणक्रियाः (अनुकिरामि) कॄ विक्षेपे । आनुकूल्येन विस्तारयामि (तिलमिश्राः) तिल गतौ स्नेहने च— कप्रत्ययः । तिलेन गत्या प्रयत्नेन मिश्रिताः (स्वधावतीः) स्वधारणशक्तिमतीः (ताः) पोषणक्रियाः (ते) तुभ्यम् (सन्तु) (विभ्वीः) विभ्व्यः । सर्वव्यापिन्यः (प्रभ्वीः) प्रभ्व्यः । प्रभुत्वोपेताः (ताः) (ते) तुभ्यम् (यमः) संयमी

(मन्यताम्) जाने ॥ ६९ ॥

भावार्थ—परमेश्वर कहता है कि मैं मनुष्य को अनेक विचित्र प्रभाव शाली क्रियायें सर्वत्र लगातार देता हूं, उन को आत्मशासक संयमी पुरुष ज्ञान पूर्वक प्राप्त करे ॥ ६९ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आगे है—अ० १८ । ४ । २६ तथा ४३ ॥

पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि ।
यथा यमस्य सादन आसातै विदथा वदन् ॥ ७० ॥

पुनः । देहि । वनस्पते । यः । एषः । नि-हितः । त्वयि ॥
यथा । यमस्य । सदने । आसातै । विदथा । वदन् ॥ ७० ॥

भाषार्थ—(वनस्पते) हे सेवकों के रक्षक [परमात्मन् !] [वह श्रेष्ठ गुण] (पुनः) निश्चय कर के (देहि) दे, (यः एषः) जो यह [श्रेष्ठ गुण] (त्वयि) तुझ में (निहितः) दृढ़ रक्खा है। (यथा) जिस से यह [जीव] (यमस्य) न्याय के (सदने) घर में (विदथा) ज्ञानों को (वदन्) बताता हुआ (आसातै) बैठे ॥ ७० ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के सर्वव्यापक उत्तम गुणों को अवश्य प्रयत्न से प्राप्त करके न्याय के साथ संसार में उपकार करे ॥ ७० ॥

आ रभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते ।
शरीरमस्य सं दहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके ॥ ७१ ॥

आ । रभस्व । जात-वेदः । तेजस्वत् । हरः । अस्तु । ते ॥ शरीरम् । अस्य । सम् । दह । अथ । एनम् । धेहि । सु-कृताम् ।

पुरुषः (राजा) शासकः । जीवात्मा (अनु) अनुकूलम् (मन्यताम्) जानातु ॥

७०—(पुनः) अवधारणे (देहि) प्रयच्छ श्रेष्ठगुणम् (वनस्पते) वन सेवने—अच् । हे वनानां सेवकानां पालक परमेश्वर (यः) श्रेष्ठगुणः (एषः) (निहितः) दृढं धृतः (त्वयि) (यथा) येन प्रकारेण (यमस्य) न्यायस्य (सदने) गृहे (आसातै) लेटि रूपम् । आसीत् । उपविशेत् (विदथा) ज्ञानानि (वदन्) कथयन् । उपदिशन् ।

ऊं इति । लोके ॥ ७१ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे बड़े ज्ञानों वाले जीव ! [धर्म को] (आ रभस्व) आरम्भ कर, (ते) तेरा (हरः) ग्रहण सामर्थ्य (तेजस्वत्) तेज वाला (अस्तु) होवे । (अस्य) इस [प्राणी] के (शरीरम्) शरीर को [ब्रह्मचर्य आदि तप से] (सम्) यथावत् (दह) तपा, (अथ) फिर (एनम्) इस [प्राणी] को (सुकृताम्) सुकर्मियों के (लोके) समाज में (उ) अवश्य (धेहि) रख ॥ ७१॥

भावार्थ—जो मनुष्य धर्म को आरम्भ कर के अपना बल पराक्रम बढ़ाते हैं; और अपने शरीर को ब्रह्मचर्य आदि तप से संयम में रखते हैं वेही पुण्यात्माओं में प्रतिष्ठा पाते हैं ॥ ७१ ॥

ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती ॥ ७२ ॥

ये । ते । पूर्वे । परा-गताः । अपरे । पितरः । च । ये ॥ तेभ्यः । घृतस्य । कुल्या । एतु । शत-धारा । वि-उन्दती ॥ ७२ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ये) जो (ते) तेरे (पूर्वे) प्राचीन (च) और (ये) जो (अपरे) अर्वाचीन (पितरः) पितर [पालक महात्मा] (परागताः) प्रधानता से चले हैं । (तेभ्यः) उन के लिये (घृतस्य) जल की (कुल्या) कुल्या [कृत्रिम नाली] (शतधारा) सैकड़ों धाराओं वाली, (व्युन्दती)

७१—(आ रभस्व) उपक्रमस्व धर्मम् (जातवेदः) जातानि प्रसिद्धानि वेदांसि ज्ञातानि यस्य तत्सम्बुद्धौ (तेजस्वत्) प्रकाशयुक्तम् (हरः) हरतेरसुन् । ग्रहणसामर्थ्यम् । बलम् (अस्तु) (ते) तव (शरीरम्) (अस्य) प्राणिनः (सम्) सम्यक् (दह) तापय ब्रह्मचर्यादितपसा (अथ) अनन्तरम् (एनम्) प्राणिनम् (धेहि) स्थापय (सुकृताम्) पुण्यकर्मणाम् (उ) अवश्यम् (लोके) समाजे ॥

७२—(ये) (ते) तव (पूर्वे) प्राचीनाः (परागताः) प्राधान्येन गताः (अपरे) पश्चाद्भाविनः । अर्वाचीनाः (पितरः) पालका महात्मानः (च) (ये) (तेभ्यः) पितॄणां हिताय (घृतस्य) उदकस्य—निघ० १ । १२ (कुल्या) कुल—यत्, यद्वा कुल बन्धे संहतौ च—क्यप्, टाप्, कृत्रिमाल्पा नदी (शत

उमड़ती हुयी (एतु) चले ॥ ७२ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्वज और वर्तमान महात्माओं से गुण ग्रहण करके संसार को अनेक प्रकार आनन्द देवें, जैसे कि किसान लोग जल की नालियां बना खेतों को सींच कर अन्न की वृद्धि से सुख पहुंचाते हैं ॥ ७२ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से आगे है—अ० १८ । ४ । ५७ ॥

एतदा रोह वयं उन्मृजानः स्वा इह बृहदु दीदयन्ते । अभि प्रेहि मध्यतो मापं हास्थाःपितृणां लोकं प्रथमो यो अत्र॥७३(१८

एतत् । आ । रोह । वयः । उत्-मृजानः । स्वाः । इह । बृहत् । ऊं इति । दीदयन्ते ॥ अभि । प्र । इहि । मध्यतः । मा । अपं । हास्थाः । पितृणाम् । लोकम् । प्रथमः । यः । अत्रं ॥ ७३ ॥ (१८)

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (एतत्) इस (वयः) जीवन को (उन्मृजानः) शुद्ध करता हुआ तू (आ रोह) ऊंचा चढ़, (ते) तेरे (स्वाः) बान्धव लोग (इह) यहां पर (बृहत्) बहुत (हि) ही (दीदयन्ते) प्रकाशमान हैं। तू (अभि) सब ओर (प्र) आगे को (इहि) चल, (मध्यतः) बीच से (पितृणाम्) पितरों के (लोकम्) उस समाज को (अप) बिलगा कर (मा हास्थाः) मत जा, (यः) जो [समाज] (अत्र) यहां पर (प्रथमः) मुख्य है ॥ ७३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने यशस्वी बान्धवों के समान अपना जीवन उत्तम

धारा) बहुधाराभिरुपेता (व्युन्दन्ती) विशेषेण आर्द्रीकुर्वती ॥

७३—(एतत्) दृश्यामानम् (आ रोह) आरुह्य प्राप्नुहि (वयः) जीवनम् (उन्मृजानः) परिशोधयन् (स्वाः) ज्ञातयः (इह) अस्मिंल्लोके (बृहत्) यथा भवति तथा । अधिकम् (दीदयन्ते) दीदयतिर्ज्वलतिकर्मा निघ० १ । १६ । दीदयतिर्नैरुक्तो धातुः—पश्यत निरु १० । १६ । दीप्यन्ते (अभि) सर्वतः (प्र) प्रकर्षेण अग्रे(इहि) गच्छ (मध्यतः) मध्यभागात् (अप) अपेत्य वियुज्य (मा हास्थाः) ओहाङ् गतौ—लुङ् । मा गच्छ (पितृणाम्) पालकानाम् ॥ (लोकम्) समाजम् (प्रथमः) मुख्यः(यः) लोकः (अत्र) अस्मिन् संसारे ॥

बनावें, और सब श्रेष्ठ कामों को दृढ़ता से आरम्भ कर के सर्वथा समाप्त कर महापुरुषार्थियों में स्थान पावें ॥ ७२ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः॥

सूक्तम् ४ [मन्त्राः १-८८] ॥

मन्त्राः १—१५ ॥

प्रजापतिरग्निश्च देवते ॥ १, २ भुरिगार्षी त्रिष्टुप्; ३ भुरिगतिजगती; ४, ७ भुरिक् त्रिष्टुप्; ५ स्वराट् त्रिष्टुप्; ६, ६, १३ शक्वरी; ८ भुरिक् शक्वरी; १०, १५ निचृत् त्रिष्टुप्; ११ त्रिष्टुप् १२ निचृन्महाबृहती; १४ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

सन्मार्गगमनोपदेशः—सत्य मार्ग पर चलने का उपदेश ॥

आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि। अवाड्ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके॥१॥

आ। रोहत। जनित्रीम्। जात-वेदसः। पितृ-यानैः। सम्। वः। आ। रोहयामि॥ अवाट्। हव्या। इषितः। हव्य-वाहः। ईजानम्। युक्ताः। सु-कृताम्। धत्त। लोके॥ १॥

भाषार्थ—(जातवेदसः) बड़े ज्ञान वाले तुम (जनित्रीम्) जगत् की जननी [परमात्मा] को (आ) व्याप कर (रोहत) प्रकट होओ, (पितृयाणैः) पितरों [पालक महात्माओं] के मार्गों से (सम्) मिलकर (वः) तुम्हें (आ रोहयामि) मैं [विद्वान्] ऊंचा करता हूं। (इषितः) प्रिय (हव्यवाहः) देने लेने योग्य पदार्थों के पहुंचाने वाले परमेश्वर ने (हव्या) देने लेने योग्य पदार्थ

१—(आ) व्याप्य (रोहत) प्रादुर्भवत (जनित्रीम्) अ० २। १। ३। जन जनने—णिचि तृच्, ङीप्। जनयित्रीम्। जगतो जननीं परमात्मानम् (जातवेदसः) प्रसिद्धज्ञानवन्तो यूयम् (पितृयाणैः) पितॄणां मार्गैः (सम्) संगत्य (वः) युष्मान् (आ रोहयामि) अधिष्ठापयामि (अवाट्) अ० १८। ३। ४२। वहे-लुङि रूपम्। अवाक्षीत्। प्रापितवान् (हव्या) दातव्यग्राह्यवस्तूनि (इषितः)

(अवाट्) पहुंचाये हैं, (ईजानम्) यज्ञ कर चुकने वाले पुरुष को (युक्ताः) मिले हुये तुम (सुकृताम्) सुकर्मियों के (लोके) समाज में (धत्त) रक्खो ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् मनुष्य उपदेश करें कि सब मनुष्य परमात्मा का आश्रय लेकर अपना कर्तव्य करते हुये उच्च पद प्राप्त करें और जो पुरुष अधिक पुरुषार्थी और परोपकारी होवे, सब मिलकर धर्मात्माओं में उसकी प्रतिष्ठा करें ॥ १ ॥

दे॒वा य॒ज्ञमृ॒तवः॑कल्पयन्ति ह॒विः पु॑रो॒डाशं॑ स्रु॒चो य॑ज्ञायु॒धानि॑।
तेभि॑र्याहि प॒थिभि॑र्देव॒यानै॒र्यैरी॑जा॒नाः स्व॒र्गं यन्ति॑ लो॒कम् ॥२॥

दे॒वाः । य॒ज्ञम् । ऋ॒तवः॑ । क॒ल्प॒य॒न्ति॒ । ह॒विः । पु॒रो॒डाश॑म् । स्रु॒चः । य॒ज्ञ॒-आ॒यु॒धानि॑ ॥ तेभिः॑ । या॒हि॒ । प॒थि-भिः॑ । दे॒व॒-यानैः॑ । यैः । ई॒जा॒नाः । स्वः॒-गम् । यन्ति॑ । लो॒कम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) विद्वान् लोग और (ऋतवः) सब ऋतुयें (यज्ञम्) यज्ञ [हवन आदि श्रेष्ठ व्यवहार], (हविः) हवि [होमीय वस्तु], (पुरोडाशम्) पुरोडाश [मोहनभोग आदि], (स्रुचः) स्रुचाओं [हवन के चमचों] और (यज्ञायुधानि) यज्ञ के अस्त्र शस्त्रों [उलूखल मूसल सूप आदि] को (कल्पयन्ति) रचते हैं। [हे मनुष्य !] (तेभिः) उन (देवयानैः) विद्वानों के चलने योग्य (पथिभिः) मार्गों से (याहि) तू चल, (यैः) जिन [मार्गों]

इषु इच्छायाम्—क्त। तीषसहलुभरुषरिषः। पा० ७। २। ४८। इडागमः। इष्टः। प्रियः (हव्यवाहः) हव्य+वह प्रापणे—अण्। दातव्यग्राह्यपदार्थानां प्रापकः परमेश्वरः (ईजानम्) यजेर्लिटः कानच्। इष्टवन्तम्। समाप्तयज्ञं पुरुषम् (युक्ताः) संयुक्ता यूयम् (सुकृताम्) सुकर्मणाम् (धत्त) स्थापयत (लोके) समाजे ॥

२—(देवाः) विद्वांसः (यज्ञम्) यजनीयं व्यवहारम् (ऋतवः) वसन्तादिकालाश्च (कल्पयन्ति) रचयन्ति (हविः) हु दानादानादनेषु—इसि। हवनीयद्रव्यम् (पुरोडाशम्) अ० ६। ६ (१) १२। पुरो अग्रे दाश्यते दीयते। दाशृ दाने—घञ्, दस्य डः। संस्कृतान्नविशेषम् (स्रुचः) चिक् च। उ० २। ६२। स्रु गतौ—चिक् प्रत्ययः। यज्ञचमसान् (यज्ञायुधानि) यज्ञसाधनान्यस्त्रशस्त्रादीनि (तेभिः) तैः (याहि) गच्छ (पथिभिः) मार्गैः (देवयानैः) विद्वद्भिर्गन्तव्यैः

से (ईजानाः) यज्ञ कर चुकने वाले लोग (स्वर्गम्) सुख पहुंचाने वाले (लोकम्) समाज में (यन्ति) पहुंचते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सब ऋतुओं में योग्य सामग्री द्वारा यज्ञ करके श्रेष्ठ कर्म करते रहें और सब से कराते रहें, क्योंकि श्रेष्ठ कर्म समाप्त कर लेने वाले ही आनन्द पद के अधिकारी होते हैं ॥ २ ॥

ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति। तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥ ३ ॥

ऋतस्य । पन्थाम् । अनु । पश्य । साधु । अङ्गिरसः । सु-कृतः । येन । यन्ति ॥ तेभिः । याहि । पथि-भिः । स्वः-गम् । यत्र । आदित्याः । मधु । भक्षयन्ति । तृतीये । नाके । अधि । वि । श्रयस्व ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ऋतस्य) सत्य धर्म के (पन्थाम्) मार्ग को (साधु) साधुपन से [कुशलता से] (अनु) लगातार (पश्य) देख, (येन) जिस [मार्ग] से (अङ्गिरसः) महाविद्वान् (सुकृतः) सुकर्मी लोग (यन्ति) चलते हैं। (तेभिः) उन (पथिभिः) मार्गों से (स्वर्गम्) सुख पहुंचाने वाले पद को (याहि) प्राप्त हो, (यत्र) जिन [मार्गों] में (आदित्याः) अखण्ड व्रतधारी विद्वान् लोग (मधु) ज्ञान रस को (भक्षयन्ति) भोगते हैं,

---

(यैः) पथिभिः (ईजानाः) म० १ । समाप्तयज्ञाः पुरुषाः (स्वर्गम्) सुखप्रापकम् (यन्ति) गच्छन्ति (लोकम्) समाजम् ॥

३—(ऋतस्य) सत्यधर्मस्य (पन्थाम्) मार्गम् (अनु) निरन्तरम् (पश्य) अवलोकय (साधु) यथा भवति तथा । साधुत्वेन कुशलत्वेन (अङ्गिरसः) महाज्ञानिनः (सुकृतः) पुण्यकर्माणः (येन) मार्गेण (यन्ति) गच्छन्ति (तेभिः) तैः (याहि) प्राप्नुहि (पथिभिः) मार्गैः (स्वर्गम्) सुखप्रापकं पदम् (यत्र) येषु मार्गेषु (आदित्याः) अदिति—ण्य । अदितिरखण्डव्रतं येषां ते विद्वांसः (मधु) ज्ञानरसम् (भक्षयन्ति) भुञ्जते । अनुभवन्ति (तृतीये) जीव-

और (तृतीये) तीसरे [दोनों जीव और प्रकृति से भिन्न] (नाके) सुखस्वरूप [वा सब के नायक] परमात्मा में (अधि) अधिकार पूर्वक (वि श्रयस्व) फैलकर विश्राम कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि पुण्यात्मा पुरुषों के वेदोक्त मार्ग पर चलकर जीव प्रकृति और परमात्मा के तत्त्व को जानता हुआ आनन्द को प्राप्त हो ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद (तृतीये...) आ चुका है—अ० ६ । ५ । ८ ॥

त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम् ॥४॥

त्रयः । सु-पर्णाः । उपरस्य । मायू इति । नाकस्य । पृष्ठे । अधि । विष्टपि । श्रिताः ॥ स्वः-गाः । लोकाः । अमृतेन । वि-स्थाः । इषम् । ऊर्जम् । यजमानाय । दुह्राम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(त्रयः) तीन [ब्रह्म जीव और प्रकृति] (सुपर्णाः) सुन्दर पालन वा पूर्ति वाले पदार्थ [अथवा सुन्दर पंख वाले पक्षियों के समान] (उपरस्य) जल के देने वाले मेघ की (मायू) गर्जन में, (नाकस्य) लोकों के चलाने वाले सूर्य के (पृष्ठे) ऊंचे भाग पर और (विष्टपि) विविध प्रकार थांभने वाले आकाश में (अधि) अधिकार पूर्वक (श्रिताः) आश्रित हैं। (अमृ-

---

प्रकृतिभ्यां भिन्ने (नाके) अ० १ । ६ । २ । पिनाकादयश्च । उ० ४ । ५१ । णीञ् प्रापणे-आकप्रत्ययः, टिलोपः । नाक आदित्यो भवति नेता भासां ज्योतिषां प्रणयोऽथ द्यौः कमिति सुखनाम तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्यते—निरु० २ । १४ । सुखस्वरूपे सर्वनायके वा परमात्मनि (अधि) अधिकृत्य (वि) विविधम् (श्रयस्व) आश्रितो भव ॥

४—(त्रयः) त्रिसंख्याकाः । ब्रह्मजीवप्रकृतयः (सुपर्णाः) अ० ६ । ६ । २० । सु—पॄ पालनपूरणयोः—न । शोभनपालनाः शोभनपूर्णाः शोभनपक्षविहगसदृशा वा पदार्थाः (उपरस्य) उप—रा दानादानयोः—क । उपरो मेघनाम—निघ० १ । १० । जलप्रदस्य मेघस्य (मायू) कृवापाजिमि० । उ० १ । १ । माङ् माने शब्दे च—उण्, युगागमः । मायुरिति वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । सुपां

तेन) अमर परमात्मा के साथ (विष्ठाः) विशेष करके ठहरे हुये (स्वर्गाः) सुख पहुंचाने वाले (लोकाः) समाज (इषम्) ज्ञान को और (ऊर्जम्) बल को (यजमानाय) यजमान [श्रेष्ठ कर्म करने वाले] के लिये (दुह्राम्) भरपूर करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—ब्रह्म जीव और प्रकृति यह तीनों सब पदार्थों और सब लोकों में व्याप रहे हैं, मनुष्य सर्वनायक परमात्मा के आश्रय से उनके तत्त्व को जानकर आनन्द पावें ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो (द्वा सुपर्णा सयुजा......) अ० ९ । ९ । २० तथा ऋग्वेद—१ । १६४ । २० ॥

जुहूर्दाधार द्यामुपभृदन्तरिक्षं ध्रुवा दाधार पृथिवीं प्रतिष्ठाम् प्रतीमां लोका घृतपृष्ठाः स्वर्गाः कामंकामं यजमानाय दुह्राम् ५

जुहूः । दाधार । द्याम् । उप-भृत् । अन्तरिक्षम् । ध्रुवा । दाधार । पृथिवीम् । प्रति-स्थाम् ॥ प्रति । इमाम् । लोकाः । घृत-पृष्ठाः । स्वः-गाः । कामम्-कामम् । यजमानाय । दुह्राम् ५

भाषार्थ—(जुहूः) ग्रहण [आकर्षण] करने वाली शक्ति [परमात्मा] ने (द्याम्) प्रकाशमान सूर्य को, (उपभृत्) समीप से धारण करने वाली [उसी]

सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९। सप्तम्याः पूर्वसवर्णदीर्घः। ईदूतौ च सप्तम्यर्थे । पा० १ । १ । १९। इति प्रगृह्यम् । मायौ । शब्दे (नाकस्य) म० ३ । लोकानां नायकस्य सूर्यस्य (पृष्ठे) उपरिभागे (अधि) अधिकृत्य (विष्टपि) अ० १० । १० । ३१। वि—ष्टभि प्रतिबन्धे—क्विप्, भस्य पः । विविधस्तम्भनशीले । आकाशे । (श्रिताः) स्थिताः (स्वर्गाः) सुखप्रापकाः (लोकाः) समाजाः (अमृतेन) अमरेण परमात्मना (विष्ठाः) विशेषेण स्थिताः (इषम्) इष गतौ—क्विप् । इषतीति गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । ज्ञानम् (ऊर्जम्) बलम् (यजमानाय) यज्ञस्यानुष्ठात्रे (दुह्राम्) अ० ३ । २० । ९ । दुह प्रपूरणे तलोपो रुडागमश्च । दुहताम् । प्रपूरयन्तु ॥

५—(जुहूः) हुवः श्लुवच्च । उ० २ । ६० । हु दानादानादनेषु--क्विप् । ग्रहीत्री शक्तिः परमात्मा (द्याम्) प्रकाशमानं सूर्यम् (उपभृत्) सामीप्येन

शक्ति ने (अन्तरिक्षम्) भीतर दिखाई देने वाले आकाश को (दाधार) धारण किया है, और (ध्रुवा) [उसी] निश्चल शक्ति ने (प्रतिष्ठाम्) आश्रय स्थान, (पृथिवीम्) पृथिवी को (दाधार) धारण किया है। (इमाम्) इसी [शक्ति परमात्मा] में (प्रति) व्याप कर (घृतपृष्ठाः) प्रकाश को ऊपर रखने वाले [सुन्दर ज्योति वाले] (स्वर्गाः) सुख पहुंचाने वाले (लोकाः) लोक [समाज वा अधिकार] (कामंकामम्) प्रत्येक कामना को (यजमानाय) यजमान [श्रेष्ठ व्यवहार करने वाले] के लिये (दुह्राम्) भरपूर करें ॥ ५ ॥

भावार्थ--जिस परमात्मा ने सूर्य को अनेक लोकों का आकर्षक, आकाश को सब लोकों का आधार और पृथिवी को प्राणियों का निवास स्थान बनाया है, उस जगदीश्वर के आश्रय में रहकर यह सब लोक पुरुषार्थी धर्मात्मा मनुष्य के लिये बड़े ज्योतिष्मान् होकर शुभ कामनायें पूरी करते हैं ॥ ५ ॥

ध्रुव आ रोह पृथिवीं विश्वभोजसमन्तरिक्षमुपभृदा क्रमस्व । जुहु द्यां गच्छ यजमानेन साकं स्रुवेण वत्सेन दिशः प्रपीनाः सर्वा धुक्ष्वाहृणीयमानः ॥ ६ ॥

ध्रुवे । आ । रोह । पृथिवीम् । विश्व-भोजसम् । अन्तरिक्षम् । उप-भृत् । आ । क्रमस्व ॥ जुहु । द्याम् । गच्छ । यजमानेन । साकम् । स्रुवेण । वत्सेन । दिशः । प्र-पीनाः । सर्वाः । धुक्ष्व । अहृणीयमानः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ध्रुवे) हे निश्चल शक्ति ! [परमात्मा] (विश्वभोजसम्) सब को पालन वाली (पृथिवीम्) पृथिवी में (आ) व्याप कर (रोह) प्रकट

धारयित्री शक्तिः (अन्तरिक्षम्) अन्तर्मध्ये दृश्यमानमाकाशम् (ध्रुवा) ध्रु गतिस्थैर्ययोः—क, टाप् । निश्चला शक्तिः (दाधार) (पृथिवीम्) (प्रतिष्ठाम्) आश्रयभूताम् (इमाम्) शक्तिम् (लोकाः) समाजाः । अधिकाराः (घृतपृष्ठाः) घृ क्षरणदीप्त्योः—क्त । दीप्तोपरिभागाः । सर्वतो ज्योतिष्मन्तः (स्वर्गाः) सुख-प्रापकाः (कामंकामम्) प्रत्येककामनाम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० ॥ ४ ॥

६—(ध्रुवे) म० ५ । हे निश्चलशक्ते । परमात्मन् (आ) व्याप्य (रोह) प्रादुर्भव (पृथिवीम्) (विश्वभोजसम्) सर्वस्य भोजयित्रीं पालयित्रीम् (अन्त-

हो, (उपभृत्) हे समीप से धारण करने वाली शक्ति ! (अन्तरिक्षम्) भीतर दिखाई देने वाले आकाश में (आ) व्यापकर (क्रमस्व) प्राप्त हो । (जुहु) हे ग्रहण [आकर्षण] करने वाली शक्ति ! (यजमानेन साकम्) यजमान [श्रेष्ठ व्यवहार करने वाले] के साथ (द्याम्) प्रकाशमान सूर्य को (गच्छ) प्राप्त हो,

[हे यजमान !] (अहृणीयमानः) संकोच न करता हुआ तू (वत्सेन) बछड़े रूप (स्रुवेण) ज्ञान के साथ (सर्वाः) सब (प्रपीनाः) बढ़ती हुयी (दिशः) दिशाओं को (धुक्ष्व) दुह ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा नीचे ऊंचे और मध्य लोक में व्याप कर धर्मात्मा पुरुष का सदा सहायक है, मनुष्य ज्ञान द्वारा सब दिशाओं से इस प्रकार उपकार लेवे जैसे बछड़े को लगाकर गौ से दूध दुहते हैं ॥ ६ ॥

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति ।
अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त ॥ ७ ॥

तीर्थैः । तरन्ति । प्र-वतः । महीः । इति । यज्ञ-कृतः । सु-कृतः । येन । यन्ति ॥ अत्र । अदधुः । यजमानाय । लोकम् । दिशः । भूतानि । यत् । अकल्पयन्त ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(तीर्थैः) तरने के साधनों [शास्त्रों वा घाटों आदि] द्वारा [मनुष्य] (प्रवतः) बहुत गतियों वाली (महीः) बड़ी [विपत्तियों वा नदियों]

रिक्षम्) मध्ये दृश्यमानमाकाशम् (उपभृत्) हे समीपधारयित्रि शक्ते (आ) (क्रमस्व) प्राप्नुहि (जुहु) म० ५ । हे ग्रहीत्रि शक्ते (द्याम्) प्रकाशमानां सूर्यम् (गच्छ) प्राप्नुहि (यजमानेन) (साकम्) (स्रुवेण) स्रुवः कः । उ० २ । ६१ । स्रु गतौ—क । ज्ञानेन (वत्सेन) गोशिशुरूपेण (दिशः) प्राच्याद्याः (प्रपीनाः) ओ प्यायी वृद्धौ—क्त । प्रवृद्धाः (सर्वाः) (धुक्ष्व) प्रपूरय (अहृणीयमानः) हृणीङ् रोषणे लज्जायां च—शानच् । लज्जां संकोचम् अकुर्वन् ॥

७—(तीर्थैः) पातृतुदिवचि० । उ० २ । ७ । तॄ तरणे—थक् । तरणसाधनैः शास्त्रैर्घट्टादिभिर्वा (तरन्ति) अतिक्रामन्ति (प्रवतः) अ० १८ । १ । ४९ ।

को [उस प्रकार से] (तरन्ति) पार करते हैं, (येन) जिससे (यज्ञकृतः) यज्ञ करने वाले, (सुकृतः) सुकर्मी लोग (यन्ति) चलते हैं—(इति) ऐसा [निश्चय है]। (अत्र) यहां [संसार में] (यजमानाय) यजमान के लिये (लोकम्) स्थान (अदधुः) उन [पुण्यात्माओं] ने दिया है, (यत्) जब कि (दिशः) दिशाओं को (भूतानि) सत्ता वाले प्राणियों ने (अकल्पयन्त) समर्थ बनाया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् धर्मात्माओं के वेद विहित मार्ग पर चल कर विपत्तियों से पार होवें। धर्मात्मा लोग ही संसार में मान्य होते हैं, क्योंकि वे पुरुषार्थी जीव सब दिशाओं को उपकारी बनाते हैं ॥ ७ ॥

अङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः । महिमानमग्नेर्विहितस्य ब्रह्मणा समङ्गः सर्व उप याहि शग्मः ॥ ८ ॥

अङ्गिरसाम् । अयनम् । पूर्वः । अग्निः । आदित्यानाम् । अयनम् । गार्ह-पत्यः । दक्षिणानाम् । अयनम् । दक्षिण-अग्निः ॥ महिमानम् । अग्नेः । वि-हितस्य । ब्रह्मणा । सम्-अङ्गः । सर्वः । उप । याहि । शग्मः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अङ्गिरसाम्) महर्षियों का (अयनम्) मार्ग (पूर्वः) पूर्वीय (अग्निः) अग्नि है, (आदित्यानाम्) [उन्हीं] अखण्ड व्रत वाले ब्रह्मचारियों का (अयनम्) मार्ग (गार्हपत्यः) गृहपति की अग्नि है, (दक्षिणानाम्) [उन्हीं]

प्रकृष्टगतियुक्ताः (महीः) महतीर्विपत्तीर्नदीर्वा (इति) अवधारणे (यज्ञकृतः) यज्ञस्य कर्तारः (सुकृतः) पुण्यकर्माणः (येन) प्रकारेण (यन्ति) गच्छन्ति (अदधुः) दत्तवन्तः (यजमानाय) (लोकम्) स्थानम् (दिशः) प्राच्याद्याः (भूतानि) सत्तावन्तः प्राणिनः (यत्) यदा (अकल्पयन्त) समर्था अकुर्वन्त ॥

८—(अङ्गिरसाम्) महर्षीणाम् (अयनम्) मार्गः (पूर्वः) पूर्वायां दिशि वर्तमानः (अग्निः) होमाग्निः (आदित्यानाम्) अखण्डब्रह्मचारिणाम् (अयनम्) मार्गम् (गार्हपत्यः) गृहपति—ञ्य । गृहिपतिना संयुक्तो यज्ञाग्निः (दक्षिणा—

कार्य कुशलों का (अयनम्) मार्ग (दक्षिणाग्निः) दक्षिण वाली अग्नि है। (ब्रह्मणा) ब्रह्मा [चारों वेद जानने वाले] कर के (विहितस्य) स्थापित (अग्नेः) अग्नि की (महिमानम्) महिमा को (समङ्गः) दृढ़ाङ्ग, (सर्वः) सम्पूर्ण [चित्त वाला] और (शग्मः) शक्तिमान् होकर तू (उप याहि) सर्वथा प्राप्त कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—यज्ञ में ब्रह्मा की स्थापित पूर्वाग्नि, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि को प्रकाशित करने से विद्वान् लोग आत्मिक उन्नति करके सब प्रकार शक्तिमान् होवें ॥ ८ ॥

पूर्वो अ॒ग्निष्ट्वा॑ तपतु॒ शं पु॒रस्ता॒च्छं प॒श्चात् त॑पतु॒ गार्ह॑पत्यः।
द॒क्षि॒णा॒ग्निष्टे॑ तपतु॒ शर्म॒ वर्मो॑त्तर॒तो मध्य॒तो अ॒न्तरि॑क्षाद्
दि॒शोदि॑शो अग्ने॒ परि॑ पाहि घो॒रात् ॥ ९ ॥

पूर्वः। अ॒ग्निः। त्वा॒। त॒प॒तु॒। शम्। पु॒रस्ता॑त्। शम्। प॒श्चात्। त॒प॒तु॒। गार्ह॑-पत्यः॥ द॒क्षि॒ण-अ॒ग्निः। ते॒। त॒प॒तु॒। शर्म॑। वर्म॑। उ॒त्त॒र॒तः। म॒ध्य॒तः। अ॒न्तरि॑क्षात्। दि॒शः-दि॑शः। अग्ने॒। परि॑। पा॒हि॒। घो॒रात् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (पूर्वः) पूर्व वाली (अग्निः) अग्नि (त्वा) तुझे (शम्) आनन्द के साथ (पुरस्तात्) आगे से (तपतु) प्रतापी [ऐश्वर्यवान्] करे, (गार्हपत्यः) गृहपति की अग्नि [तुझे] (शम्)

नाम्) द्रुदक्षिभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च—इनन् । दक्षाणां कार्यकुशलानाम् (दक्षिणाग्निः) दक्षिणदिशि वर्तमानोऽग्निः (महिमानम्) महत्त्वम् (अग्नेः) भौतिकस्य (विहितस्य) यथाविधि स्थापितस्य (ब्रह्मणा) चतुर्वेदज्ञेन (समङ्गः) संहतावयवः । दृढाङ्गः (सर्वः) समस्तः । समाहितचित्तः (उप याहि) सर्वथा प्राप्नुहि (शग्मः) युजिरुचितिजां कुश्च । उ० १ । १४६ । शक्लृ शक्तौ—मक् कस्य गः । शक्तः । समर्थः ॥

९—(पूर्वः) पूर्वदिशि दीप्यमानः (अग्निः) यज्ञाग्निः (त्वा) (तपतु) तप ऐश्वर्ये, अन्तर्गतण्यर्थः । ऐश्वर्यवन्तं प्रतापिनं करोतु (शम्) सुखेन (पुरस्तात्) अग्रतः (शम्) (पश्चात्) (तपतु) (गार्हपत्यः) गृहपतिना

सुख के साथ (पश्चात्) पीछे से (तपतु) प्रतापी करे। (दक्षिणाग्निः) दक्षिणीय अग्नि (ते) तेरे लिये (शर्म) शरण और (वर्म) कवच होकर (तपतु) प्रतापी करे ॥

(अग्ने) हे सर्वव्यापक परमात्मन् ! (उत्तरतः) ऊपर से (मध्यतः) मध्य से, (अन्तरिक्षात्) आकाश से और (दिशोदिशः) प्रत्येक दिशा से [उस उपासक को] (घोरात्) घोर [भयानक कष्ट] से (परि) सर्वथा (पाहि) बचा ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य भौतिक यज्ञ द्वारा आत्मिक यज्ञ सिद्ध करके समर्थ होते हैं, परमात्मा उनकी सर्वथा रक्षा करता है ॥ ६ ॥

यूयमग्ने शंतमाभिस्तनूभिरीजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
अश्वा भूत्वा पृष्टिवाहो वहाथ यत्र देवैः सधमादं मदन्ति १०(२०)

यूयम् । अग्ने । शम्-तमाभिः । तनूभिः । ईजानम् । अभि । लोकम् । स्वः-गम् ॥ अश्वाः । भूत्वा । पृष्टि-वाहः । वहाथ । यत्र । देवैः । सध-मादम् । मदन्ति ॥ १० ॥ (२०)

भाषार्थ—(अग्ने=अग्नयः) हे अग्नियो ! (यूयम्) तुम (पृष्टिवाहः) पीठ पर ले चलने वाले (अश्वाः) घोड़ों के समान (भूत्वा) होकर (शन्तमाभिः) अत्यन्त शान्ति युक्त (तनूभिः) उपकार क्रियाओं से (ईजानम्) यज्ञ कर चुकने वाले पुरुष को (स्वर्गम्) सुख पहुंचाने वाले (लोकम् अभि)

संयुक्तोऽग्निः (ते) तुभ्यम् (शर्म) शरणरूपः सन् (वर्म) कवचरूपः सन् (उत्तरतः) उपरिदेशात् (मध्यतः) मध्यदेशात् (अन्तरिक्षात्) आकाशात् (दिशोदिशः) प्रत्येकदिशः सकाशात् (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमात्मन् (परि) सर्वथा (पाहि) रक्ष (घोरात्) घुर भीमार्थशब्दयोः—अच् । भयानकात् कष्टात् ॥

१०—(यूयम्) (अग्ने) बहुवचनस्यैकवचनम् । हे पूर्वाग्न्यादयः (शंतमाभिः) अत्यन्तसुखयुक्ताभिः (तनूभिः) उपकृतिभिः (ईजानम्) समाप्तयज्ञं पुरुषम् (अभि) प्रति (लोकम्) समाजम् (स्वर्गम्) सुखप्रापकम् (अश्वाः) अश्वा यथा (भूत्वा) (पृष्टिवाहः) पृषु सेचने—क्तिन् । वहश्च ।

समाज में (वहाथ) ले जाओ, (यत्र) जहां पर (देवैः) विद्वानों के साथ (सधमादम्) संगति सुख को (मदन्ति) वे [विद्वान्] भोगते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—पूर्वाग्नि, गार्हपत्याग्नि और दक्षिणाग्नि यज्ञ के द्वारा मनुष्य आत्मिक और शरीरिक दोषों की निवृत्ति से अत्यन्त शान्तचित्त होकर विद्वानों में मिल कर आनन्द भोगें ॥ १० ॥

शमग्ने पश्चात् तप शं पुरस्ताच्छमुत्तराच्छमधरात् तपैनम् ।
एकस्त्रेधा विहितो जातवेदः सम्यगेनं धेहि सुकृतामु लोके ११

शम् । अग्ने । पश्चात् । तप । शम् । पुरस्तात् । शम् । उत्त-रात् । शम् । अधरात् । तप । एनम् ॥ एकः । त्रेधा । वि-हितः । जात-वेदः । सम्यक् । एनम् । धेहि । सु-कृताम् । ऊं इति । लोके ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! (एनम्) इस [विद्वान्] को (शम्) शान्ति के साथ (पश्चात्) पीछे से, (शम्) शान्ति के साथ (पुरस्तात्) सामने से (तप) प्रतापी कर, (शम्) शान्ति के साथ (उत्तरात्) ऊपर से और (शम्) शान्ति के साथ (अधरात्) नीचे से (तप) प्रतापी कर। (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान [अग्नि] (एकः) अकेला होकर (त्रेधा) तीन प्रकार से [पूर्वाग्नि, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि रूप से] (विहितः) स्थापित किया हुआ तू (एनम्) इस [पुरुष] को (सुकृताम्)

पा० ३ । २ । ६४ । पृष्टि+वह प्रापणे—णिव । पृष्ठे वाहकाः (वहाथ) लेटि रूपम् । वहत । गमयत (यत्र) (देवैः) विद्वद्भिः (सधमादम्) संगतिसुखम् (मदन्ति) हर्षयन्ति ॥

११—(शम्) शान्त्या । सुखेन (अग्ने) हे यज्ञाग्ने (पश्चात्) पृष्ठतः (तप) तप ऐश्वर्ये । तापय । प्रतापिनं कुरु (शम्) (पुरस्तात्) अग्रतः (शम्) (उत्तरात्) उपरिदेशात् (शम्) (अधरात्) अधोगतदेशात् (तप) (एनम्) पुरुषम् (एकः) एकसंख्याकः (त्रेधा) त्रिप्रकारेण । पूर्वाग्निगार्हपत्यदक्षिणाग्नि-रूपेण (विहितः) स्थापितः (जातवेदः) विद सत्तायाम्—असुन् । हे जातेषु

सुकर्मियों के (उ) ही (लोके) समाज में (सम्यक्) ठीक रीति से (धेहि) रख ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि हवन आदि यज्ञ द्वारा अपने इन्द्रियों को वश में करके पुण्यात्मा पुरुषों में स्थान पावें ॥ ११ ॥

शमग्नयः समिद्धा आ रभन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन् ॥ १२ ॥

शम् । अग्नयः । सम्-इद्धाः । आ । रभन्ताम् । प्राजा-पत्यम् । मेध्यम् । जात-वेदसः । शृतम् । कृण्वन्तः । इह । मा । अव । चिक्षिपन् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(समिद्धाः) यथाविधि प्रकाशित की हुयी और (जातवेदसः) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान (अग्नयः) अग्नियां (प्राजापत्यम्) प्रजापति परमात्मा को देवता मानने वाले (मेध्यम्) पवित्र पुरुष को (शम्) शान्ति के साथ (आ) सब ओर से (रभन्ताम्) उत्साही करें। और [उस को] (इह) यहां (शृतम्) परिपक्व [दृढ़ स्वभाव] (कृण्वन्तः) करती हुयीं [अग्नियां] (मा अव चिक्षिपन्) कभी न गिरने देवें ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य यज्ञ में पूर्वोक्त पूर्वादि तीनों अग्नियों को यथा—विधि प्रज्वलित करते हैं, वे ब्राह्मण अपने आचरण को शुद्ध कर के पक्के ज्ञानी होकर संसार में नीचे नहीं गिरते ॥ १२ ॥

उत्पन्नेषु विद्यमानाग्ने (सम्यक्) यथा तथा । समीचीनम् (एनम्) यजमानम् (धेहि) धारय (सुकृताम्) पुण्यकर्मणाम् (उ) एव (लोके) समाजे ॥

१२—(शम्) सुखेन (अग्नयः) पूर्वोक्तपूर्वाग्न्यादयः (समिद्धाः) सम्यक् प्रकाशिताः (आ) समन्तात् (रभन्ताम्) रभ राभस्ये, औत्सुक्ये । रभसो महन्नाम—निघ० ३ । ३ । उत्सुकमुत्साहिनं कुर्वन्तु (प्राजापत्यम्) प्रजापतिः परमात्मा देवता यस्य तम् (मेध्यम्) मेधृ मेधाहिंसनयोः—ण्यत् । पवित्रम् (जातवेदसः) उत्पन्नपदार्थेषु विद्यमानाः (शृतम्) परिपक्वम् । दृढस्वभावम् (कृण्वन्तः) कुर्वन्तः (मा अव चिक्षिपन्) अ० १८ । २ । ४ । क्षिपतेर्लो [illegible] । अधः क्षेपणं मा कुर्वन्तु ॥

यज्ञ एति वितत: कल्पमान ईजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
तमग्नय: सर्वहुतं जुषन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदस: ।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन् ॥ १३ ॥

यज्ञ: । एति । वि-तत: । कल्पमान: । ईजानम् । अभि । लोकम् । स्व:-गम् ॥ तम् । अग्नय: । सर्व-हुतम् । जुषन्ताम् । प्राजा-पत्यम् । मेध्यम् । जात-वेदस: ॥ शृतम् । कृण्वन्त: । इह । मा । अव । चिक्षिपन् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(वितत:) फैला हुआ (यज्ञ:) यज्ञ (कल्पमान:) समर्थ होकर (ईजानम्) यज्ञ कर चुकने वाले पुरुष को (स्वर्गम्) सुख पहुंचाने वाले (लोकम् अभि) समाज में (एति) पहुंचाता है। (जातवेदस:) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान (अग्नय:) अग्नियां (तम्) उस (सर्वहुतम्) पूर्ण आहुति दे चुकने वाले, (प्राजापत्यम्) प्रजापति परमात्मा को देवता मानने वाले, (मेध्यम्) पवित्र पुरुष को (जुषन्ताम्) सन्तुष्ट करें। और [उस को] (इह) यहां (शृतम्) परिपक्व [दृढ़ स्वभाव] (कृण्वन्त:) करती हुयीं [अग्नियां] (मा अव चिक्षिपन्) कभी न गिरने दें ॥ १३ ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त अग्नियों में हवन करके पूर्ण आहुति से यज्ञ अर्थात् ब्रह्मयज्ञ; देवयज्ञ, पितृयज्ञ; भूतयज्ञ और नृयज्ञ, इन पांच महायज्ञों को समाप्त करने वाला पुरुष परमात्मा की भक्ति करता हुआ अनेक आनन्दों से ऊंचा होता जाता है ॥ १३ ॥

१३—(यज्ञ:) यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु—नङ् । इज्यते हविर्दीयतेऽत्र । ब्रह्मयज्ञदेवयज्ञपितृयज्ञभूतयज्ञनृयज्ञानां समुदाय: (एति) अन्तर्गतण्यर्थ: । गमयति (वितत:) विस्तृत: (कल्पमान:) समर्थ: सन् (ईजानम्) समाप्तयज्ञं पुरुषम् (अभि) प्रति (लोकम्) समाजम् (स्वर्गम्) सुखप्रापकम् (तम्) (अग्नय:) पूर्वाग्न्यादय:—म० ६ (सर्वहुतम्) सर्वं हुतं यज्ञे हविर्दत्तं येन तं कृतपूर्णाहुतिकम् (जुषन्ताम्) जुषी प्रीतिसेवनयो: । प्रीणन्तु । तर्पयन्तु ।

ई॒जा॒नश्चि॒तमारु॑क्षद॒ग्निं नाक॑स्य पृ॒ष्ठाद् दिव॑मुत्पति॒ष्यन् ।
तस्मै॒ प्र भा॑ति॒ नभ॑सो॒ ज्योति॑षीमान्त्स्व॒र्गः पन्थाः॑ सु॒कृते॑ दे॒व॒यानः॑ ॥ १४ ॥

ई॒जा॒नः । चि॒तम् । आ । अ॒रु॒क्ष॒त् । अ॒ग्निम् । नाक॑स्य । पृ॒ष्ठात् । दिव॑म् । उ॒त्-प॒ति॒ष्यन् ॥ तस्मै॑ । प्र । भा॒ति॒ । नभ॑सः । ज्योति॑षी-मान् । स्वः॒-गः । पन्थाः॑ । सु॒-कृते॑ । दे॒व॒-यानः॑ ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(ईजानः) यज्ञ कर चुकने वाले पुरुष ने (नाकस्य) अत्यन्त सुख के (पृष्ठात्) ऊपरी स्थान से (दिवम्) प्रकाशस्वरूप परमात्मा की ओर (उत्पतिष्यन्) चढ़ने की इच्छा करके, (चितम्) चुनी हुयी (अग्निम्) अग्नि को (आ) सब ओर (अरुक्षत्) प्रकट किया है । (तस्मै) उस (सुकृते) सुकृती पुरुष के लिये (नभसः) आकाश से [खुले स्थान से] (ज्योतिषीमान्) ज्योतिष्मती बुद्धि वाला (स्वर्गः) सुख पहुंचाने वाला, (देवयानः) विद्वानों के चलने योग्य (पन्थाः) मार्ग (प्र भाति) चमकता जाता है ॥ १४ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य अत्यन्त सुख से परमात्मा की प्राप्ति में ऊंचा होकर अपना कर्तव्यरूप यज्ञ पूरा कर चुकता है, उसकी बुद्धि ऐसी चमकती है जैसे सूर्य खुले निर्मल आकाश में ॥ १४ ॥

अ॒ग्निर्होता॑ध्व॒र्युष्टे॒ बृह॒स्पति॒रिन्द्रो॑ ब्र॒ह्मा द॑क्षिण॒तस्ते॑ अस्तु ।
हु॒तोऽयं संस्थि॑तो य॒ज्ञ एति॒ यत्र॒ पूर्व॒मय॑नं हु॒ताना॑म् ॥ १५ ॥

१४—(ईजानः) समाप्तयज्ञः पुरुषः (चितम्) हवनपदार्थैः संचितम् (आ) समन्तात् (अरुक्षत्) प्रादुष्कृतवान् (अग्निम्) यज्ञाग्निम् (नाकस्य) अतिसुखस्य (पृष्ठात्) उपरिदेशात् (दिवम्) प्रकाशस्वरूपं परमात्मानम् (उत्पतिष्यन्) उत्पतितुमूर्ध्वं गन्तुमिच्छन् सन् (तस्मै) (प्र) प्रकर्षेण (भाति) दीप्यते (नभसः) निर्मलाकाशादित्यर्थः (ज्योतिषीमान्) ज्योतिष्—अर्शआद्यच्, ङीप् , मतुप् । ज्योतिष्मती बुद्धिर्यस्मिन् सः (स्वर्गः) सुखप्रापकः (पन्थाः) मार्गः (सुकृते) [illegible]कर्मणे पुरुषाय (देवयानः) विद्वद्भिर्गमनयोग्यः ॥

अग्निः । होता । अध्वर्युः । ते । बृहस्पतिः । इन्द्रः । ब्रह्मा । दक्षिणतः । ते । अस्तु ॥ हुतः । अयम् । सम्-स्थितः । यज्ञः । एति । यत्र । पूर्वम् । अयनम् । हुतानाम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—[हे यजमान !] (ते) तेरे लिये (अग्निः) [एक] विद्वान् पुरुष (होता) होता [मन्त्रों से आहुति देने वाला], (बृहस्पतिः) [एक] बृहस्पति [विद्वानों का पालन कर्ता] (अध्वर्युः) अध्वर्यु [यज्ञ कराने वाला] (इन्द्रः) [एक] परम ऐश्वर्यवान् महाविद्वान् (ब्रह्मा) ब्रह्मा [चारों वेद जानने वाला यज्ञनिरीक्षक पुरुष] (ते) तेरी (दक्षिणतः) दाहिनी ओर में (अस्तु) होवे । (अयम्) यह (हुतः) आहुति दिया गया और (संस्थितः) पूरा किया गया (यज्ञः) यज्ञ (एति) [वहां] जाता है, (यत्र) जहां (हुतानाम्) आहुति दिये हुये [यज्ञों] का (पूर्वम्) मुख्य (अयनम्) जाना होता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—विद्वान् यजमान वेदवेत्ता विद्वानों को होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि ऋत्विज अधिकारी बना कर प्राचीन महात्माओं की रीति से यज्ञ को यथावधि समाप्त और सुफल करे ॥ १५ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो ऋग्वेद-१० । ७१ । ११ से, जो यहां लिखा जाता है और जिसकी व्याख्या भगवान् यास्कमुनि ने-निरु० १ । ८ में की है ॥

१५—(अग्निः) विद्वान् पुरुषः (होता) आहुतिदाता (अध्वर्युः) मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ । अध्वर+या प्रापणे-कु, अकारलोपः । यद्वा, अध्वर-क्यच् कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः । पा० ७ । ४ । ३९ । इत्यन्त्यलोपः । क्याच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । उप्रत्ययः । अध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्त्यध्वरस्य नेताऽध्वरं कामयत इति वा । अपि वाधीयाने युरुपबन्धः—निरु० १ । ८ । याजकः (ते) तुभ्यम् (बृहस्पतिः) बृहतां विदुषां पालकः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् । महाविद्वान् (ब्रह्मा) ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति । ब्रह्मा परिवृढः श्रुततो ब्रह्म परिवृढं सर्वतः-निरु० १ । ८ । चतुर्वेदज्ञः (दक्षिणतः) अवामभागे (ते) तव (अस्तु) (हुतः) आहुत्या निष्पादितः (अयम्) (संस्थितः) समापितः (यज्ञः) (एति) गच्छति (यत्र) (पूर्वम्) मुख्यम् (अयनम्) गमनम् (हुतानाम्) आहुत्या निष्पादितानां यज्ञानाम् ॥

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥

(त्वः) एक [होता] (ऋचाम्) ऋचाओं के (पोषम्) विधान की (पुपुष्वान्) पुष्टि करता हुआ (आस्ते) बैठता है, (त्वः) एक [उद्गाता] (गायत्रम्) गाने योग्य [स्तोत्र) को (शाक्वरीषु) शक्तिवाली ऋचाओं में (गायति) गाता है । (त्वः) एक (ब्रह्मा) ब्रह्मा [सब विद्यायें जानने वाला] (जातविद्याम्) होते हुये कर्म में विद्या (वदति) बताता है, (त्वः) एक [अध्वर्यु] (यज्ञस्य) यज्ञ के (मात्राम्) परिमाण को (उ) ही (वि) विविध प्रकार (मिमीते) बनाता है ॥

मन्त्राः १६—२७ ॥

यज्ञो देवता ॥ १ —२४ भुरिगार्षी बृहती ; २५ अनुष्टुप् ; २६ निचृदार्ची बृहती , २७ याजुषी गायत्री ॥

यजमानकर्तव्योपदेशः—यजमान के कर्तव्य का उपदेश ॥

अपूपवान् क्षीरवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १६ ॥

अपूप-वान् । क्षीर-वान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (क्षीरवान्) दूध वाला (चरुः) चरु [स्थालीपाक] (इह) यहां [वेदी पर] (आ सीदतु) आवे । (लोककृतः) समाजों के करने वाले, (पथिकृतः) मार्गों के बनाने वाले [तुम लोगों] को (यजामहे) हम पूजते

१६—(अपूपवान्) पानीविशिभ्यः पः । उ० ३ । २३ । नञ् + पूयी विशरणे दुर्गन्धे च—पप्रत्ययः, यलोपः । सुसंस्कृतभोजनपदार्थयुक्तः (क्षीरवान्) दुग्धवान् (चरुः) भृमृशीङ्तॄचरि० । उ० १ । ७ । चर गतिभक्षणयोः-उप्रत्ययः । चरुर्मृच्चयो भवति चरतेर्वा समुच्चरन्त्यस्मादापः—निरु० ६ । ११ ।

हैं, (ये) जो तुम (देवानाम्) विद्वानों के बीच (हुतभागाः) भाग लेने वाले (इह) यहां पर (स्थ) हो ॥ १६ ॥

भावार्थ—यजमान को योग्य है कि विद्वानों को सत्कार पूर्वक बुलाकर शुद्ध, सुगन्धित, पुष्टिकारक मोहन भोग मालपूये आदि पदार्थों के स्थालीपाक से यज्ञ करे ॥ १६ ॥

इस मन्त्र का उत्तर भाग आ चुका है–अ० १८ । ३ । २५—२९ ॥

अपूपवान् दधिवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १७ ॥

अपूप-वान् । दधि-वान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (दधिवान्) पुष्टि कारक पदार्थों वाला (चरुः) चरु...... [मन्त्र १६] ॥ १७ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ १७ ॥

अपूपवान् द्रप्सवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १८ ॥

अपूप-वान् । द्रप्स-वान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ १८ ॥

चरुर्मेघनाम—निघ० १ । १० । यज्ञपाकः (इह) अत्र वेद्याम् (आ सीदतु) आ गच्छतु । तिष्ठतु । अन्यत् पूर्ववत्—अ० १८ । ३ । २५ ॥

१७—(दधिवान्) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । डु धाञ् धारणपोषणयोः—किन्प्रत्ययः । पोषकपदार्थयुक्तः । अन्यत् पूर्ववत्–म० १६ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (द्रप्सवान्) हर्षकारक द्रव्यों वाला (चरुः) चरु......[मन्त्र १६] ॥ १८ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ १८ ॥

अपूपवान् घृतवाँश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १९ ॥

अपूप-वान् । घृत-वान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (घृतवान्) घृत वाला (चरुः) चरु......[मन्त्र १६] ॥ १९ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ १९ ॥

अपूपवान् मांसवाँश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २० ॥ (२१)

अपूप-वान् । मांस-वान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ २० ॥ (२१)

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (मांसवान्) मननसाधक पदार्थों वाला [अर्थात् बुद्धिवर्धक जैसे मीठे फल बादाम, अखोट आदि वस्तुओं वाला] (चरुः) चरु ..... [मन्त्र १६] ॥ २० ॥

१८—(द्रप्सवान्) अ० १८ । १ । २१ । हर्षकारकद्रव्ययुक्तः । अन्यत्-पूर्ववत्—म० १६ ॥

१९—(घृतवान्) आज्येन युक्तः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १६ ॥

२०—(मांसवान्) अ० ९ । ६ (३) ९ । मनेर्दीर्घश्च । उ० ३ । ६४ । मन ज्ञाने-सप्रत्ययो दीर्घश्च । मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन्त्सीदतीति वा-निरु० ४ । ३ । मननसाधकेन बुद्धिवर्धकवस्तुना युक्तः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १६ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ २० ॥

अपूपवानन्नवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २१ ॥

अपूप-वान् । अन्न-वान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (अन्नवान्) अन्न [जौ, चावल, गेहूं, उरद आदि] वाला (चरुः) चरु ...... (मन्त्र १६]॥ २१ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ २१ ॥

अपूपवान् मधुमांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २२ ॥

अपूप-वान् । मधु-मान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (मधुमान्) मधु [मक्खियों का रस] वाला (चरुः) चरु ..... [मन्त्र १६] ॥ २२ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ २२ ॥

अपूपवान् रसवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजा-

२१—(अन्नवान्) अदनीयपदार्थयुक्तः । यवव्रीहिगोधूममाषादियुक्तः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १६ ॥

२२—(मधुमान्) माक्षिकरसयुक्तः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १६ ॥

महे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २३ ॥

अपूप-वान् । रस-वान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (रसवान्) रस वाले [वीर्यवर्धक शर्करा आदि] पदार्थों वाला (चरुः) चरु······[मन्त्र १६] ॥ २३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ २३ ॥

अपूपवानपवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २४ ॥

अपूप-वान् । अपवान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (अपवान्) शुद्ध जल वाला (चरुः) चरु······[मन्त्र १६] ॥२४॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ २४ ॥

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ २५ ॥

अपूप-अपिहितान् । कुम्भान् । यान् । ते । देवाः । अधारयन् ॥ ते । ते । सन्तु । स्वधा-वन्तः । मधु-मन्तः । घृत-श्चुतः ॥२५॥

२३—(रसवान्) वीर्यवर्धकशर्करादिपदार्थयुक्तः । अन्यत् पूर्ववत्-म०१६॥

२४—(अपवान्) आप्लृ व्याप्तौ—घञ् । आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा । उ० ४ । २०८ । इति निर्देशेन ह्रस्वः । अपस्वान् । शुद्धजलयुक्तः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १६ ॥

भाषार्थ–[हे मनुष्य !] (यान्) जिन (अपूपापिहितान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] को ढककर रखने वाले (कुम्भान्) पात्रों को (ते) तेरे लिये (देवाः) विद्वानों ने (अधारयन्) रक्खा है । (ते) वे [भोजन पदार्थ) (ते) तेरे लिये (स्वधावन्तः) आत्मधारण शक्ति वाले, (मधुमन्तः) मधुर गुण वाले और (घृतश्चुतः) घी [सार रस] के सींचने वाले (सन्तु) होवें ॥ २५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि सुन्दर पौष्टिक पदार्थों से यज्ञ करें, जिससे वायु मण्डल शुद्ध होने पर उत्तम बलदायक अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न होवें ॥ २५ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० १८ । ३ । ६८ ॥

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ २६ ॥

याः । ते । धानाः । अनु-किरामि । तिल-मिश्राः । स्वधा-वतीः ॥ ताः । ते । सन्तु । उत्-भ्वीः । प्र-भ्वीः । ताः । ते । यमः । राजा । अनु । मन्यताम् ॥ २६ ॥

अक्षितिं भूयसीम् ॥ २७ ॥ अक्षितिम् । भूयसीम् ॥ २७ ॥

भाषार्थ—[हे यजमान !] (ते) तेरे लिये (याः) जिन (तिलमिश्राः) तिलों से मिली हुयी, (स्वधावतीः) उत्तम अन्न वाली (धानाः) धानाओं [सुसंस्कृत पौष्टिक पदार्थों] को (अनुकिरामि) [अग्नि में] मैं [ऋत्विज] अनुकूल रीति से फैलाता हूं । (ताः) वे [सब सामग्री] (ते) तेरे लिये (उद्भ्वीः) उदय कराने वाली और (प्रभ्वी) प्रभुता वाली (सन्तु) होवें, और (ताः) उन [सामग्रियों] को (ते) तेरे लिये (यमः) संयमी (राजा) राजा [शासक अर्थात् याजक पुरुष] (अनु) अनुकूल (मन्यताम्) जाने

२५—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० १८ । ३ । ६८ ॥

२६—(याः) (ते) तुभ्यम् (धानाः) दधातेर्नप्रत्ययः, टाप् । सुसंस्कृत-पौष्टिकपदार्थान् (अनुकिरामि) आनुकूल्येन क्षिपामि प्रसारयामि (तिलमिश्राः) तिलैर्मिश्रिताः (स्वधावतीः) उत्तमान्नयुक्ताः (ताः) (सन्तु) (उद्भ्वीः)

॥ २६ ॥ [और वह उनको] (भूयसीम्) अधिकतर (अक्षितिम्) क्षय रहित क्रिया [निरन्तर जाने] ॥ २७ ॥

भावार्थ—यज्ञ कराने वाला पुरुष यथाविधि संशोधित तिल, जौ, चावल आदि जिन सामग्रियों से हवन करता है, उस के द्वारा वायुमण्डल की शुद्धि से संसार का उपकार और यजमान का अधिक पुण्य होता है—२६, २७ ॥

यह मन्त्र आगे है—अ० १८ । ४ । ४३ और कुछ भेद से आ चुका है—अ० १८ । ३ । ६६ ॥

मन्त्रौ २८, २९ ॥

ईश्वरो देवता ॥ २८ त्रिष्टुप् ; २९ निचृज्जगती ॥

ब्रह्मोपासनोपदेशः—ब्रह्म की उपासना का उपदेश ॥

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः । समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥२८॥

द्रप्सः । चस्कन्द । पृथिवीम् । अनु । द्याम् । इमम् । च । योनिम् । अनु । यः । च । पूर्वः ॥ समानम् । योनिम् अनु । सम्-चरन्तम् । द्रप्सम् । जुहोमि । अनु । सप्त । होत्राः ॥२८

भाषार्थ—(द्रप्सः) हर्षकारक परमात्मा (पृथिवीम्) पृथिवी और (द्याम् अनु) प्रकाश में (च) और (इमम्) इस (योनिम् अनु) घर [शरीर] में (च) और [उस शरीर में भी] (चस्कन्द) व्यापक है (यः) जो [शरीर] (पूर्वः) पहिला है । (समानम्) समान [सर्वसाधारण] (योनिम् अनु)

उद्भूभ्यः । उदयं भावयितृभ्यः । अन्यत् पूर्ववत्—अ० १८ । ३ । ६६ ॥

२७—(अक्षितिम्) क्षयरहितां क्रियाम् (भूयसीम्) अधिकतराम् ॥

२८—(द्रप्सः) अ० १८ । १ । २१ । दृप् हर्षमोहनयोः । हर्षकारी परमात्मा (चस्कन्द) स्कन्दिर् गतिशोषणयोः लिट् । स्कन्दति । गच्छति । व्याप्नोति (पृथिवीम्) (अनु) प्रति (द्याम्) प्रकाशम् (इमम्) दृश्यमानम् (च) (योनिम्) गृहम् । शरीरम् (अनु) प्रति (यः) योनिः । शरीरम् (च) (पूर्वः) पूर्वमुत्पन्नः (समानम्) तुल्यम् । सर्वसाधारणम् (योनिम्) कारणम्

कारण में (संचरन्तम्) विचरते हुये (द्रप्सम्) हर्षकारक परमात्मा को (सप्त) सात [मस्तक के सात गोलक] (होत्राः अनु) विषय ग्रहण करने वाली शक्तियों के साथ (जुहोमि) मैं ग्रहण करता हूं ॥ २८ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर अन्धकार और प्रकाश में, हमारे वर्तमान और पूर्व शरीर में और प्रत्येक सर्व साधारण कारण में व्यापक है, सब मनुष्य योगाभ्यास से इन्द्रियों को वश में करके उस जगदीश्वर की भक्ति करें ॥ २८ ॥

अथर्ववेद कांड १० । २ । ६ में आया है—"कर्ता [परमेश्वर] ने [मनुष्य के] मस्तक में सात गोलक खोदे, यह दोनों कान, दोनों नथने, दोनों आंखें और एक मुख । जिन के विजय की महिमा में चौपाये और दोपाये जीव अनेक प्रकार से मार्ग चलते हैं" ॥

यह मन्त्र अभेद से यजुर्वेद में है—१३ । ५, और कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १७ । ११ ॥

श॒तधा॑रं वा॒युम॒र्कं स्व॒र्विदं॑ नृ॒चक्ष॑सस्ते अ॒भि च॑क्षते र॒यिम् । ये पृ॒णन्ति॒ प्र च॒ यच्छ॑न्ति सर्व॒दा ते दु॑ह्रते॒ दक्षि॑णां स॒प्तमा॑तरम्॥२९॥

श॒त-धा॑रम् । वा॒युम् । अ॒र्कम् । स्वः॒-विद॑म् । नृ॒-चक्ष॑सः । ते । अ॒भि । च॒क्ष॒ते॒ । र॒यिम् ॥ ये । पृ॒णन्ति॑ । प्र । च॒ । यच्छ॑न्ति । स॒र्व॒दा । ते । दु॒ह्र॒ते॒ । दक्षि॑णाम् । स॒प्त-मा॑तरम् ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(ते) वे (नृचक्षसः) मनुष्यों के देखने वाले पुरुष (रयिम् अभि) धन को सब ओर से पाकर (शतधारम्) सैकड़ों प्रकार से धारण करने वाले (वायुम्) सर्वव्यापक, (अर्कम्) पूजनीय, (स्वर्विदम्) सुख

(अनु) प्रति (संचरन्तम्) विचरन्तम् (द्रप्सम्) हर्षकारकं परमात्मानम् (जुहोमि) आदत्ते । गृह्णामि (अनु) अनुसृत्य (होत्राः) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६८ । हु दानादानादनेषु–त्रन् , टाप् । होत्रा वाङ्नाम–निघ० १ । ११ । शीर्षण्यच्छिद्ररूपा विषयग्रहीत्रीः शक्तीः ॥

२९—(शतधारम्) बहुप्रकारेण धारकम् (वायुम्) सर्वव्यापकम् (अर्कम्) अर्चनीयम् (स्वर्विदम्) सुखस्य लम्भकं परमात्मानम् (नृचक्षसः) मनुष्याणां द्रष्टारः (ते) प्रसिद्धाः (अभि) अभिगत्य । सर्वतः प्राप्य (चक्षते) पश्यन्ति

पहुंचाने वाले परमेश्वर को (चक्षते) देखते हैं। (ये) जो पुरुष (सर्वदा) सर्वदा (पृणन्ति) [धन को] भरते हैं (च) और (प्र यच्छन्ति) [सुपात्रों को] देते हैं, (ते) वे लोग (सप्तमातरम्) सात [मन्त्र २८, मस्तक के सात गोलकों] द्वारा बनी हुयी (दक्षिणाम्) प्रतिष्ठा को (दुह्रते) दुहते हैं [पाते हैं] ॥ २९ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी परोपकारी पुरुष परमात्मा के दिये धन को प्रत्येक स्थान में प्राप्त करके सुपात्रों को देकर यशस्वी होवें, क्योंकि जो पुरुष जितेन्द्रिय होकर धन बढ़ाते और सुपात्रों को देते हैं, वे ही संसार में प्रतिष्ठा पाते हैं॥ २९ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है–१० । १०७ । ४ ॥

मन्त्राः ३०—४० ॥

धेनुर्देवता ३० । ३६ त्रिष्टुप् ; ३१, ३८, अनुष्टुप् ; ३२ निचृदनुष्टुप् ; ३३ भुरिगार्षी बृहती ; ३४ त्रिष्टुप् ; ३५ निचृदार्षी त्रिष्टुप् ; ३७, निचृत् त्रिष्टुप् ; ३९ आर्षी पङ्क्तिः; ४० भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

गोरक्षोपदेशः—गोरक्षा का उपदेश ॥

कोशं दुहन्ति कलशं चतुर्बिलमिडां धेनुं मधुमतीं स्वस्तये ।
ऊर्जं मदन्तीमदितिं जनेष्वग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥३०॥(२२)

कोशम् । दुहन्ति । कलशम् । चतुः-बिलम् । इडाम् । धेनुम् । मधु-मतीम् । स्वस्तये ॥ ऊर्जम् । मदन्तीम् । अदितिम् । जनेषु । अग्ने । मा । हिंसीः । परमे । वि-ओमन् ॥३०॥(२२)

भाषार्थ—(कोशम्) भण्डार तुल्य, (चतुर्बिलम्) चार छेद [स्तन] वाले (कलशम्) कलश [गौ के लेवा] को (इडाम्) स्तुति योग्य, (मधुमतीम्)

(रयिम्) धनम् (ये) पुरुषार्थिनः (पृणन्ति) पॄ पालनपूरणयोः । पूरयन्ति (च) (प्रयच्छन्ति) ददति सुपात्रेभ्यः (सर्वदा) (ते) पुरुषाः (दुह्रते) रुडागमः । दुहते । प्राप्नुवन्ति (दक्षिणाम्) वृद्धिक्रियाम् । प्रतिष्ठाम् । सत्क्रियाम् (सप्तमातरम्) म० २८ । सप्तसंख्याकानि शीर्षण्यच्छिद्राणि मातॄणि निर्मातॄणि मातृभूतानि वा यस्यास्तां तथाभूताम् ॥

३०—(कोशम्) रत्नसुवर्णादिसंचयस्थानं यथा (दुहन्ति) दुहिर्द्विकर्मकः । प्रपूरयन्ति (कलशम्) कुम्भसदृशं पयोधरम् (चतुर्बिलम्) चतुश्छिद्र-

मधुर रस [मीठे दूध] वाली (धेनुम्) दुधैल गौ से (स्वस्तये) आनन्द के लिये (दुहन्ति) [मनुष्य] दुहते हैं। (अग्ने) हे ज्ञानी राजन्! (परमे) सर्वोत्कृष्ट (व्योमन्) सर्वत्र व्यापक परमात्मा में [वर्तमान तू] (जनेषु) मनुष्यों के बीच (ऊर्जम्) बलदायक रस (मदन्तीम्) बढ़ाती हुयी (अदितिम्) अदीन [और अखण्डनीय] गौ को (मा हिंसीः) मत मार ॥ ३० ॥

भावार्थ—राजा ऐसा प्रबन्ध करे कि गौ आदि पशु जो दूध घी आदि उत्तम पदार्थ देने में दीन नहीं होते और उनके बच्चे बैल आदि जो खेती आदि में उपकार करते हैं जिस से प्रजा की रक्षा होती है, उन सब को कोई मनुष्य कभी न सतावे और न मारे ॥ ३० ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से यजुर्वेद में है—१३। ४९, और पूर्वार्ध के लिये मन्त्र ३६ आगे देखो ॥

एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे ।
तत् त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥ ३१ ॥

एतत् । ते । देवः । सविता । वासः । ददाति । भर्तवे ॥
तत् । त्वम् । यमस्य । राज्ये । वसानः । तार्प्यम् । चर ॥३१॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (देवः) व्यवहार कुशल

द्रम्। चतुःस्तनम् (इडाम्) अ० ३। १०। ६। ईड स्तुतौ-घञ्। ईकारस्य ह्रस्वः, टाप्। इला गोनाम -निघ० २। ११। ईड्याम्। स्तुत्याम् (धेनुम्) अ० ३। १०। १। धेट इच्च। उ० ३। ३४। इति धेट् पाने-नु। यद्वा, धि धारणे, तर्पणे च—नु। धेनुर्धयतेर्वा धिनोतेर्वा—निरु० ११। ४२। दोग्ध्रीं गाम् (मधुमतीम्) मधुररसदुग्धयुक्ताम् (स्वस्तये) कल्याणाय (ऊर्जम्) बलकरं रसम् (मदन्तीम्) मदयन्तीम्। तोषयन्तीम्। वर्धयन्तीम् (अदितिम्) अ० २। २८। ४ कृत्यल्युटो बहुलम्। पा० ३। ३। ११३। दीङ् क्षये, दो अवखण्डने-क्तिन्। अदितिरदीना देवमाता-निरु० ४। २२। अदितिर्गोनाम-निघ० २। ११। अदीनामखण्डनीयां गाम् (जनेषु) मनुष्येषु (अग्ने) हे विद्वन् राजन् (मा हिंसीः) मा वधीः मा पीडय (परमे) सर्वोत्कृष्टे (व्योमन्)) व्योम्नि। सर्वव्यापके परमात्मनि ॥

(सविता) प्रेरक [काम चलाने वाला, कपड़ा बनाने वाला पुरुष] (एतत्) यह (वासः) कपड़ा (भर्तवे) पहिरने को (ददाति) देता है। (त्वम्) तू (यमस्य) न्यायकारी राजा के (राज्ये) राज्य में (तार्प्यम्) तृप्तिकारक (तत्) उस [वस्त्र] को (वसानः) पहिरे हुये (चर) विचर ॥ ३१ ॥

भावार्थ-न्यायी राजा के राज्य में गाय बैल आदि के उपकार से [मन्त्र ३०] वस्त्रकार आदि लोग वस्त्र आदि बनाकर मनुष्यों का उपकार करते हैं ॥ ३१ ॥

धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुप जीवति ॥ ३२ ॥

धानाः । धेनुः । अभवत् । वत्सः । अस्याः । तिलः । अभवत् ॥
ताम् । वै । यमस्य । राज्ये । अक्षिताम् । उप । जीवति ॥३२॥

भाषार्थ—(अस्याः) इस [गौ] से (धानाः) धानियें [सुसंस्कृत पोष्टिक पदार्थ] और (धेनुः) गौ और (वत्सः) बछड़ा (अभवत्) होता है और (तिलः) तिल [तिल सरसों आदि] (अभवत्) होता है। (यमस्य) न्यायकारी राजा के (राज्ये) राज्य में [मनुष्य] (वै) निश्चय करके (ताम्) उस (अक्षिताम्) बिना सतायी हुयी [गौ] के (उप जीवति) सहारे से जीवता है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—उत्तम राज्य के प्रबन्ध द्वारा गौ के उपकार से अन्न और तेल आदि भोजन आदि के लिये तथा गौ दूध, घी आदि के लिये और बैल खेती

(सविता) कर्मप्रेरकः । वस्त्रकारः । शिल्पी (वासः) वस्त्रम् (ददाति) प्रयच्छति (भर्तवे) भर्तुमाच्छादयितुम् (तत्) वस्त्रम् (त्वम्) हे मनुष्य (यमस्य) न्यायकारिणो राज्ञः (राज्ये) जनपदे (वसानः) आच्छादयन् (तार्प्यम्) तृप प्रीणने-ण्यत् । तृप्तिकरम् (चर) विचर ॥

३२—(धानाः) सुसंस्कृतपौष्टिकपदार्थाः (धेनुः) दोग्ध्री गौः (अभवत्) भवति (वत्सः) गोशिशुः । वृषभः (अस्याः) धेनोः सकाशात् (तिलः तिलसर्षपादिपदार्थः (ताम्) गाम् (वै) निश्चयेन (यमस्य) न्यायशीलस्य राज्ञः (राज्ये) जनपदे (अक्षिताम्) अहिंसिताम् (उप) उपेत्य (जीवति) प्राणान् धारयति ॥

आदि के लिये होते हैं, जिन पदार्थों के ऊपर मनुष्य का जीवन निर्भर है ॥ ३२ ॥

एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु । एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उप तिष्ठन्तु त्वात्र ॥ ३३ ॥

एताः । ते । असौ । धेनवः । काम-दुघाः । भवन्तु ॥ एनीः । श्येनीः । स-रूपाः । वि-रूपाः । तिल-वत्साः । उप । तिष्ठन्तु । त्वा । अत्र ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(असौ) हे अमुक पुरुष ! (ते) तेरी (एताः) यह (धेनवः) दुधेल गायें (कामदुघाः) कामधेनु [कामना पूरी करने वाली] (भवन्तु) होवें । (एनीः) चितकबरी, (श्येनीः) धौली, (सरूपाः) एक से रूप वाली, (विरूपाः) अलग अलग रूप वाली, (तिलवत्साः) बड़े बड़े बछड़ों वाली [गौयें] (अत्र) यहां (त्वा) तेरी (उप तिष्ठन्तु) सेवा करें ॥ ३३ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य गौओं की घास अन्न आदि से यथावत् सेवा करें जिससे वे अभीष्ट घी दूध बड़े बछड़े आदि देकर उपकार करती रहें और प्रीति बढ़ाने के लिये ऐसा प्रयत्न करें कि गौयें और बछड़े अनेक रंगों और नामों के होवें ॥ ३३ ॥

एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते ॥ तिलवत्सा ऊर्जमस्मै दुहाना विश्वाहा सन्त्वनपस्फुरन्तीः ॥ ३४ ॥

एनीः । धानाः । हरिणीः । श्येनीः । अस्य । कृष्णाः । धानाः । रोहिणीः । धेनवः । ते ॥ तिल-वत्साः । ऊर्जम् । अस्मै । दुहानाः । विश्वाहा । सन्तु । अनप-स्फुरन्तीः ॥ ३४ ॥

३३—(एताः) (ते) तव (असौ) हे अमुक पुरुष (धेनवः) दोग्ध्र्यो गावः (कामदुघाः) दुग्धघृतादिदानेन कामानां प्रपूरयित्र्यः (भवन्तु) (एनीः) कर्बुरवर्णाः (श्येनीः) श्वेतवर्णाः । धवलाः (सरूपाः) समानरूपाः (विरूपाः) विविधरूपाः (तिलवत्साः) तिलाः तिलकाः प्रधानाः शिशवो यासां ताः

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (अस्य) इस (ते) तेरी (एनीः) चितकबरी, (हरिणीः) पीली, (श्येनीः) धौली, (कृष्णाः) काली, (रोहिणीः) लाल (तिलवत्साः) बड़े बड़े बछड़ों वाली, (अनपस्फुरन्तीः) कभी न चलायमान होने वाली (धेनवः) दुधेल गौयें (धानाः) पुष्टिकारक (धानाः) धानियों [सुसंस्कृत अन्नों] को और (ऊर्जम्) बलदायक रस [दूध घी आदि] को (अस्मै) उस तेरे लिये (विश्वाहा) सब दिनों (दुहानाः) देती हुई (सन्तु) होवें ॥ ३४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि वे प्रीतिसूचक रंग और नाम वाली गौओं को सावधानी से पालें जिस से गौओं के दूध घी आदि द्वारा उत्तम उत्तम भोजन और खेती आदि के लिये बड़े बड़े बछड़े करके सदा पुष्ट रहें ॥ ३४ ॥

वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम् । स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः ३५

वैश्वानरे । हविः । इदम् । जुहोमि । साहस्रम् । शत-धारम् । उत्सम् ॥ सः । बिभर्ति । पितरम् । पितामहान् । प्र-पितामहान् । बिभर्ति । पिन्वमानः ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानरे) सब नरों के हितकारी पुरुष के निमित्त (इदम्) इस (हविः) ग्रहण करने योग्य वस्तु, (साहस्रम्) सहस्रों उपकार वाले, (शतधारम्) सैकड़ों दूध के धाराओं वाले (उत्सम्) स्रोते [अर्थात् गौ रूप

३४—(एनीः) कर्बुरवर्णाः (धानाः) पोषयित्रीः (हरिणीः) हरिण्यः । हरितवर्णाः (श्येनीः) श्वेतवर्णाः (अस्य) पुरुषस्य (कृष्णाः) कृष्णवर्णाः (धानाः) सुसंस्कृतान्नानि (रोहिणीः) रोहितवर्णाः रक्ताः (धेनवः) दोग्ध्र्यो गावः (ते) तव (तिलवत्साः) म० ३३ । प्रधानशिशूपेताः (ऊर्जम्) बलकरं रसं दुग्धघृतादिकम् (अस्मै) तथाभूताय तुभ्यम् (दुहानाः) प्रयच्छन्त्यः (विश्वाहा) सर्वाणि दिनानि (सन्तु) (अनपस्फुरन्तीः) स्फुर संचलने—शतृ । न कदापि संचलन्त्यः ॥

३५—(वैश्वानरे) निमित्ते सप्तमी । सर्वनरहितपुरुषस्य निमित्ते (हविः) ग्राह्यं वस्तु गोरूपम् (जुहोमि) ददामि (साहस्रम्) बहूपकारयुक्तम् (शतधारम्) बहुदुग्धधारायुक्तम् (उत्सम्) उन्दी क्लेदने—सप्रत्ययः । स्रवज्जलस्य

पदार्थ] को (जुहोमि) मैं देता हूं। (सः) वह (पिन्वमानः) सेवा किया हुआ [गौ रूप पदार्थ] (पितरम्) पिता [पिता आदि बड़ों] को (पितामहान्) दादे आदि मान्य जनों को (बिभर्ति) पुष्ट करता है, और (प्रपितामहान्) परदादे आदि महामान्य पुरुषों को (बिभर्ति) पुष्ट करता है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! गौ को प्राप्त करके उसकी पूरी सेवा करो, उस के पालने से खेती आदि के लिये उत्तम बैल तथा दूध घी आदि उत्तम पदार्थ मिलने से तुम्हारे कुटुम्बी और सब बड़े बूढ़े बलवान् और पुष्ट रहेंगे ॥ ३५ ॥

सहस्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे ।
ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः ॥३६ ॥

सहस्र-धारम् । शत-धारम् । उत्सम् । अक्षितम् । वि-अच्यमानम् । सलिलस्य । पृष्ठे ॥ ऊर्जम् । दुहानम् । अनप-स्फुरन्तम् । उप । आसते । पितरः । स्वधाभिः ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—(सहस्रधारम्) सहस्रों प्रकार से पोषण करने वाले, (शतधारम्) दूध की सैकड़ों धाराओं वाले, (अक्षितम्) न घटने वाले, (सलिलस्य) समुद्र की (पृष्ठे) पीठ पर (व्यच्यमानम्) फैले हुये [अर्थात् जल समान बहुत होने वाले], (ऊर्जम्) बलकारक रस [दूध घी आदि] (दुहानम्) देने वाले (अनपस्फुरन्तम्) कभी न चलायमान होने वाले (उत्सम्) स्रोते [अर्थात् गौ रूप पदार्थ] को (पितरः) पितर [पिता आदि

पातसदृशं गोरूपपदार्थम् (सः) गोरूपपदार्थः (बिभर्ति) पुष्णाति (पितरम्) बहुवचनस्यैकवचनम् । पितॄन् । पित्रादिमाननीयान् (पितामहान्) पितामहादीन् सत्करणीयान् (प्रपितामहान्) प्रपितादीन् महामान्यान् (बिभर्ति) (पिन्वमानः) पिवि सेचने, सेवने च—चानश् । सेव्यमानः ॥

३६—(सहस्रधारम्) सहस्रप्रकारेण धारकं पोषकम् (शतधारम्) असंख्यातदुग्धधारोपेतम् (उत्सम्) स्रोतः सदृशं गोरूपपदार्थम् (अक्षितम्) अक्षीणम् (व्यच्यमानम्) अचु गतौ याचने च—शानच् । वि विविधं प्रसरन्तम् (सलिलस्य) समुद्रस्य (पृष्ठे) उपरिभागे (ऊर्जम्) बलकरं रसं दुग्धादिकम् (दुहानम्) प्रयच्छन्तम् (अनपस्फुरन्तम्) न कदापि संचलन्तम् (उपासते)

मान्य] लोग (स्वधाभिः) आत्मधारण शक्तियों के साथ (उप आसते) सेवते हैं ॥३६॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपना शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाना चाहें, वे गौ की रक्षा करके दूध घी आदि का सेवन करें ॥ ३६ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध कुछ भेद से यजुर्वेद में है—१३। ४६ और उत्तरार्द्ध के लिये—मन्त्र ३० ऊपर देखो ॥

इदं कसाम्बु चयनेन चितं तत् सजाता अव पश्यतेत। मर्त्योऽयममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सबन्धु॥ ३७ ॥

इदम्। कसाम्बु। चयनेन। चितम्। तत्। स-जाताः। अव। पश्यत। आ। इत॥ मर्त्यः। अयम्। अमृत-त्वम्। एति। तस्मै। गृहान्। कृणुत। यावत्-सबन्धु ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (कसाम्बु) शासन का कीर्तन (चयनेन) इकट्ठा करने से (चितम्) इकट्ठा किया गया है, (सजाताः) हे सजातियो ! (तत्) उस को (अव पश्यत) ध्यान से देखो और (आ) सब ओर से (इत) प्राप्त करो। (अयम्) यह (मर्त्यः) मनुष्य (अमृतत्वम्) अमरपन (एति) पाता है। (यावत्सबन्धु) जितने तुम समान गोत्र वाले [**अर्थात्** सपिण्डी] हो सब मिल कर (तस्मै) उस [पुरुष] के लिये (गृहान्) घरों को (कृणुत) बनाओ ॥ ३७ ॥

सेवन्ते (पितरः) पित्र्यादिमान्याः (स्वधाभिः) आत्मधारणशक्तिभिः ॥

३७—(इदम्) उपस्थितम् (कसाम्बु) कस गतिशासनयोः—अच्+अबि शब्दे गतौ च—उप्रत्ययः। कसस्य शासनस्य कीर्तनम् (चयनेन) संग्रहेण (चितम्) संचितम्। समूहीकृतम् (तत्) शासनकीर्तनम् (सजाताः) हे समानजन्मानः। सगोत्राः (अव पश्यत) अवधानेन ईक्षध्वम् (आ) समन्तात् (इत) प्राप्नुत (मर्त्यः) मनुष्यः (अयम्) (अमृतत्वम्) अमरत्वम्। अमरणम् (एति) प्राप्नोति (तस्मै) मनुष्याय (गृहान्) स्थानानि (कृणुत) कुरुत। रचयत (यावत्सबन्धु) यथा भवति तथा यावन्तः सबन्धवः समानगोत्राः सपिण्डिनो भवथ ते सर्वे यूयं संगत्य ॥

भावार्थ—संसार में गौ आदि उपकारी जीव और बड़े बड़े घर आदि स्थान युक्ति के साथ क्रम क्रम से ठीक होते हैं, मनुष्य यह विचार कर उन्नति करें। मनुष्य इसी प्रकार श्रेष्ठ कामों से यश पाता है और सब कुटुम्बी आदि उस का सहाय करते हैं ॥ ३७ ॥

इहैवैधि धनसनिरिहचित्त इहक्रतुः ।
इहैधि वीर्यवत्तरो वयोधा अपराहतः ॥ ३८ ॥

इह । एव । एधि । धन-सनिः । इह-चित्तः । इह-क्रतुः ॥
इह । एधि । वीर्यवत्-तरः । वयः-धाः । अपरा-हतः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (धनसनिः) धन कमाता हुआ, (इहचित्तः) यहां पर चित्त देता हुआ, (इहक्रतुः) यहां पर कर्म करता हुआ तू (इह) यहां पर (एव) ही (एधि) रह । और (वीर्यवत्तरः) अधिक वीर्यवान् होता हुआ, (वयोधाः) बल देता हुआ और (अपराहतः) न मार डाला गया तू (इह) यहां पर (एधि) रह ॥ ३८ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या द्वारा धन आदि प्राप्त करके यहां अर्थात् अपने घर, नगर, देश तथा संसार में उपकार करता हुआ महाबली उदार और शत्रु-रहित होकर निर्भय होवे ॥ ३८ ॥

पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः । स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु ॥ ३९ ॥

पुत्रम् । पौत्रम् । अभि-तर्पयन्तीः । आपः । मधु-मतीः । इमाः ॥ स्वधाम् । पितृ-भ्यः । अमृतम् । दुहानाः । आपः ।

३८—(इह) अत्र (एव) निश्चयेन (एधि) भव (धनसनिः) छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् । पा० ३ । २ । २७ । धन+सन षण सम्भक्तौ—इन् । धनस्य संभाजकः । लम्भकः (इहचित्तः) अस्मिन् देशे कर्मणि वा चित्तं मनो यस्य सः (इहक्रतुः) क्रतुः कर्मनाम—निघ० २ । १ । अस्मिन् संसारे कर्मयुक्तः (इह) (एधि) भव (वीर्यवत्तरः) अधिकतरो बलवान् (वयोधाः) वयः+डु धाञ् धारणपोषणदानेषु—क्विप् । पराक्रमस्य दाता (अपराहतः) अनपमारितः ॥

देवीः । उभयान् । तर्पयन्तु ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(इमाः) यह (मधुमतीः) मधुर रस [मीठे दूध घी] वाली (आपः) प्राप्ति योग्य [गौयें] (पुत्रम्) पुत्र और (पौत्रम्) पौत्र को (अभितर्पयन्तीः) सब ओर से तृप्त करती हुयी होवें और (पितृभ्यः) पितरों को (स्वधाम्) स्वधारण शक्ति और (अमृतम्) अमरण [जीवन] (दुहानाः) देती हुयीं, (देवीः) उत्तम गुण वाली (आपः) प्राप्ति योग्य [गौयें] (उभयान्) दोनों पक्षों [स्त्री पुरुषों] को (तर्पयन्तु) तृप्त करें ॥ ३६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को गौ आदि उपकारी पशुओं की सदा रक्षा करनी चाहिये, जिस से बालक युवा और वृद्ध स्त्री पुरुषों का पालन होता रहे ॥ २६ ॥

आपो अग्निं प्र हिणुत पितॄँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम् । आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते तेनो रयिं सर्ववीरं नि यच्छान् ४०(२३)

आपः । अग्निम् । प्र । हिणुत । पितॄन् । उप । इमम् । यज्ञम् । पितरः । मे । जुषन्ताम् ॥ आसीनाम् । ऊर्जम् । उप । ये । सचन्ते । ते । नः । रयिम् । सर्व-वीरम् । नि । यच्छान् ॥ ४० ॥ (२३)

भाषार्थ—(आपः) हे प्राप्ति योग्य [गौओ !] (अग्निम्) अग्नि [प्रताप वा बल] को (पितॄन् उप) पितरों में (प्र हिणुत) बढ़ाये जाओ, (मे)

३६—(पुत्रम्) आत्मजम् (पौत्रम्) पुत्रस्य पुत्रम् (अभितर्पयन्तीः) सर्वतः संतोषयन्त्यः (आपः) आप्लृ व्याप्तौ—क्विप् । आपः पदनाम—निघ० ५ । ३ । आपः=आपनाः, आपनानि च–निरु० १२ । ३७ । प्राप्तव्या गावः (मधुमतीः) मधुरसेन घृतदुग्धादिना युक्ताः (इमाः) दृश्यमानाः (स्वधाम्) आत्मधारणशक्तिम् (पितृभ्यः) पालकेभ्यो विद्वद्भ्यः (अमृतम्) अमरणम् । जीवनम् (दुहानाः) प्रयच्छन्त्यः (आपः) प्राप्तव्याः गावः (देवीः) देव्यः । शुभगुणवत्यः (उभयान्) उभयपक्षान् स्त्रीपुरुषरूपान् (तर्पयन्तु) तोषयन्तु । वर्धयन्तु ॥

४०—(आपः) म० ३६ । प्राप्तव्या गावः (अग्निम्) प्रतापं बलं वा (प्र) प्रकर्षेण (हिणुत) हि गतिवृद्ध्योः । वर्धयत (पितॄन्) पालकान् विदुषः

मेरे (इमम्) इस (यज्ञम्) सत्कार को (पितरः) पितर लोग (जुषन्ताम्) सेवन करें। (ये) जो [पितर लोग] (आसीनाम्) उपस्थित (ऊर्जम्) बल-कारक रस [दूध घी आदि] को (उप) आदर से (सचन्ते) सेवें, (ते) वे [विद्वान् पितर] (नः) हमें (सर्ववीरम्) पूरे वीर पुरुष वाला (रयिम्) धन (नि) नियम से (यच्छान्) देवें ॥ ४० ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि उत्तम दूध घी आदि पदार्थों से विद्वान् बड़े बूढ़ों को तृप्त करते रहें, जिस से उनके विद्यादान और आशीर्वाद से गृहस्थों के कार्यकुशल वीर सन्तानें और बहुत धन होवें ॥ ४० ॥

मन्त्रः ४१—४४ ॥

पितरो देवताः ॥ ४१, ४२ अनुष्टुप्; ४३ आर्षी बृहती; ४४ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

पितृसेवोपदेशः—पितरों की सेवा का उपदेश ॥

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम् ।
स वेद निहितान् निधीन् पितॄन् परावतो गतान् ॥ ४१ ॥

सम् । इन्धते । अमर्त्यम् । हव्य-वाहम् । घृत-प्रियम् ॥ सः । वेद । नि-हितान् । नि-धीन् । पितॄन् । परा-वतः । गतान् ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—वे [पितर लोग] (अमर्त्यम्) अमर [न मरते हुये पुरुषार्थी], (हव्यवाहम्) ग्रहण करने योग्य पदार्थों के पहुंचाने वाले, (घृतप्रियम्)

पुरुषान् (उप) प्रति (इमम्) अनुष्ठीयमानम् (यज्ञम्) सत्कारम् (पितरः) (मे) मम (जुषन्ताम्) सेवन्ताम् (आसीनाम्) उपविष्टाम्। उपस्थिताम् (ऊर्जम्) बलकरं रसं दुग्धघृतादिकम् (ये) पितरः (सचन्ते) सेवन्ते (ते) पितरः (नः (अस्मभ्यम् (रयिम्) धनम् (सर्ववीरम्) पूर्णवीरैरुपेतम् (नि) नियमेन (यच्छान्) अ० १२ । ३ । ३८ । लेटि रूपम् । यच्छन्तु । ददतु ॥

४१—(सम्) सम्यक्। यथाविधि । ज्ञानेन (इन्धते) प्रकाशयन्ते ते पितरः (अमर्त्यम) अम्रियमाणम्। पुरुषार्थिनम (हव्यवाहम्) ग्राह्यपदार्थानां

घी आदि को प्रिय जानने वाले [जिस] पुरुष को (सम्) यथाविधि [ज्ञान से] (इन्धते) प्रकाशमान करते हैं। (सः) वह [पुरुष] (परावतः) पराक्रम से चलने वाले (पितॄन्) पितरों को (गतान्) प्राप्त हुये और (निहितान्) संग्रह किये हुये (निधीन्) [रत्न सुवर्ण आदि के] कोशों को (वेद) जानता है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य माता पिता आदि पितरों की सेवा घृत दुग्ध आदि उत्तम पदार्थों से करते हैं, वे पितृभक्त उन पितरों की कृपा से विद्यारत्न प्राप्त करके बड़े धनी होते हैं ॥ ४१ ॥

यं ते॑ म॒न्थं यमो॑द॒नं यन्मां॒सं नि॑पृ॒णामि॑ ते ।
ते ते॑ सन्तु स्व॒धाव॑न्तो॒ मधु॑मन्तो घृत॒श्चुतः॑ ॥ ४२ ॥

यम् । ते॒ । म॒न्थम् । यम् । ओ॒द॒नम् । यत् । मां॒सम् । नि॒-पृ॒णामि॑ । ते॒ ॥ ते । ते॒ । स॒न्तु॒ । स्व॒धा-व॑न्तः । मधु॑-मन्तः । घृ॒त॒-श्चुतः॑ ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—[हे पितृगण !] (यम्) जिस (मन्थम्) मथने से प्राप्त हुये पदार्थ [नवनीत आदि] और (यम्) जिस (ओदनम्) भात आदि [सुसंस्कृत भोजन] को (ते) तेरे लिये और (यत्) जिस (मांसम्) मनन साधक वस्तु [बुद्धिवर्धक मीठे फल बादाम अखोट आदि के गूदे, मींग] को (ते) तेरे लिये (निपृणामि) मैं भेंट करता हूं। (ते) वे [भोजन पदार्थ]

प्रापकम् (घृतप्रियम्) घृतादिकं कामयमानं पुरुषम् (सः) पूर्वोक्तः पुरुषः (वेद) वेत्ति (निहितान्) स्थापितान्। संगृहीतान् (निधीन्) रत्नसुवर्णादि-कोशान् (पितॄन्) "गतान्" इत्यनेन कर्मकारके सम्बन्धः। पालकान् पुरुषान् (परावतः) उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे। पा० ५। १। ११८। परा + वतिप्रत्ययो धात्वर्थे। परा पराक्रमेण गन्तॄन् (गतान्) अयं सकर्मकः। प्राप्तान् ॥

४२—(यम्) (ते) तुभ्यम् (मन्थम्) विलोडनेन प्राप्तं नवनीतादि-पदार्थम् (यम्) (ओदनम्) भक्तम्। सुसंस्कृतान्नम् (यत्) (मांसम्) म० २०। मननसाधकं बुद्धिवर्धकं पदार्थम् (निपृणामि) पॄ पालनपूरणयोः।

(ते) तेरे लिये (स्वधावन्तः) आत्मधारण शक्ति वाले, (मधुमन्तः) मधुर से] गुण वाले और (घृतश्चुतः) घी [सार रस] सींचने वाले (सन्तु) होवें ॥ ४२ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग विद्वान् गुणी माता पिता आदि बड़ों की सेवा घृत दुग्ध आदि से किया करें, जिस से वे पितर लोग बलवान् रह कर उत्तम उत्तम कर्म करने में समर्थ होवें ॥ ४२ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध ऊपर आ चुका है—अ० १८ । ३ । ६८ । तथा १८ । ४ । २५ ॥

यास्ते॑ धा॒ना अ॑नुकि॒रामि॑ ति॒लमि॑श्राः स्व॒धाव॑तीः । तास्ते॑ सन्तू॒द्भ्वीः प्र॒भ्वीस्तास्ते॑ य॒मो राजानु॑ मन्यताम् ॥ ४३ ॥

याः । ते॒ । धा॒नाः । अ॒नु॒-कि॒रामि॑ । ति॒ल-मि॑श्राः । स्व॒धा-व॑तीः ॥ ताः । ते॒ । स॒न्तु॒ । उ॒त्-भ्वीः । प्र॒-भ्वीः । ताः । ते॒ । य॒मः । राजा॑ । अनु॑ । म॒न्य॒ता॒म् ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—[हे पितृगण !] (ते) तेरे लिये (याः) जिन (तिल-मिश्राः) तिलों से मिली हुयी, (स्वधावतीः) उत्तम अन्न वाली (धानाः) धानाओं [सुसंस्कृत पौष्टिक पदार्थों] को (अनुकिरामि) मैं [गृहस्थ] अनुकूल रीति से फैलाता हूं । (ताः) वे [सब सामग्री] (ते) तेरे लिये (उद्भ्वीः) उदय कराने वाली और (प्रभ्वीः) प्रभुता वाली (सन्तु) होवें, और (ताः) उन [सामग्रियों] को (ते) तेरे लिये (यमः) संयमी (राजा) राजा [शासक वैद्य] (अनु) अनुकूल (मन्यताम्) जाने ॥ ४३ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग वैद्यक प्रक्रिया के अनुसार पुष्टिकारक पदार्थों से सेवा करके पितरों को नीरोग रक्खें ॥ ४३ ॥

यह मन्त्र ऊपर आचुका है-मन्त्र २६ तथा कुछ भेद से-अ० १८ । ३ । ६४ ॥

नियमेन पूरयामि । समर्पयामि (ते) तुभ्यम् । अन्यत् पूर्ववत्-अ० १८ । ३ । ६८ तथा १८ । ४ । २५ ॥

४३—(राजा) शासको वैद्यः । अन्यत् पूर्ववत्—म० २६ तथा अ० १८ । ३ । ६४ ॥

इदं पूर्वमपरं नियानं येना ते पूर्वे पितरः परेताः । पुरोगवा ये अभिशाचो अस्य ते त्वा वहन्ति सुकृतामु लोकम् ॥ ४४ ॥

इदम् । पूर्वम् । अपरम् । नि-यानम् । येन । ते । पूर्वे । पितरः । परा-इताः ॥ पुरः-गवाः । ये । अभि-शाचः । अस्य । ते । त्वा । वहन्ति । सु-कृताम् । ऊं इति । लोकम् ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (इदम्] यह (पूर्वम्) पहिला और (अवरम्) पिछला (नियानम्) निश्चित मार्ग है, (येन) जिस से (ते) तेरे (पूर्वे) पहिले [प्रधान] (पितरः) पितर लोग (परेताः) बल के साथ गये हैं । (ये) जो [पितर] (अस्य) इस [मार्ग] के (पुरोगवाः) आगे चलने वाले और (अभिशाचः) सब प्रकार उपदेश करने वाले हैं, (ते) वे [पितर] (त्वा) तुझ को (सुकृताम्) सुकर्मियों के (उ) ही (लोकम्) समाज में (वहन्ति) पहुंचाते हैं ॥ ४४ ॥

भावार्थ—पितरों अर्थात् विद्वान् जनों की सेवा करना प्राचीन और अर्वाचीन अर्थात् सार्वभौम और सर्वकालीन धर्म है, उन की सेवा से मनुष्य योग्य हो कर विद्वानों में प्रतिष्ठा पाता है ॥ ४४ ॥

मन्त्राः ४५–४७ ॥

सरस्वती देवता [ऋग्वेदे १० । १७ । ७—९ यथा] ॥ ४५,४६ निचृत् त्रिष्टुप्, ४७ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

४४—(इदम्) पितृसेवारूपमाचरणम् (पूर्वम्) पुरातनम् (अपरम्) अर्वाचीनम् (नियानम्) निश्चितमार्गः (येन) मार्गेण (ते) तव (पूर्वे)) प्रथमपदस्थाः प्रधानाः (पितरः) पालका विद्वांसः (परेताः) परा प्राधान्येन गताः (पुरोगवाः) गोरतद्धितलुकि । पा० ५।४ ।९२। इति पुरः+गो-टच्, तत्पुरुषे समासान्तः । अग्रगामिनः (ये) पितरः (अभिशाचः) वहश्च । पा० ३ । २ । ६४ । अभि+शच व्यक्तायां वाचि—ण्विप्रत्ययो बाहुलकात् सर्वत उपदेशकाः (अस्य) नियानस्य । निश्चितमार्गस्य (ते) पितरः (त्वा) त्वां पितृसेवकम् (वहन्ति) प्रापयन्ति (सुकृताम्) पुण्यकर्मणाम् (उ) निश्चयेन (लोकम्) समाजम् ॥

सरस्वत्यावाहनोपदेशः—सरस्वती के आवाहन का उपदेश ॥

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने । सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥ ४५ ॥

सरस्वतीम् । देव-यन्तः । हवन्ते । सरस्वतीम् । अध्वरे । तायमाने ॥ सरस्वतीम् । सु-कृतः । हवन्ते । सरस्वती । दाशुषे । वार्यम् । दात् ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—(सरस्वतीम्) सरस्वती [विज्ञानवती वेदविद्या] को (सरस्वतीम्) उसी सरस्वती को (देवयन्तः) दिव्य गुणों को चाहने वाले पुरुष (तायमाने) विस्तृत होते हुये (अध्वरे) हिंसारहित व्यवहार में (हवन्ते) बुलाते हैं । (सरस्वतीम्) सरस्वती को (सुकृतः) सुकृती लोग (हवन्ते) बुलाते हैं, (सरस्वती) सरस्वती (दाशुषे) अपने भक्त को (वार्यम्) श्रेष्ठ पदार्थ (दात्) देती है ॥ ४५ ॥

भावार्थ—विज्ञानी लोग परिश्रम के साथ आदर पूर्वक वेदविद्या का अभ्यास करके पुण्य कर्म करते और मोक्ष आदि इष्ट पदार्थ पाते हैं ॥ ४५ ॥

मन्त्र ४५-४७ ऊपर आ चुके हैं—अ० १८ । १ । ४१-४३ ॥

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः । आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे ४६

सरस्वतीम् । पितरः । हवन्ते । दक्षिणा । यज्ञम् । अभि-नक्षमाणाः ॥ आ-सद्य । अस्मिन् । बर्हिषि । मादयध्वम् । अनमीवाः । इषः । आ । धेहि । अस्मे इति ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—(सरस्वतीम्) सरस्वती [विज्ञानवती वेदविद्या] को (दक्षिणा) सरल मार्ग में (यज्ञम्) यज्ञ [संगति व्यवहार] को (अभिनक्षमाणाः) प्राप्त करते हुये (पितरः) पितर [पालन करने वाले विज्ञानी] लोग

४५—४७ मन्त्रा व्याख्याताः—अ० १८ । १ । ४१-४३ ॥

(हवन्ते) बुलाते हैं। [हे विद्वानो !] (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) वृद्धि कर्म में (आसद्य) आकर (मादयध्वम्) [सब को] तृप्त करो, [हे सरस्वती !] (अस्मे) हम में (अनमीवाः) पीड़ा रहित (इषः) इच्छायें (आ धेहि) स्थापित कर ॥ ४६ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग निर्विघ्न होकर सरल रीति में सब से मिल कर वेदविद्या के प्रचार से विज्ञान की वृद्धि और इष्ट पदार्थ की सिद्धि करते हैं॥४६॥

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ ४७ ॥

सरस्वति। या। स-रथम्। ययाथ। उक्थैः। स्वधाभिः। देवि। पितृ-भिः। मदन्ती॥ सहस्र-अर्घम्। इडः। अत्र। भागम्। रायः। पोषम्। यजमानाय। धेहि ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वती ! [विज्ञानवती वेदविद्या] (देवि) हे देवी ! [उत्तम गुण वाली] (या) जो तू (उक्थैः) वेदोक्त स्तोत्रों से (सरथम्) रमणीय गुणों वाली होकर और (स्वधाभिः) आत्मधारण शक्तियों के सहित [विराजमान] (पितृभिः) पितरों [विज्ञानियों] के साथ (मदन्ती) तृप्त होती हुयी (ययाथ) प्राप्त हुयी है। सो तू (अत्र) यहां (इडः) विद्या के (सहस्रार्घम्) सहस्रों प्रकार पूजनीय (भागम्) भाग को और (रायः) धन का (पोषम्) वृद्धि को (यजमानाय) यजमान [विद्वानों के सत्कारी] के लिये (धेहि) दान कर ॥ ४७ ॥

भावार्थ—आत्मविश्वासी विज्ञानी लोग वेद विद्या प्राप्त करके आनन्द भोगते हैं। सब मनुष्य विद्वानों के सत्संग से वेदविद्या ग्रहण करके धन आदि की वृद्धि करें ॥ ४७ ॥

मन्त्राः ४८—५२ ॥

पितरो देवताः ॥ ४८, ५१, ५२ भुरिक् त्रिष्टुप्ः ४६ ; अनुष्टुब्गर्भा त्रिष्टुप्, ५० निचृज्जगती ॥

पितृसन्तानकर्तव्योपदेशः— पितरों और सन्तान के कर्तव्य का उपदेश॥

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि देवो नो धाता प्र तिरा- त्यायुः । परापरैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु सं भवन्तु ॥ ४८ ॥

पृथिवीम् । त्वा । पृथिव्याम् । आ । वेशयामि । देवः । नः । धाता । प्र । तिराति । आयुः ॥ परा-परैता । वसु-वित् । वः । अस्तु । अध । मृताः । पितृषु । सम् । भवन्तु ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजा ! स्त्री वा पुरुष] (पृथिवीम् त्वा) तुझ प्रख्यात को (पृथिव्याम्) प्रख्यात [विद्या] के भीतर (आ वेशयामि) मैं [माता पिता आचार्य आदि] प्रवेश कराता हूं, (देवः) प्रकाशस्वरूप (धाता) धाता [पोषक परमात्मा] (नः) हमारी (आयुः) आयु को (प्र तिराति) बढ़ावे । (परापरैता) अत्यन्त पराक्रम से चलने वाला पुरुष (वः) तुम्हारे लिये (वसुवित्) श्रेष्ठ पदार्थों का पाने वाला (अस्तु) होवे, (अध) तब (मृताः) मरे हुये [निरुत्साही पुरुष] (पितृषु) पितरों [पालक विद्वानों] के बीच (सं भवन्तु) समर्थ होवें ॥ ४८ ॥

भावार्थ—माता पिता आचार्य आदि सन्तानों को उत्तम विद्या देवें जिस से वे परमेश्वर के भक्त होकर श्रेष्ठ जीवन बितावें और बड़े नेता और श्रेष्ठ धनी होवें और उनके देखने से निरुत्साही भी उत्साही होकर पितरों में स्थान पावें ॥ ४८ ॥

इस मन्त्र का प्रथम पाद ऊपर आ चुका—अ० १२ । ३ । २२ ॥

४८—(पृथिवीम्) प्रख्याताम् (त्वा) त्वां प्रजां पुरुषं स्त्रियं वा (पृथिव्याम्) प्रख्यातायां विद्यायाम् (आवेशयामि) प्रवेशयामि (देवः) प्रकाशस्वरूपः (नः) अस्माकम् (धाता) पोषकः परमात्मा (प्र तिराति) तरतेर्लेट् । वर्धयतु (आयुः) जीवनम् (परापरैता) परा+परा+इण् गतौ—तृन् । अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—निरु० १० । ४२ । अतिशयेन पराक्रमेण गन्ता (वसुवित्) विद्लृ लाभे—क्विप् । श्रेष्ठपदार्थानां लम्भयिता प्रापयिता (वः) युष्मभ्यम् (अध) अथ (मृताः) त्यक्तप्राणाः । निरुत्साहिनः (पितृषु) पालकेषु विद्वत्सु (सं भवन्तु) संभूतियुक्ताः समर्था भवन्तु ॥

आ प्र च्यवेथामप तन्मृजेथां यद्वामभिभा अत्रोचुः । अस्मादेतमघ्न्यौ तद्वशीयो दातुः पितृष्विहभोजनौ मम ॥ ४९ ॥

आ । प्र । च्यवेथाम् । अप । तत् । मृजेथाम् । यत् । वाम् । अभि-भाः । अत्र । ऊचुः ॥ अस्मात् । आ । इतम् । अघ्न्यौ । तत् । वशीयः । दातुः । पितृषु । इह-भोजनौ । मम ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री पुरुषो !] तुम दोनों (आ) सब ओर (प्रच्यवेथाम्) आगे बढ़ो, और (तत्) उस [पाप] को (अप मृजेथाम्) शोध डालो, (यत्) जिस को (वाम्) तुम दोनों के (अभिभाः) सामने चमकती हुयी आपत्तियों ने (अत्र) यहां पर (ऊचुः) बताया है । (पितृषु) पितरों के बीच (दातुः मम) मुझ दानी के (इहभोजनौ) यहां पालन करने वाले (अघ्न्यौः) हिंसा न करने वाले तुम दोनों (अस्मात्) इस [पाप] से पृथक् होकर (तत्) उस [सुकर्म] को (आ) सब प्रकार (इतम्) प्राप्त हो [जो सुकर्म] (वशीयः) अधिक वश करने वाला है ॥ ४९ ॥

भावार्थ—जिस पाप के कारण मनुष्य पर अनेक विपत्तियां आपड़ती हैं, स्त्री पुरुष पुरुषार्थ पूर्वक विद्वान् पितरों की आज्ञा मान कर उस पाप को हटाकर सुकर्म में प्रवृत्त हों, क्योंकि सुकर्म ही से मनुष्य पाप को वश में करता है ॥ ४९ ॥

एयमगन् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सुदुघा वयोधाः ।

४९—(आ) समन्तात् (प्र च्यवेथाम्) च्युङ् गतौ । प्रकर्षेण गच्छतम् (तत्) पापम् (अप मृजेथाम्) अप मार्जयतम् । शोधयतम् (यत्) पापम् (वाम्) युवाभ्याम् (अभिभाः) अ० १ । २० । १ । अभि भा दीप्तौ—क्विप् । आभिमुख्येन दीप्यमाना विपत्तयः (अत्र) अस्मिन् स्थाने (ऊचुः) उदितवत्यः। प्रकटितवत्यः (अस्मात्) पापात् पृथग् भूत्वा (एतम्) आगच्छतम् (अघ्न्यौः) नञ् + हन हिंसागत्योः—यक् । अहिंसकौ (तत्) सुकर्म (वशीयः) वशितृ—ईयसुन्, तृचो लोपः । वशितृतरं सुकर्म (दातुः) दानशीलस्य (पितृषु) (इह-भोजनौ) इह अस्मिन् स्थाने भोजनं पोषणं ययोस्तौ (मम) ॥

यौवने जीवानुंपपृञ्चती जरा पितृभ्य उपसंपरांणायादिमान् ५०(२४

आ । इयम् । अगन् । दक्षिणा । भद्रतः । नः । अनेन । दत्ता । सु-दुघा । वयः-धाः ॥ यौवने । जीवान् । उप-पृञ्चती । जरा । पितृ-भ्यः । उपसंपरानयात् । इमान् ॥ ५० ॥ (२४)

भाषार्थ—(अनेन) इस [सुकर्म] करके (दत्ता) दी हुयी, (सुदुघा) बड़ी दुधैल [गौ के समान] (वयोधाः) बल देने वाली (इयम्) यह (दक्षिणा) दक्षिणा [प्रतिष्ठा] (भद्रतः) उत्तमता से (नः) हम को (आ अगन्) प्राप्त हुयी है। (यौवने) यौवन [बल की पूरी अवस्था] में (इमान्) इन (जीवान्) जीवते हुये पुरुषों को (उपपृञ्चती) मिलती हुयी (जरा) बड़ाई (पितृभ्यः) पितरों के पास को (उपसंपराणयात्) प्रधानता से ठीक ठीक ले चले ॥ ५० ॥

भावार्थ—जैसे दुधैल गौ सेवा करने से दूध घी आदि पदार्थ देकर मनुष्यों को बलवान् करती है, वैसे ही मनुष्य सुकर्म के अनुष्ठान से दृढ़ गौरव पाकर बड़े लोगों में नाम पावें ॥ ५० ॥

इदं पितृभ्यः प्र भरामि बर्हिर्जीवं देवेभ्य उत्तरं स्तृणामि ।
तदा रोह पुरुष मेध्यो भवन् प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम्५१

इदम् । पितृ-भ्यः । प्र । भरामि । बर्हिः । जीवम् । देवेभ्यः । उत्-तरम् । स्तृणामि ॥ तत् । आ । रोह । पुरुष । मेध्यः ।

५०—(इयम्) (आ अगन्) आगमत् (दक्षिणा) प्रतिष्ठा । गौरवम् (भद्रतः) कल्याणात् (नः) अस्मान् (अनेन) सुकर्मणा (दत्ता) (सुदुघा) बहुदोग्ध्री गौर्यथा (वयोधाः) बलदायिका (यौवने) पूर्णबलवत्त्वे (जीवान्) जीवनवतः पुरुषार्थिनः पुरुषान् (उपपृञ्चती) संयोजयन्ती (जरा) जरा स्तुति—जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १० । ८ । प्रशंसा (पितृभ्यः) तादर्थ्ये चतुर्थी । पालकेभ्यः (उपसंपराणयात्) उप+सम्+परा+नयात् । प्राधान्येन सम्यग् नयतु प्रापयतु (इमान्) प्रसिद्धान् ॥

भवन् । प्रति । त्वा । जानन्तु । पितरः । परा-इतम् ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (बर्हिः) उत्तम आसन (पितृभ्यः) पितरों के लिये (प्र भरामि) आगे धरता हूं, और (देवेभ्यः) श्रेष्ठ गुणों के लिये (जीवम्) इस जीव [अपने आत्मा] को (उत्तरम्) अधिक ऊंचा (स्तृणामि) फैलाता हूं । (पुरुष) हे पुरुष ! (मेध्यः) पवित्र (भवन्) होता हुआ तू (तत्) उस [आसन] पर (आ रोह) ऊंचा हो, [तब] (पितरः) पितर लोग (त्वा) तुझे (परेतम्) प्रधानता को पहुंचा हुआ (प्रति) प्रत्यक्ष (जानन्तु) जानें ॥ ५१ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् जनों की प्रतिष्ठा करके और उनके समान शुद्धाचारी होकर अपने जीवन को श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित बनावे ॥ ५१ ॥

एदं बर्हिरसदो मेध्योऽभूः प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ।
यथापरु तन्वं१ सं भरस्व गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि ॥५२

आ । इदम् । बर्हिः । असदः । मेध्यः । अभूः । प्रति । त्वा । जानन्तु । पितरः । परा-इतम् ॥ यथा-परु । तन्वम् । सम् । भरस्व । गात्राणि । ते । ब्रह्मणा । कल्पयामि ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (इदम्) इस (बर्हिः) उत्तम आसन पर (आ असदः) तू बैठा है और (मेध्यः) पवित्र (अभूः) हुआ है, (पितरः) पितर लोग (त्वा) तुझे (परेतम्) प्रधानता को पहुंचा हुआ (प्रति) प्रत्यक्ष

५१—(इदम्) (पितृभ्यः) पित्रादिमान्येभ्यः (प्र) प्रकर्षेण (भरामि) धरामि (बर्हिः) उत्तमासनम् (जीवम्) स्वात्मानम् (देवेभ्यः) दिव्यगुणानां प्राप्तये (उत्तरम्) उत्कृष्टतरम् (स्तृणामि) विस्तारयामि (तत्) आसनम् (आरोह) आतिष्ठ (पुरुष) (मेध्यः) पवित्रः (भवन्) सन् (प्रति) प्रत्यक्षेण (त्वा) त्वाम् (जानन्तु) (पितरः) (परेतम्) परा प्राधान्यं गतं प्राप्तम् ॥

५२—(इदम्) दृश्यमानम् (बर्हिः) उच्चासनम् (आ असदः) आरूढवानसि (मेध्यः) पवित्रः (अभूः) (प्रति) प्रत्यक्षम् (त्वा) त्वाम् (जानन्तु) विदन्तु (पितरः) (परेतम्) परा प्राधान्यमितं प्राप्तम् (यथापरु) परौ परौ

(जानन्तु) जानें । (यथापरु) गांठ गांठ में (तन्वम्) उपकार शक्ति को (सम् भरस्व) भर दे, (ते) तेरे (गात्राणि) गातों को (ब्रह्मणा) वेदद्वारा (कल्पयामि) समर्थ करता हूं ॥ ५२ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य विद्या आदि उत्तम गुणों से शुद्ध पवित्र हो जावे, विद्वान् उस की प्रतिष्ठा करें और वह वेदज्ञान से समर्थ होकर अपना सब सामर्थ्य परोपकार में लगावे ॥ ५२ ॥

मन्त्रौ ५३, ५४ ॥

परमेश्वरो देवता ॥ ५३ आर्षी पङ्क्तिः ; ५४ निचृत् पङ्क्तिः ॥

परमात्मभक्तिफलोपदेशः—परमात्मा की भक्ति के फल का उपदेश ॥

पुर्णो राजापिधानं चरूणामूर्जो बलं सह ओजो न आगंन् । आयुर्जीवेभ्यो विदंधद् दीर्घायुत्वायं शतशारदाय ॥ ५३ ॥

पुर्णः । राजा । अपि-धानम् । चरूणाम् । ऊर्जः । बलम् । सहः । ओजः । नः । आ । अगन् ॥ आयुः । जीवेभ्यः । वि-दंधत् । दीर्घायु-त्वायं । शत-शारदाय ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—(पर्णः) पालन करने वाला (राजा) राजा [सर्वशासक परमात्मा] (चरूणाम्) पात्र [समान लोकों] का (अपिधानम्) ढक्कन है, [उस से] (ऊर्जः) पराक्रम, (बलम्) बल, (सहः) उत्साह और (ओजः) प्रभाव [यह चार] (नः) हम को (आ अगन्) प्राप्त हुआ है । वह (जीवेभ्यः)

ग्रन्थौ ग्रन्थौ (तन्वम्) तनूम् । उपकारशक्तिम् (सम्) सम्यक् (भरस्व) धारय (गात्राणि) अङ्गानि (ते) तव (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (कल्पयामि) समर्थयामि ॥

५३—(पर्णः) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । पॄ पालनपूरणयोः—न । पालकः (राजा) सर्वशासकः परमात्मा (अपिधानम्) आच्छादनसाधनं यथा (चरूणाम्) पात्ररूपाणां लोकानाम् (ऊर्जः) ऊर्ज बलप्राणनयोः—पचाद्यच् । पराक्रमः (बलम्) सामर्थ्यम् (सहः) उत्साहः (ओजः) प्रभावः—इति धर्मार्थकाममोक्षचतुर्वर्गः (नः) अस्मान् (आ अगन्) आगमत् । प्राप्तवान्

जीवते हुये पुरुषों को (शतशारदाय) सौ वर्ष वाले (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु के लिये (आयुः) जीवन (विदधत्) विशेष कर के देवे ॥ ५३ ॥

भावार्थ—सर्वनियन्ता सर्वव्यापक जगदीश्वर अपनी न्याय व्यवस्था से मनुष्यों को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार प्रकार के बल देता है, और वही जीवते हुये पुरुषार्थी का जीवन दीर्घ करता है ॥ ५३ ॥

ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्मान्नानामाधिपत्यं जगाम।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ५४

ऊर्जः । भागः । यः । इमम् । जजान । अश्मा । अन्नानाम् । आधि-पत्यम् । जगाम ॥ तम् । अर्चत । विश्व-मित्राः । हविः-भिः । सः । नः । यमः । प्र-तरम् । जीवसे । धात् ॥५४॥

भाषार्थ—(ऊर्जः) पराक्रम के (यः) जिस (भागः) भाग करने वाले [परमेश्वर] ने (इमम्) इस [संसार] को (जजान) उत्पन्न किया है और (अश्मा) व्यापक होकर (अन्नानाम्) अन्नों का (आधिपत्यम्) स्वामिपन (जगाम) पाया है। (तम्) उस [परमात्मा] को (विश्वमित्राः) सब के मित्र तुम (हविर्भिः) आत्मदानों से (अर्चत) पूजो, (सः) वह (यमः) न्यायकारी परमेश्वर (नः) हमें (प्रतरम्) अधिक उत्तमता से (जीवसे) जीने के लिये (धात्) धारण करे ॥ ५४ ॥

भावार्थ—जगत् स्रष्टा परमेश्वर सब प्राणियों को उन के पुरुषार्थ के अनुसार सामर्थ्य देकर अन्न आदि देता है, इस लिये मनुष्य अधिक अधिक

(आयुः) जीवनम् (जीवेभ्यः) जीवितेभ्यः पुरुषार्थिभ्यः (विदधत्) दधाते-लेटि, अडागमः। विशेषेण दध्यात्। प्रयच्छेत् (दीर्घायुत्वाय) अ० १। ३५। १। चिरकालजीवनाय (शतशारदाय) अ० १। ३५। १। शतसंवत्सरयुक्ताय॥

५४—(ऊर्जः) ऊर्ज बलप्राणनयोः—क्विप्। पराक्रमस्य (भागः) संभक्ता (यः) परमेश्वरः (इमम्) दृश्यमानं संसारम् (जजान) जनयामास (अश्मा) अशू व्याप्तौ—मनिन्। व्यापकः परमात्मा (अन्नानाम्) भोजनानाम् (आधि-पत्यम्) स्वामित्वम् (जगाम) प्राप। अन्यत् पूर्ववत्—अ० १८। ३। ६३॥

पुरुषार्थ करके अपने जीवन को अधिक अधिक ऊंचा बनावें ॥ ५४ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध ऊपर आ चुका है—अ० १८ । ३ । ६३ ॥

मन्त्राः ५५—५७ ॥

जीवो देवता । ५५, ५७ अनुष्टुप् ; ५६ विराडनुष्टुप् ॥

मनुष्याय वृद्धिकरणोपदेशः—मनुष्य को वृद्धि करने का उपदेश ॥

यथा यमाय हर्म्यमवपन् पञ्च मानवाः ।
एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत ॥ ५५ ॥

यथा । यमाय । हर्म्यम् । अवपन् । पञ्च । मानवाः ॥
एव । वपामि । हर्म्यम् । यथा । मे । भूरयः । असत ॥५५ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (यमाय) न्यायकारी राजा के लिये (पञ्च) पांच [पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पांच तत्त्वों] से सम्बन्ध वाले (मानवाः) मनुष्यों ने (हर्म्यम्) स्वीकार करने योग्य राजमहल (अवपन्) फैलाकर बनाया है। (एव) वैसे ही मैं (हर्म्यम्) सुन्दर राजमहल (वपामि) फैलाकर बनाता हूं, (यथा) जिस से (मे) मेरे लिये (भूरयः) बहुत से (असत) तुम होओ ॥ ५५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को बड़े पुरुषों के समान अच्छे अच्छे शिल्पियों द्वारा दृढ़ सुखप्रद गढ़, विद्यालय, न्यायालय, आदि घर बनवाकर सब की यथायोग्य रक्षा करनी चाहिये ॥ ५५ ॥

इदं हिरण्यं बिभृहि यत् ते पिताबिभः पुरा ।

५५—(यथा) सादृश्ये (यमाय) न्यायकारिणे शासकाय (हर्म्यम्) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । हृञ् स्वीकारे—यक्, मुडागमः । हर्म्यं गृहनाम—निघ० ३ । ४ । स्वीकरणीयं महिलायोग्यं गृहम् । धनिनां गृहम् (अवपन्) डु वप बीजसन्ताने । बीजवद् विस्तार्य निर्मितवन्तः (पञ्च मानवाः) अ० १२ । १ । १५ । पृथिव्यादिपञ्चभूतसंबन्धिनो मनुष्याः (एव) एवम् (वपामि) संपादयामि । निर्मिमे (हर्म्यम्) राजगृहम् (यथा) येन प्रकारेण (मे) मह्यम् (भूरयः) बहवः (असत) अस्तेर्लेटि, अडागमः । यूयं स्यात ॥

स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृड्ढि दक्षिणम् ॥ ५६ ॥

इदम् । हिरण्यम् । बिभृहि । यत् । ते । पिता । अबिभः । पुरा ॥ स्वः-गम् । यतः । पितुः । हस्तम् । निः । मृड्ढि । दक्षिणम् ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (इदम्) इस (हिरण्यम्) सुवर्ण को (बिभृहि) तू धारण कर, (यत्) जैसे (ते) तेरे (पिता) पिता ने (पुरा) पहिले (अबिभः) धारण किया है। और (स्वर्गम्) सुख देने वाले पद को (यतः) प्राप्त होते हुये (पितुः) पिता के (दक्षिणम्) दाहिने [वा उदार और कार्यकुशल] (हस्तम्) हाथ को (नि) निश्चय करके (मृड्ढि) शोभायमन कर ॥ ५६ ॥

भावार्थ—मनुष्य बड़े पुरुषों के समान सुवर्ण आदि धन प्राप्त करें और उपकारी कार्यों में चतुर होने के लिये युवराज बनकर बड़े लोगों का हाथ बटावें अर्थात् सहाय करें ॥ ५६ ॥

ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती ॥ ५७ ॥

ये । च । जीवाः । ये । च । मृताः । ये । जाताः । ये । च । यज्ञियाः ॥ तेभ्यः । घृतस्य । कुल्या । एतु । मधुधारा । वि-उन्दती ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (जीवाः) जीवते हुये [उत्साही], (च) और

५६—(इदम्) उपस्थितम् (हिरण्यम्) सुवर्णम् (बिभृहि) धारय (यत्) यथा (ते) तव (पिता) जनकः (अबिभः) भृतवान्। धारितवान् (पुरा) पूर्वम् (स्वर्गम्) सुखप्रापकं पदम् (यतः) इण गतौ—शतृ। गच्छतः। प्राप्नुवतः (पितुः) जनकस्य (हस्तम्) करम् (निः) निश्चयेन (मृड्ढि) अ० ११। १। २९। मृजू शौचालङ्कारयोः—लोट्, अदादिः। मार्जय। अलङ्कुरु (दक्षिणम्) असव्यम् ॥ उदारम्। कार्यकुशलम् ॥

५७—(ये) पुरुषाः (च) (जीवाः) जीववन्तः । उत्साहिनः (ये) (च)

(ये) जो (मृताः) मरे हुये [निरुत्साही], (च) और (ये) जो (जाताः) उत्पन्न हुये [बालक] (च) और (ये) जो (यज्ञियाः) पूजा योग्य [वृद्ध] पुरुष हैं। (तेभ्यः) उन के लिये (घृतस्य) जल की (कुल्या) कुल्या [कृत्रिम नाली] (मधुधारा) मधुर धाराओं वाली, (व्युन्दती) उमड़ती हुयी (एतु) चले ॥ ५७ ॥

भावार्थ—उत्साही और निरुत्साही, बाल और वृद्ध सब पुरुषार्थ करके परस्पर आनन्द भोगें, जैसे लोग मीठे जल की नालियों से खेत, बाटिका आदि सींचकर अन्न फूल फल आदि प्राप्तकर सुखी होते हैं ॥ ५७ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से ऊपर आ चुका है—अ० १८। ३। ७२ ॥

मन्त्राः ५८—६० ॥

परमेश्वरो देवता ॥ ५८ जगती ; ५९ अनुष्टुप् ; ६० आर्षी त्रिष्टुप् ॥

ईश्वरोपासनोपदेशः—ईश्वर की उपासना का उपदेश ॥

वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सूरो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः। प्राणः सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्दिमाविशन्मनीषया ॥ ५८ ॥

वृषा। मतीनाम्। पवते। वि-चक्षणः। सूरः। अह्नाम्। प्र-तरीता। उषसाम्। दिवः॥ प्राणः। सिन्धूनाम्। कलशान्। अचिक्रदत्। इन्द्रस्य। हार्दिम्। आ-विशन्। मनीषया ।५८।

भाषार्थ—(वृषा) परम ऐश्वर्यवान्, (विचक्षणः) विशेष दृष्टि वाला परमेश्वर (मतीनाम्) बुद्धियों का (पवते) पवित्रकारी है, [जैसे] (सूरः) सूर्य (दिवः) [अपने] प्रकाश से (अह्नाम्) दिनों का और (उषसाम्) प्रभात

(मृताः) त्यक्तप्राणाः। निरुत्साहिनः (ये) (जाताः) उत्पन्ना बालकाः (यज्ञियाः) पूजार्हाः। वृद्धाः। अन्यत् पूर्ववत्—अ० १८। ३। ७२ ॥

५८—(वृषा) वृषु सेचने परमैश्वर्ये च-कनिन्। परमैश्वर्यवान्। इन्द्रः। परमेश्वरः (मतीनाम्) बुद्धीनाम् (पवते) शोधको भवति (विचक्षणः) विशेषेण द्रष्टा (सूरः) प्रेरकः सूर्यः (अह्नाम्) दिनानाम् (प्रतरीता)

बेलाओं का (प्रतरीता) फैलाने वाला है। (सिन्धूनाम्) नदियों के (प्राणः) प्राण [चेष्टा देने वाले उस परमेश्वर] ने (मनीषया) बुद्धिमत्ता से (इन्द्रस्य) सूर्य के (हार्दिम्) हार्दिक शक्ति में (आविशन्) प्रवेश करके (कलशान्) कलसों [घड़ों समान मेघों] को (अचिक्रदत्) गुंजाया है ॥ ५८ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने प्रकाश से सब पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे ही परमात्मा अपने ज्ञान से आज्ञाकारी भक्तों की बुद्धियों को निर्मल करता है, वही परमेश्वर सूर्य के भीतर आकर्षण गुण देकर मेघों में गर्जन उत्पन्न करता और जल बरसाता है ॥ ५८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—९। ८६। १९ और सामवेद में पू० ६। ७। ६ तथा उ० २। १। १७ ॥

त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु दिवि षंछुक्र आततः।
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥ ५९ ॥

त्वेषः। ते। धूमः। ऊर्णोतु। दिवि। सन्। शुक्रः। आऽततः॥
सूरः। न। हि। द्युता। त्वम्। कृपा। पावक। रोचसे ॥५९॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (ते) तेरा (सन्) श्रेष्ठ, (शुक्रः) निर्मल (आततः) सब ओर फैला हुआ (त्वेषः) प्रकाश [हम को] (दिवि) आकाश में (धूमः) भाप [जैसे,वैसे] (ऊर्णोतु) ढक लेवे। (पावक) हे शोधक! [परमेश्वर] (सूरः न) जैसे सूर्य (द्युता) अपने प्रकाश से [वैसे] (त्वम्) तू

तरतेस्तृच्। वॄतो वा। पा० ७। २। ३८। इति इडागमस्य दीर्घः। प्रवर्धयिता (दिवः) स्वप्रकाशात् (प्राणः) प्राणयिता। चेष्टयिता (सिन्धूनाम्) नदीनाम् (कलशान्) कलशसदृशान् मेघान् (अचिक्रदत्) क्रद आह्वानरोदनयोः-णिचि लुङि रूपम्। प्रतिध्वनिं कारितवान् (इन्द्रस्य) सूर्यस्य) (हार्दिम्) अ० ६। ८९। १। हृद्-इञ्। हार्दिकां शक्तिम् (आविशन्) प्रविशन् (मनीषया) बुद्धिमत्तया ॥

५९— (त्वेषः) त्विष दीप्तौ—पचाद्यच्। प्रकाशः (ते) तव (धूमः) वाष्पो यथा (ऊर्णोतु) आच्छादयतु (दिवि) आकाशे (सन्) श्रेष्ठः (शुक्रः) शुक्लः। शुद्धः (आततः) समन्तात् विस्तीर्णः (सूरः) प्रेरकः सूर्यः (न) यथा (हि) निश्चयेन (द्युता) दीप्त्या (त्वम्) (कृपा) कृपू सामर्थ्ये—क्विप्। कृपया।

(हि) ही (कृपा) अपनी कृपा से (रोचसे) चमकता है ॥ ५६ ॥

भावार्थ—जैसे मेघ के कण आकाश में व्यापक रहते हैं, वैसे ही परमात्मा को हम लोग सर्वत्र व्यापक साक्षात् करें, वह कृपालु जगदीश्वर सूर्य समान सब में प्रकाशमान है ॥ ५६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६।२।६ और सामवेद में पू० १।६।३ ॥

प्र वा एतीन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सख्युर्न प्र मिनाति संगिरः। मर्य इव योषाः समर्षसे सोमः कलशे शतयामना पथा ॥ ६० ॥ (२५)

प्र। वै। एति। इन्दुः। इन्द्रस्य। निः-कृतिम्। सखा। सख्युः। न। प्र। मिनाति। सम्-गिरः॥ मर्यः-इव। योषाः। सम्। अर्षसे। सोमः। कलशे। शत-यामना। पथा ॥६०॥ (२५)

भाषार्थ—(इन्दुः) ऐश्वर्यवान् जीवात्मा (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर की (निष्कृतिम्) निस्तार शक्ति को (वै) निश्चय करके (प्र) आगे को (एति) पाता जाता है, (सखा) सखा [परमात्मा का मित्र जीव] (सख्युः) सखा [अपने मित्र जगदीश्वर] की (संगिरः) उचित वाणियों को (न) नहीं (प्र मिनाति) तोड़ देता है। (मर्यः इव) जैसे मनुष्य (योषाः) अपनी स्त्री को [प्रीति से वैसे] (सोमः) प्रेरक आत्मा तू (कलशे) कलस [घट रूप हृदय] के भीतर (शतयामना) सैकड़ों गति वाले (पथा) मार्ग से

दयया (पावक) हे शोधक परमात्मन् (रोचसे) दीप्यसे ॥

६०— (प्र) प्रकर्षेण (वै) निश्चयेन (एति) प्राप्नोति (इन्दुः) ऐश्वर्यवान् जीवात्मा (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः परमेश्वरस्य (निष्कृतिम्) निस्तारशक्तिम्। निर्मुक्तिम् (सखा) सुहृद्वज्जीवात्मा (सख्युः) सर्वमित्रस्य परमात्मनः (न) निषेधे (प्र) (मिनाति) मीञ् हिंसायाम्। मीनातेर्निगमे। पा० ७।३।८१। इति ह्रस्वत्वम्। हिनस्ति (संगिरः) गॄ विज्ञापने-क्विप्। संगरान्। समीचीनवचनानि (मर्यः) मनुष्यः (इव) यथा (योषाः) सुपां सुपो भवन्ति। वा० पा० ७।१।३९। एकवचनस्य बहुवचनम्। योषाम्।

[परमात्मा को] (सम्) यथाविधि (अर्षसे) प्राप्त होता है ॥ ६० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा की आज्ञाओं का पालन करता है, वही पापों से छूटकर मोक्ष सुख भोगता है, और जैसे स्त्री पुरुष गृहाश्रम की सिद्धि के लिये परस्पर हार्दिक प्रीति करते हैं, वैसे ही योगी पुरुष अनेक प्रकार से अपने हृदय में परमात्मा का दर्शन करके उसके साथ प्रीति में मग्न हो जाता है ॥ ६० ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६ । ८६ । १६ और सामवेद में है—पू० ६ । ७ । ४ तथा उ० ४ । २ । ७ ॥

मन्त्राः ६१—६८ ॥

पितरो देवताः ॥ ६१ अनुष्टुप्, ६२ भुरिगार्षी पङ्क्तिः; ६३ स्वराडार्षी पङ्क्तिः; ६४, ६५ त्रिष्टुप्; ६६ भुरिग् गायत्री; ६७ निचृदार्च्यनुष्टुप्; ६८ आसुर्यनुष्टुप् ॥

पितृसत्कारोपदेशः—पितरों के सत्कार का उपदेश ॥

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाँ अधूषत ।

अस्तोषत स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे ॥ ६१ ॥

अक्षन् । अमीमदन्त । हि । अव । प्रियान् । अधूषत ॥

अस्तोषत । स्व-भानवः । विप्राः । यविष्ठाः । ईमहे ॥ ६१ ॥

भावार्थ—(स्वभानवः) अपना ही प्रकाश रखने वाले, (विप्राः) बुद्धिमान्, (यविष्ठाः) महाबली [पितरों] ने (अक्षन्) भोजन खाया है और

सेवनीयां स्त्रियम् (सम्) सम्यक् (अर्षसे) ऋषी गतौ, भौवादिकः । प्राप्नोषि (सोमः) सोमः सूर्यः प्रसवनात्, सोम आत्माऽप्येतस्मादेव—निरु० १४ । १२ । प्रेरको जीवात्मा (कलशे) घटरूपे हृदये (शतयामना) अल्लोपोऽनः । पा० ६ । ४ । १३४ । इति प्राप्तस्य अकारलोपस्याभावश्छान्दसः । शतयाम्ना । बहुगतियुक्तेन (पथा) मार्गेण ॥

६१—(अक्षन्) अद भक्षणे—लुङ्, घस्लादेशः । अघसन् । भोगान् भक्षितवन्तः (अमीमदन्त) मद तृप्तियोगे, चुरादेरात्मनेपदिनश्चङि रूपम् । आनन्दं प्राप्तवन्तः (हि) अवधारणे (अव) निश्चयेन (प्रियान्) प्रीतिकरान् बान्धवान्

(अमीमदन्त) आनन्द पाया है, उन्होंने (हि) ही (प्रियान्) अपने प्रिय [बान्धवों] को (अव) निश्चय करके (अधूषत) शोभायमान किया है और (अस्तोषत) बड़ाई योग्य बनाया है, (ईमहे) [उन से] हम विनय करते हैं ॥ ६१ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को विनय करके विद्यावृद्ध, बलवृद्ध और वयोवृद्ध पुरुषों का सदा सत्कार करना चाहिये, जिस से वे प्रसन्न होकर उत्तम उत्तम शिक्षा दिया करें ॥ ६१ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । ८२ । २ । यजुर्वेद में ३ । ५१ और सामवेद में—पू० ५ । ३ । ७ ॥

आ यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पितृयाणैः । आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥ ६२ ॥

आ । यात । पितरः । सोम्यासः । गम्भीरैः । पथि-भिः । पितृ-यानैः ॥ आयुः । अस्मभ्यम् । दधतः । प्र-जाम् । च । रायः । च । पोषैः । अभि । नः । सचध्वम् ॥ ६२ ॥

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो ! [पिता आदि मान्यो] (सोम्यासः) प्रियदर्शन तुम (गम्भीरैः) गम्भीर [शान्त], (पितृयाणैः) पितरों के चलने योग्य (पथिभिः) मार्गों से (आ यात) आओ । (च) और (अस्मभ्यम्) हम को (आयुः) जीवन (च) और (प्रजाम्) प्रजा [पुत्र, पौत्र, सेवक

(अधूषत) धूष कान्तिकरणे—लङ् । तिङां तिङो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । बहुवचनस्यैकवचनम् । अधूषन्त । शोभायमानान् कृतवन्तः (अस्तोषत) स्तुत्यान् कृतवन्तः (स्वभानवः) स्वकीया भानुर्दीप्तिः प्रकाशो येषां ते (विप्राः) मेधाविनः (यविष्ठाः) युवन्—इष्ठन् । स्थूलदूरयुवह्रस्व० । पा० ६ । ४ । १५६ । इति वकारस्य लोप उकारस्य च गुणः । अतिशयेन युवानः । निसर्गबलिनः (ईमहे) याच्ञाकर्मा—निघ० ३ । १९ । याचामहे । प्रार्थयामहे । विनयामः ॥

६२—(आ यात) आगच्छत (पितरः) हे पालका ज्ञानिनः (सोम्यासः) प्रियदर्शना यूयम् (गम्भीरैः) गभीरगम्भीरौ । उ० ४ । ३५ । गम्लृ गतौ—ईरन् नुगागमः । शान्तैः । गहनैः (पथिभिः) मार्गैः (पितृयाणैः) पितृ-

आदि] (ददतः) देते हुये तुम (रायः) धन की (पोषैः) वृद्धियों से (नः) हमें (अभि) सब ओर (सचध्वम्) सींचो ॥ ६२ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य शान्तचित्त, शान्ति के मार्ग पर चलने वाले विद्वान् महात्माओं का सत्संग करते रहते हैं, वह उत्तम जीवन और श्रेष्ठ सन्तान आदि प्रजा पाकर बहुत धनी होते हैं ॥ ६२ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से आ चुका है—अ० ६। ४। २२ ॥

परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः । अधा मासि पुनरा यात नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः ॥६३॥

परा । यात । पितरः । सोम्यासः । गम्भीरैः । पथि-भिः । पूः-यानैः ॥ अध । मासि । पुनः । आ । यात । नः । गृहान् । हविः । अत्तुम् । सु-प्रजसः । सु-वीराः ॥ ६३ ॥

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो ! [पिता आदि मान्यो] (सोम्यासः) प्रियदर्शन तुम (गम्भीरैः) गम्भीर [शान्त], (पूर्याणैः) नगरों को जाने वाले (पथिभिः) मार्गों से (परा) प्रधानता के साथ (यात) चलो । (अध) और (पुनः) अवश्य (मासि) महीने महीने (सुप्रजसः) उत्तम प्रजाओं वाले और (सुवीराः) उत्तम वीरों वाले तुम (नः) हमारे (गृहान्) घरों में (हविः) भोजन (अत्तुम्) खाने के लिये (आ यात) आओ ॥ ६३ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग विद्वान् पितर महात्माओं के दर्शन से सदा लाभ उठावें और दर्शेष्टि और पूर्णमासेष्टि आदि नियत समय पर तो अवश्य

भिर्गमनयोग्यैः (ददतः) प्रयच्छन्तः (सचध्वम्) सिञ्चत । अन्यद् गतम् अ० ६ । ४ । २२ ॥

६३—(परा) प्राधान्येन । अन्यत् पूर्ववत्-म० ६२ (पूर्याणैः) अ० १८ । १ । ५४ । पुरो नगरान् गच्छद्भिः (अध) अथ (मासि) प्रतिमासं दर्शेष्टौ पूर्णमासेष्टौ च (पुनः) अवश्यम् (आयात) आगच्छत (नः) अस्माकम् (गृहान्) निवासान् (हविः) ग्राह्यं भोजनम् (अत्तुम्) भक्षयितुम् (सुप्रजसः)

उन के सत्संग से आनन्द पावें ॥ ६३ ॥

इस मन्त्र के प्रथम पाद को मिलाओ—अ० १८ । ३ । १४ ॥

यद् वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः । तद् व एतत् पुनरा प्यायामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम्॥६४॥

यत् । वः । अग्निः । अजहात् । एकम् । अङ्गम् । पितृ-लोकम् । गमयन् । जात-वेदाः ॥ तत् । वः । एतत् । पुनः । आ । प्यायामि । स-अङ्गाः । स्वः-गे । पितरः । मादयध्वम् ॥६४॥

भाषार्थ—[हे पितरो !] (वः) तुम्हारे (यत्) जिस (एकम्) एक (अङ्गम्) अङ्ग को (पितृलोकम्) पितृ समाज में [मनुष्यों को] (गमयन्) ले चलते हुये, (जातवेदाः) धनों के उत्पन्न करने वाले (अग्निः) अग्नि [शारीरिक पराक्रम] ने (अजहात्) त्याग दिया है। (वः) तुम्हारे (तत्) उस [अङ्ग] को (एतत्) अब (पुनः) निश्चय करके (आ) सब प्रकार (प्यायामि) मैं पूरा करता हूं, (साङ्गाः) पूरे अङ्ग वाले (पितरः) पालक ज्ञानी होकर तुम (स्वर्गे) सुख पहुंचाने वाले पद पर (मादयध्वम्) आनन्द पाओ ॥ ६४ ॥

भावार्थ—यदि विद्वान् पिता आदि बड़ों के अङ्ग में थकान आदि से कुछ हानि होवे, गृहस्थ सुसन्तान आदि उसका प्रतिकार करके उन्हें प्रसन्न करें ॥ ६४ ॥

अभूद् दूतः प्रहितो जातवेदाः सायं न्यह्न उपवन्द्यो नृभिः । प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥६५

६४— (यत्) (वः) युष्माकम् (अग्निः) शारीरिकपराक्रमः (अजहात्) ओ हाक् त्यागे। त्यक्तवान् (अङ्गम्) अवयवम् (पितृलोकम्) विदुषां समाजम् (गमयन्) प्रापयन् (जातवेदाः) जातान्युत्पन्नानि वेदांसि धनानि यस्मात्सः (तत्) अङ्गम् (वः) युष्माकम् (एतत्) इदानीम् (पुनः) निश्चयेन (आ) समन्तात् (प्यायामि) वर्धयामि। पूरयामि (साङ्गाः) सम्पूर्णावयवाः (स्वर्गे) सुखप्रापके पदे (पितरः) (मादयध्वम्) मोदध्वम् ॥

अभूत् । दूतः । प्र-हितः । जात-वेदाः । सायम् । नि-अह्ने । उप-वन्द्यः । नृ-भिः ॥ प्र । अदाः । पितृ-भ्यः । स्वधया । ते । अक्षन् । अद्धि । त्वम् । देव । प्र-यता । हवींषि ॥ ६५ ॥

भाषार्थ—(दूतः) चलने वाला [उद्योगी] (प्रहितः) बड़ा हितकारी (जातवेदाः) महाज्ञानी [वा महाधनी] पुरुष (सायम्) सायंकाल में और (न्यह्ने) प्रातः काल में (नृभिः) नेताओं करके (उपवन्द्यः) बहुत प्रशंसनीय (अभूत्) हुआ है । [इस लिये] (पितृभ्यः) पितरों [रक्षक महात्माओं] को (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (प्रयता) शुद्ध [वा प्रयत्न से सिद्ध किये] (हवींषि) ग्रहण करने योग्य भोजन (प्र) अच्छे प्रकार (अदाः) तू ने दिये हैं,(ते) उन्होंने (अक्षन्) खाये हैं,(देव) हे विद्वान् ! (त्वम्) तू (अद्धि) खा ।६५

भावार्थ—उद्योगी, हितकारी विद्वान् लोग सदा से बड़े लोगों के माननीय हुये हैं, इस लिये मनुष्य भोजन आदि से विद्वानों का सत्कार करके अपनी रक्षा करें और कीर्ति बढ़ावें ॥ ६५ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध ऊपर आचुका है—अ० १८ । ३ । ४२ । और पूर्वार्द्ध का मिलान करो—ऋग्० ४ । ५४ । १ ॥

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः ।
अभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥

असौ । हे । इह । ते । मनः । ककुत्सलम्-इव । जामयः ॥ अभि । एनम् । भूमे । ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥

६५—(अभूत्) (दूतः) दुतनिभ्यां दीर्घश्च । उ० ३ । ९० । दु गतौ—क्त । गमनशीलः । उद्योगी (प्रहितः) प्रकृष्टो हितकारी (जातवेदाः) उत्पन्नज्ञानः । बहुधनः (सायम्) सूर्यास्ते (न्यह्ने) निगते निश्चयेन प्राप्ते दिने । प्रातःकाले (उपवन्द्यः) महाप्रशंसनीयः (नृभिः) नेतृभिः (प्र) प्रकर्षेण (अदाः) दत्तवानसि (पितृभ्यः) (स्वधया) स्वधारणशक्त्या (ते) पितरः (अक्षन्) अघसन् । अभक्षयन् (अद्धि) भक्षय (त्वम्) (देव) हे विद्वन् (प्रयता) शुद्धानि । प्रयत्नेन साधितानि (हवींषि) ग्राह्याणि भोजनानि ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (असौ) वह [पिता आदि] (हे) निश्चय करके (इह) यहां पर [हम में] (ते) तेरे (मनः) मन को [ढकता है], (इव) जैसे (जामयः) कुल स्त्रियां (ककुत्सलम्) सुख का शब्द सुनाने वाले को [अर्थात् लड़ैते बालक को वस्त्र से ढकती हैं]। (भूमे) हे भूमि तुल्य [सर्वाधार विद्वान् !] (एनम्) इस [पिता आदि जन] को (अभि) सब ओर से (ऊर्णुहि) तू ढक [सुख दे] ॥ ३६ ॥

भावार्थ—जैसे माता पिता आदि पितर लोग छोटे प्रिय सन्तान को वस्त्र आदि से रक्षा करते और ज्ञान देते हैं, वैसे ही वे लोग उन पिता आदि की यथोचित सेवा करें ॥ ६६ ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद आ चुका है—अ० १८ । २ । ५०, ५१, तथा १८ । ३ । ५० और इस मन्त्र का मिलान भी उन मन्त्रों से करो ॥

शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥ ६७ ॥

शुम्भन्ताम् । लोकाः । पितृ-सदनाः । पितृ-सदने । त्वा । लोके । आ । सादयामि ॥ ६७ ॥

भाषार्थ—(पितृषदनाः) पितरों [ज्ञानियों] की बैठक वाले (लोकाः) समाज (शुम्भन्ताम्) शोभायमान होवें, (पितृषदने) पितरों की बैठक वाले (लोके) समाज में (त्वा) तुझे (आ सादयामि) मैं बिठालता हूं ॥ ६७ ॥

भावार्थ—ज्ञानी लोग ही विद्वानों के समाजों में शोभा पाते हैं, इसलिये

६६—(असौ) पित्रादिः (हे) निश्चयेन (इह) अत्र । अस्मासु (ते) तव (मनः) अन्तःकरणम् (ककुत्सलम्) क+कु कुङ् वा शब्दे—क्विप्, तुक्+षल गतौ—अच् । कस्य सुखस्य शब्दप्रापकं प्रियवाचं सन्तानम् (इव) यथा (जामयः) कुलस्त्रियः (अभि) सर्वतः (एनम्) पित्रादिकम् (भूमे) हे भूमितुल्य सर्वाधार विद्वन् (ऊर्णुहि) आच्छादय । सुखय ॥

६७—(शुम्भन्ताम्) शुम्भ शोभायाम् । शोभायमाना भवन्तु (लोकाः) समाजाः (पितृषदनाः) पितृणां सदनयुक्ताः (पितृषदने) पितृणां सदनयुक्ते (त्वा) त्वाम् (लोके) समाजे (आ) समन्तात् (सादयामि) स्थापयामि ॥

माता पिता आदि प्रयत्न करें कि उन के सन्तान भी विद्वानों में प्रतिष्ठा पावें ॥ ६७ ॥

इस मन्त्र का पहिला पाद कुछ भेद से यजुर्वेद में है—५ । २६ ॥

ये ३ऽस्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि ॥ ६८ ॥

ये । अस्माकम् । पितरः । तेषाम् । बर्हिः । असि ॥ ६८ ॥

भाषार्थ—(ये) जो पुरुष (अस्माकम्) हमारे बीच (पितरः) पितर [ज्ञानी पुरुष] हैं, (तेषाम्) उनका [यहां] (बर्हिः) उत्तम आसन (असि) है ॥ ६८ ॥

भावार्थ—मनुष्य ध्यान रक्खें कि सर्वहितकारी ज्ञानी पुरुष सदा प्रतिष्ठा पावें ॥ ६८ ॥

मन्त्रौ ६९, ७० ॥

वरुणो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ।

ईश्वरनियमोपदेशः—ईश्वर के नियमों का उपदेश ॥

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ ६९ ॥

उत् । उत्-तमम् । वरुण । पाशम् । अस्मत् । अव । अधमम् । वि । मध्यमम् । श्रथय ॥ अध । वयम् । आदित्य । व्रते । तव । अनागसः । अदितये । स्याम ॥ ६९ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे स्वीकार करने योग्य ईश्वर ! (अस्मत्) हम से (उत्तमम्) ऊंचे वाले (पाशम्) पाश को (उत्) ऊपर से, (अधमम्) नीचे वाले को (अव) नीचे से, और (मध्यमम्) बीच वाले को (वि) विविध प्रकार से (श्रथय) खोल दे । (आदित्य) हे सर्वत्र प्रकाशमान वा अखण्ड-नीय जगदीश्वर ! (अध) फिर (वयम्) हम लोग (ते) तेरे (व्रते) वरणीय नियम में (अदितये) अदीना पृथिवी के [राज्य के] लिये (अनागसः)

६८—(ये) पुरुषाः (अस्माकम्) अस्माकं मध्ये (पितरः) पालका ज्ञानिनः (तेषाम्) पितॄणाम् (बर्हिः) उत्तमासनम् (असि) प्रथमस्य मध्यम-पुरुषः । अस्ति । भवति ॥

६९—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ७ । ८३ । ३ ॥

निरपराधी (स्याम) होवें ॥ ६९ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन कर के धर्माचरण से भूत, भविष्यत्, और वर्तमान क्लेशों को अलग कर के सदा सुखी रहें ॥ ६९ ॥

यह मन्त्र ऊपर आ चुका है—अ० ७ । ८३ । ३ ॥

प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् यैः समामे बध्यते यैर्व्यामे । अधा जीवेम शरदं शतानि त्वया राजन् गुपिता रक्षमाणाः ॥ ७० ॥ (२६)

प्र । अस्मत् । पाशान् । वरुण । मुञ्च । सर्वान् । यैः । सम्-आमे । बध्यते । यैः । वि-आमे ॥ अध । जीवेम । शरदम् । शतानि । त्वया । राजन् । गुपिताः । रक्षमाणाः ॥ ७० ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे दुःख निवारक परमेश्वर ! (अस्मत्) हम से (सर्वान्) सब (पाशान्) फन्दों को (प्र मुञ्च) खोल दे, (यैः) जिन [फन्दों] से (समामे) छूत रोग में, और (यैः) जिन से (व्यामे) विशेष रोग में (बध्यते) [प्राणी] बांधा जाता है। (अध) तब (राजन्) हे राजन् ! [परमेश्वर] (त्वया) तुझ कर के (गुपिताः) रक्षा किये गये और (रक्षमाणाः) [दूसरों की] रक्षा करते हुये हम (शतानि) सैकड़ों (शरदम्) बरसों तक (जीवेम) जीवें ॥ ७० ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जो कोई रोग परस्पर छूत से वा कुपथ्य आदि दोष से हो जावें, परमेश्वर की उपासना करते हुये वैद्यराजों की सम्मति से उन रोगों का निवारण करके स्वस्थ रहकर सब की रक्षा करें। ७० ॥

७०—(प्रमुञ्च) सर्वथा मोचय (अस्मत्) अस्मत्तः (पाशान्) बन्धान् (वरुण) हे दुःखनिवारकपरमात्मन् (सर्वान्) (यैः) पाशैः (समामे) सम्+अम रोगे पीडने—घञ् । संगतिरोगे । सम्पर्केण प्राप्ते रोगे (बध्यते) बन्धं प्राप्नोति (यैः) (व्यामे) विशेषरोगे (जीवेम) प्राणान् धारयेम (शरदम्) शरदः । संवत्सरान् (शतानि) बहुसंख्याकानि (त्वया) (राजन्) हे शासक परमात्मन् (गुपिताः) रक्षिताः (रक्षमाणाः) अन्यान् रक्षन्तः ॥

इस मन्त्र का प्रथम पाद आ चुका है—अ० ७ । ८३ । ४ ॥

मन्त्र ७१—८७ ॥

पितरो देवताः ॥ ७१ आसुर्यनुष्टुप्; ७२—७४, ७६ आसुरी पङ्क्तिः; ७५ आसुरी गायत्री; ७६ आसुर्युष्णिक्; ७७ दैवो जगती; ७८ आसुरी त्रिष्टुप्; ८० आसुरो जगती; ८१ भुरिक् प्राजापत्याऽनुष्टुप्; ८२ साम्नी बृहती; ८३, ८४ साम्नी त्रिष्टुप्; ८५ आसुरीबृहती; ८६ भुरिगार्ष्युष्णिक्; ८७ निचृदार्ष्युष्णिक् ॥

पितृसन्मानोपदेशः—पितरों के सन्मान का उपदेश ॥

अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः ॥ ७१ ॥

अग्नये । कव्य-वाहनाय । स्वधा । नमः ॥ ७१ ॥

सोमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ ७२ ॥

सोमाय । पितृ-मते । स्वधा । नमः ॥ ७२ ॥

पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः ॥ ७३ ॥

पितृ-भ्यः । सोमवत्-भ्यः । स्वधा । नमः ॥ ७३ ॥

यमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ ७४ ॥

यमाय । पितृ-मते । स्वधा । नमः ॥ ७४ ॥

भाषार्थ—(कव्यवाहनाय) बुद्धिमानों को हितकारी पदार्थों के पहुंचाने वाले (अग्नये) विद्वान् पुरुष को (स्वधा) अन्न और (नमः) नमस्कार होवे ॥ ७१ ॥

(पितृमते) श्रेष्ठमातापिता वाले (सोमाय) प्रेरक पुरुष को (स्वधा) अन्न और (नमः) नमस्कार हो ॥ ७२ ॥

(सोमवद्भ्यः) बड़े ऐश्वर्य वाले (पितृभ्यः) पितरों [माता पिता

७१—(अग्नये) विदुषे पुरुषाय (कव्यवाहनाय) कविर्मेधाविनाम—निघ० ३ । १५ । कविभ्यो मेधाविभ्यो हितपदार्थानां प्रापकाय (स्वधा) अन्नम् निघ० २ । ७ (नमः) सत्करणम् ॥

७२—(सोमाय) प्रेरकपुरुषाय (पितृमते) प्रशस्तमातापितृभिर्युक्ताय । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७३—(पितृभ्यः) मातापित्रादिपालकज्ञानिभ्यः (सोमवद्भ्यः) परमैश्वर्य-

आदि पालक ज्ञानियों] को (स्वधा) अन्न और (नमः) नमस्कार हो ॥ ७३ ॥

(पितृमते) श्रेष्ठ माता पिता वाले (यमाय) न्यायाधीश राजा को (स्वधा) अन्न (नमः) नमस्कार हो ॥ ७४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि विविध प्रकार के विद्वान् माननीय पुरुषों का अन्न आदि से सत्कार करके विविध शिक्षा ग्रहण करें ॥ ७१—७४ ॥

मन्त्र ७१, ७२ कुछ भेद से यजुर्वेद में हैं—२ । २६ ॥

एतत् ते॑ प्रततामह स्व॒धा ये च॑ त्वामनु॑ ॥ ७५ ॥

एतत् । ते॒ । प्र॒ऽत॒ता॒म॒ह॒ । स्व॒धा । ये । च॒ । त्वाम् । अनु॑ ॥७५

एतत् ते॑ ततामह स्व॒धा ये च॑ त्वामनु॑ ॥ ७६ ॥

एतत् । ते॒ । त॒ता॒म॒ह॒ । स्व॒धा । ये । च॒ । त्वाम् । अनु॑ ॥७६॥

एतत् ते॑ तत स्व॒धा ॥७७॥ एतत् । ते॒ । त॒त॒ । स्व॒धा ॥ ७७ ॥

भाषार्थ—(प्रततामह) हे परदादे ! (एतत्) यहां (ते) तेरे लिये (स्वधा) अन्न हो, (च) और [उन के लिये भी अन्न हो] (ये) जो (त्वाम् अनु) तेरे साथ हैं ॥ ७५ ॥

(ततामह) हे दादे ! (एतत्) यहां (ते) तेरे लिये (स्वधा) अन्न हो,(च) और [उन के लिये अन्न हो] (ये) जो (त्वाम् अनु) तेरे साथ हैं ॥ ७६ ॥

(तत) हे पिता ! (एतत्) यहां (ते) तेरे लिये (स्वधा) अन्न हो ॥७७॥

भावार्थ—सन्तानों को चाहिये कि बड़ों से आरंभ करके परदादी परदादा, दादी दादा माता पिता आदि मान्यों की अन्न आदि से सेवा करके उत्तम शिक्षा और आशीर्वाद पावें ॥ ७५—७७ ॥

युक्तेभ्यः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७४—(यमाय) न्यायाधीशाय राज्ञे (पितृमते) म० ७२ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७५—(एतत्) अत्र (ते) तुभ्यम् (प्रततामह) तनु विस्तारे—क्त । तत इति सन्तानानाम पितुर्वा पुत्रस्य वा—निरु० ६ । ६ । पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः । पा० । ४ । २ । ३६ । प्रतत—डामहच्, बाहुलकात् । हे प्रपितामह (स्वधा) अन्नम् (ये) (च) तेभ्यश्च (त्वाम्) (अनु) अनुसृत्य वर्तन्ते ॥

७६—(ततामह) म० ७५ । हे पितामह । अन्यत् पूर्ववत् ।

७७—(तत) म० ७५ । हे पितः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः ॥ ७८ ॥

स्वधा । पितृ-भ्यः । पृथिविसत्-भ्यः ॥ ७८ ॥

स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः ॥ ७९ ॥

स्वधा । पितृ-भ्यः । अन्तरिक्षसत्-भ्यः ॥ ७९ ॥

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥ ८० ॥ (२७)

स्वधा । पितृ-भ्यः । दिविसत्-भ्यः ॥ ८० ॥ (२७)

भाषार्थ—(पृथिविषद्भ्यः) पृथिवी की विद्या में गति वाले (पितृभ्यः) पितरों [पालक ज्ञानियों] को (स्वधा) अन्न हो ॥ ७८ ॥

(अन्तरिक्षसद्भ्यः) आकाश विद्या में गति वाले (पितृभ्यः) पितरों [पालक ज्ञानियों] को (स्वधा) अन्न हो ॥ ७९ ॥

(दिविषद्भ्यः) प्रकाश विद्या में गति वाले (पितृभ्यः) पितरों [पालक ज्ञानियों] को (स्वधा) अन्न हो ॥ ८० ॥

७८—८० इन मन्त्रों का मिलान करो यजु० ६ । २ ॥

भावार्थ—जो पितर पण्डित लोग पृथिवी अर्थात् राज्यविद्या, भूगर्भ विद्या आदि में चतुर हों, जो ज्योतिषी आकाश विद्या-अर्थात् सौर मण्डल, तारामण्डल, वायुमण्डल आदि विद्या में दक्ष हों और जो महापुरुष अन्य व्यवहारों अर्थात् संग्राम विद्या, धर्म शिक्षा आदि विद्या में गुणी होवें, सब मनुष्य ऐसे महात्माओं का सदा आदर करते रहें ॥ ७८—८० ॥

नमो वः पितर ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय ॥ ८१ ॥

नमः । वः । पितरः । ऊर्जे । नमः । वः । पितरः । रसाय ॥ ८१

नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे ॥ ८२ ॥

७८—(स्वधा) अन्नम् (पितृभ्यः) पालकज्ञानिभ्यः (पृथिविषद्भ्यः) ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् । पा० ६ । ३ । ६३ । इति ह्रस्वः । पृथिवीविद्यायां गतिशीलेभ्यः ॥

७९—(अन्तरिक्षसद्भ्यः) आकाशविद्यायां गतिशीलेभ्यः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

८०—(दिविषद्भ्यः) सप्तम्या अलुक् । प्रकाशविद्यायां गतिशीलेभ्यः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

नमः । वः । पितरः । भामाय । नमः । वः । पितरः । मन्यवे ॥ ८२ ॥

नमो वः पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत् क्रूरं तस्मै ॥ ८३ ॥

नमः । वः । पितरः । यत् । घोरम् । तस्मै । नमः । वः । पितरः । यत् । क्रूरम् । तस्मै ॥ ८३ ॥

नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत् स्योनं तस्मै ॥ ८४ ॥

नमः । वः । पितरः । यत् । शिवम् । तस्मै । नमः । वः । पितरः । यत् । स्योनम् । तस्मै ॥ ८४ ॥

नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः ॥ ८५ ॥

नमः । वः । पितरः । स्वधा । वः । पितरः ॥ ८५ ॥

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (ऊर्जे) पराक्रम पाने के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो, (पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (रसाय) रस [ज्ञानरस, ओषधिरस, और दूध, जल, विद्या आदि रस] पाने के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो ॥ ८१ ॥

(पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (भामाय) प्रताप की प्राप्ति के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो, (पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (मन्यवे) क्रोध की निवृत्ति के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो ॥ ८२ ॥

(पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (यत्) जो कुछ (घोरम्)

८१—(नमः) सत्करणम् (वः) युष्मभ्यम् (पितरः) हे पित्रादिपालकज्ञानिनः (ऊर्जे) क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । पा० २ । ३ । १४ । तुमुनः कर्मणि चतुर्थी । ऊर्जं पराक्रमं प्राप्तुम् (रसाय) ज्ञानरसौषधिरसदुग्धजलविद्यादिरसान् प्राप्तुम् । अन्यद् गतम् ॥

८२—(भामाय) अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभा० । उ० १ । १४० । भा दीप्तौ—मन् । भामं प्रकाशं प्रतापं प्राप्तुम् (मन्यवे) यथा म० ८१ । मन्युं क्रोधं निवर्तयितुम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

घोर [दारुण दुःख] है, (तस्मै) उसे हटाने के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो, (पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (यत्) जो कुछ (क्रूरम्) क्रूर [निर्दयता] है, (तस्मै) उसे दूर करने के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो ॥ ८३ ॥

(पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (यत्) जो कुछ (शिवम्) मङ्गलकारी है, (तस्मै) उसे पाने के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो, (पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (यत्) जो कुछ (स्योनम्) सुखदायक है, (तस्मै) उसके लाभ के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो ॥ ८४ ॥

(पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो, (पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (वः) तुम्हारे लिये (स्वधा) अन्न हो ॥ ८५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि पराक्रम आदि शुभ गुणों की प्राप्ति के लिये और क्रोध आदि दुर्गुणों की निवृत्ति के लिये ज्ञानी पितरों का अनेक प्रकार सत्कार करके सदुपदेश ग्रहण करें ॥ ८१—८५ ॥

८१—८५ इन मन्त्रों का मिलान करो—यजुर्वेद २ । ३२ तथा महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका पितृयज्ञविषय ॥

येऽत्र॑ पि॒तर॑: पि॒तरो॒ येऽत्र॑ यू॒यं स्थ यु॒ष्मांस्तेऽनु॑ यू॒यं तेषां॒ श्रेष्ठा॑ भूयास्थ ॥ ८६ ॥

ये । अत्र॑ । पि॒तर॑: । पि॒तर॑: । ये । अत्र॑ । यू॒यम् । स्थ । यु॒ष्मान् । ते । अनु॑ । यू॒यम् । तेषा॑म् । श्रेष्ठा॑: । भू॒या॒स्थ॒ ॥ ८६ ॥

य इ॒ह पि॒तरो॑ जी॒वा इ॒ह व॒यं स्मः॑ । अ॒स्मांस्तेऽनु॑ व॒यं तेषां॒

हन हिंसागत्योः—अच् , घुरादेशः । भयानकं दारुणं दुःखम् (तस्मै) यथा म० ८१ । तन्नाशयितुम् (क्रूरम्) कृतेश्छः क्रू च । उ० २ । २१ । कृती छेदने—रक, क्रू इत्यादेशः । निर्दयत्वम् (तस्मै) तद्दूरीकर्तुम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

८४—(यत्) (शिवम्) कल्याणकरम् (तस्मै) तत् प्राप्तुम् (यत्) (स्योनम्) सुखम् (तस्मै) तल्लब्धुम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

८५—(स्वधा) अन्नम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

श्रेष्ठा भूयास्म ॥ ८७ ॥

ये । इह । पितरः । जीवाः । इह । वयम् । स्मः ॥ अस्मान् ।

ते । अनु । वयम् । तेषाम् । श्रेष्ठाः । भूयास्म ॥ ८७ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (अत्र) यहां (पितरः) पितर [पालक ज्ञानी] हैं, (ये) जो (यूयम्) तुम (अत्र) यहां पर (पितरः) पितर (स्थ) हो, (ते) वे लोग (युष्मान् अनु) [उन] तुम्हारे अनुकूल होवें, और (यूयम्) तुम (तेषाम्) उन के बीच (श्रेष्ठाः) श्रेष्ठ (भूयास्थ) होओ ॥ ८६ ॥

(ये) जो (इह) यहां पर (पितरः) पितर [पालक ज्ञानी] हैं, [उन के अनुग्रह से] (वयम्) हम (इह) यहां पर (जीवाः) जीवते हुये [सचेत] (स्मः) हैं, (ते) वे लोग (अस्मान् अनु) हमारे अनुकूल होवें और (तेषाम्) उनके बीच (वयम्) हम (श्रेष्ठाः) श्रेष्ठ (भूयास्म) होवें ८७

भावार्थ—श्रेष्ठ ज्ञानी पितर लोग मिलकर संसार का उपकार करें, जिन के अनुग्रह से सब मनुष्य सचेत और श्रेष्ठ होवें ॥ ८६, ८७ ॥

मन्त्रः—८८ ॥

अग्निर्देवता ॥ स्वराडार्षी बृहती छन्दः ॥

परमात्मोपासनोपदेशः—परमात्मा की उपासना का उपदेश ॥

आ त्वाग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् । यद् घ सा ते पनीयसी सुमिद् दीदयति द्यवि । इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ८८ ॥

आ । त्वा । अग्ने । इधीमहि । द्यु-मन्तम् । देव । अजरम् ॥ यत् । घ । सा । ते । पनीयसी । सम्-इत् । दीदयति । द्यवि ॥ इषम् । स्तोतृ-भ्यः । आ । भर ॥ ८८ ॥

भाषार्थ—(देव) हे आनन्दप्रद ! (अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (द्युमन्तम्) प्रकाशयुक्त (अजरम्) अजर [जरारहित, सदा बलवान्]

८६—(ये) (अत्र) अस्मिन् संसारे (पितरः) पालका ज्ञानिनः (यूयम्) (स्थ) भवथ (युष्मान्) पितॄन् (ते) प्रसिद्धाः (अनु) अनुकूल्य (यूयम्) (तेषाम) तेषां मध्ये (श्रेष्ठाः) प्रशस्यतमाः (भूयास्थ) तस्य थनादेशः । भूयास्त ॥

८७—(जीवाः) जीवनवन्तः । सचेतसः (इह) (वयम्) (स्मः) भवामः (ते) प्रसिद्धाः (अनु) अनुसृत्य । अनुकूल्य (वयम्) अन्यत् पूर्ववत् ॥

८८—(आ) समन्तात् (त्वा) त्वाम् (अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् (इधीमहि) इन्धेर्लिङि रूपम् । दीपयेम (द्युमन्तम्) दीप्तिमन्तम् (देव)

(त्वा) तुझ को (आ) सब ओर से [हृदय में] (इधीमहि) हम प्रकाशित करें। (यत्) जो (सा) वह (घ) निश्चय कर के (ते) तेरी (पनीयसी) अति प्रशंसनीय (समित्) चमक (द्यवि) चमकते हुये [सूर्य आदि में] (दीदयति) चमकती है। [उस से] (इषम्) इष्ट पदार्थ को (स्तोतृभ्यः) स्तुति करने वालों के लिये (आ) सब ओर से (भर) भर दे ॥ ८८ ॥

भावार्थ—जो अजर अमर जगदीश्वर सूर्य अग्नि आदि प्रकाशक पदार्थों का प्रकाशक है, उस प्रकाशस्वरूप को हृदय में धारण करके अपने नेत्रों को दिव्य बनावें और प्रत्येक वस्तु में उस की ज्योति देख कर प्रत्येक वस्तु से इष्ट मनोरथ सिद्ध करें ॥ ८८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५ । ६ । ४ और सामवेद में पू० ५ । ४ । १ तथा उ० ३ । २ । २१ ॥

मन्त्रः—८९ ॥

विश्वेदेवा देवताः ॥ निचृदार्षी पङ्क्तिः ॥

सूर्यचन्द्रादिविषयोपदेशः—सूर्य चन्द्र आदि के विषय का उपदेश ॥

चन्द्रमा अप्स्व१न्तरा सुपर्णो धावते दिवि । न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥८९॥(२८)

चन्द्रमाः । अप्-सु । अन्तः । आ । सु-पर्णः । धावते । दिवि ॥ न । वः । हिरण्य-नेमयः । पदम् । विन्दन्ति । वि-द्युतः । वित्तम् । मे । अस्य । रोदसी इति ॥ ८९ ॥ (२८)

भाषार्थ—(सुपर्णः) सुन्दर पूर्त्ति करने वाला (चन्द्रमाः) चन्द्र लोक (अप्सु अन्तः) [अपने] जलों के भीतर (दिवि) सूर्य के प्रकाश में (आ धावते) दौड़ता रहता है । (हिरण्यनेमयः) हे प्रकाशस्वरूप परमात्मा में सीमा रखने वाले (विद्युतः) विविध प्रकाशमान [सब लोको !] (वः)

हे सुखप्रद (अजरम्) जरारहितम् । बलवन्तम् (यत्) विभक्तेर्लुक् । या (घ) निश्चयेन (सा) प्रसिद्धा (ते) तव (पनीयसी) पनतिः स्तुतिकर्मा । स्तुत्यतरा (समित्) सम्यग् दीप्तिः (दीदयति) दीप्यते (द्यवि) द्योतमाने सूर्यादौ (इषम्) इष्टं पदार्थम् (स्तोतृभ्यः) स्तावकेभ्यः (आ) समन्तात् (भर) धर ॥

८९—(चन्द्रमाः) चन्द्रलोकः (अप्सु) स्वमण्डलस्थेषु जलेषु (अन्तः) मध्ये (आ) समन्तात् (सुपर्णः) धापूवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । सु+पृ पालनपूरणयोः—नप्रत्ययः । सुष्ठु पूरयिता (धावते) शीघ्रं गच्छति (दिवि) सूर्यस्य प्रकाशे (न) निषेधे (वः) युष्माकम् (हिरण्यनेमयः) हर्यतेः कन्यन् हिरच्च । उ० ५ । ४४ । हर्य गतिकान्त्योः—कन्यन् । नियो मिः उ० ४ । ४३ । णीञ् प्रापणे—मिप्रत्ययः । हिरण्ये कमनीये प्रकाशस्वरूपे परमात्मनि नेमिः सीमा

तुम्हारे (पदम्) ठहराव को (न विन्दन्ति) वे [जिज्ञासु लोग] नहीं पाते हैं, (रोदसी) हे पृथिवी और सूर्य के समान स्त्री पुरुषो ! (मे) मेरे (अस्य) इस [वचन] का (वित्तम्) तुम दोनों ज्ञान करो ॥ ८६ ॥

भावार्थ—चन्द्रमा अपने मण्डल के समुद्रों पर सूर्य की किरणों के पड़ने से प्रकाशित होकर अपनी जलमय शीतल किरणों द्वारा पृथिवी के पदार्थों को पुष्ट करता है, इस के अतिरिक्त परमात्मा की अनन्त रचनाओं, अनन्त सूर्य पृथिवी आदि लोकों को जिज्ञासु लोग खोजते जाते हैं और अन्त नहीं पाते। उस जगदीश्वर की महिमा को जानकर सब स्त्री पुरुष अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ ८६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । १०५ । १ और सामवेद में पू० ५ । ३ । ६ और पहिले दो पाद यजुर्वेद में हैं —३३ । ६० ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

इत्यष्टादशं काण्डं समाप्तम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम **श्रीसयाजीराव गायक-वाड़ाधिष्ठित** बड़ोदेपुरीगतश्रावणमास दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित

क्षेमकरणदास त्रिवेदिना ।

कृते अथर्ववेदभाष्ये अष्टादशं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे चैत्रमासे कृष्णैकादश्यां तिथौ १९७५ [पञ्चसप्तत्युत्तर एकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे धीर-वीर-चिरप्रतापि-महायशस्वि **श्रीराजराजेश्वर पञ्चमजार्ज महोदयस्य** सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—ज्येष्ठ शुक्ला १० संवत् १९७६ वि०, ता० ८ जून १९१९ ई० ॥

येषां ते तथा भूतास्तत्सम्बुद्धौ (पदम्) स्थितिम् (विन्दन्ति) लभन्ते (वियुतः) वि + द्युत दीप्तौ—क्विप् । हे विविध प्रकाशमानलोकाः (वित्तम्) जानीतम् । ज्ञानं कुरुतम् (मे) मम (अस्य) वचनस्य (रोदसी) हे द्यावापृथिव्याविव प्रजे स्त्री-पुरुषौ॥

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियां

श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर अन्तरंग सभा के प्रस्ताव संख्या ३ तिथि ६-१२-०३ की प्रति।

ला० दीवान चन्द प्रतिनिधि आर्य समाज बटाला का प्रस्ताव, कि पं० क्षेम-करणदास को अथर्ववेद भाष्य के लिये ४०) मासिक की सहायता दी जावे उपस्थित हुआ। निश्चय हुआ कि २५) मासिक की सहायता एक वर्ष के लिये दी जावे और उसके परिवर्तन में उतने मूल्य की पुस्तकें उनसे स्वीकार की जावें॥

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १९१६ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) और (ब) की लिपि।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावें कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे।

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५८७६ प्राप्त २० जुलाई १९१६)

॥ ओ३म् ॥

मान्यवर नमस्ते!,

आपको ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आपने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने का प्रयत्न किया है। भाष्य कांडों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं। आर्य समाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः वह बड़ा महत्वपूर्णकार्य हो रहा है त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मीमात्र श्री त्रिवेदी जी को उनके महत्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहस प्रदान करें। स्वयम् ग्राहक बने और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्त्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये। समाज के पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुत ही ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्र व्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य को मंगाइये।

भवदीय—

नन्दलाल सिंह,

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१९१४। कार्यालय श्रीमती आर्य **प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध बुलन्दशहर।**

आप का पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धशाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्रधारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आपको उत्तरोत्तर उस महत्त्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

(एम० ए० एल० एल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश मेरठ—१९१३।

ऋग् जुर्वेद का भाष्य श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जीने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया, जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त। आर्यमित्र आगरा २४ जनवरी १९१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक्, साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खें।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो⋯छपाई और कागज़ भी अच्छा है

श्रीयुत महाशय—**मुन्शीरामजी** जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१६६६।

अथर्ववेदभाष्य आपका दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आपका परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१६६६।

अवलोकन करने से उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत पं० **शिवशंकर शर्म्मा** काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्ता वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि सम्पादक आर्यमित्र-८ फ़रवरी १६१२।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।⋯आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आप ने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आपका अथर्ववेदीयभाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित—**भीमसेन शर्म्मा इटावा** उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १६१२।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में⋯⋯अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है अतएव भाष्य भी आर्य सामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता **शिवप्यारी देवी** जी, १३७ हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१६१५॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते।

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैंने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम सभों पर अत्यंत कृपा की है आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पाँचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक **हवनमन्त्राः** को जिसका मूल्य ।)॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है ।

श्रीयुत पंडित—**महावीर प्रसाद द्विवेदी**—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १६१३ ।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रमका यह फल है कि आपने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है ... बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं । स्वर सहित मूल मन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलंकृत किया है ... आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है" । आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है ।

श्रीयुत पंडित—**गणेश प्रसाद शर्मा** सम्पादक भारत सुदशाप्रवर्त्तक फतहगढ़, ता० १२ अप्रैल १६१३ ।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया । वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है । प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है ।

बाबू **कालिका प्रसाद जी**—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८६ ता० २७-३-१३ ।

आप का भेजा अथर्ववेदभाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें । आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे । मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना ।

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्मा**, मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १६१३ ।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है । आपने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है । ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें ।

श्रीयुत महाशय **पंडित श्रीधर पाठक जी**, (सभापति हिन्दी

आप का अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६-लेखक श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है—कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पंडित जी अपना समय वेद अध्यन में लगाते हैं—और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पंडित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है—जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी हैं। इस सम्बन्ध में यह अथर्ववेद के पांच कांड छपवा कर निःसन्देह लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पं० क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई।............ इस समय जो पांच काडों का भाष्य पंडित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द...विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोचकर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे विद्वान पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्होंने अपने सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है........त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर—इस लिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), ***Baroda State,*** *letter No 624 dated 6th February 1913.*

....It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled **अथर्ववेद भाष्यम्.** It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them ...also add on the address lable " For Encouragement Fund.

RAI THAKUR DATTA RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail Khan Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya:—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAHAABD.

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the Ist and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA LAHORE APRIL 18 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda,* which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature ....The arrangement is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyuyi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works.....The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karn Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves .....Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest .....

N.B.—The printing and paper are good, the price is moderate.